

C. No. 1370

R673,5x1,1
15D3

R673,5æ1,1 1370

15D3

Shrikantha Shivchar-
ya

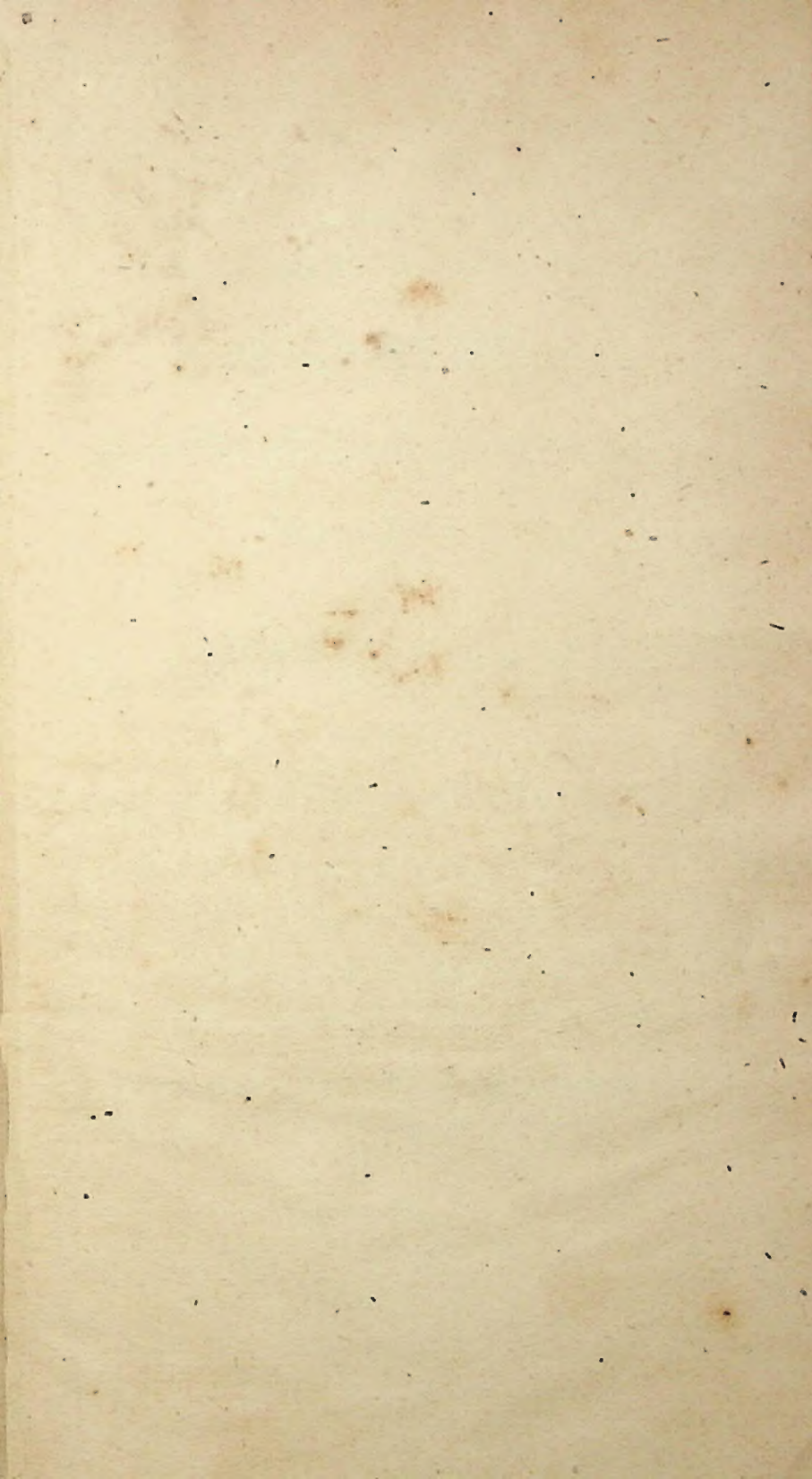
Brahma-mimansa.

1370

• • • • •

[illegible]





वि. प्र. वीरभद्र शर्मणः
Government Oriental Library Series.

*Edited by Pandits under the supervision of the Curator,
Government Oriental Library, Mysore.*

BIBLIOTHECA SANSKRITA—No. 30.

ब्रह्म मीमांसा.

श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचितभाष्यसमेता.

श्रीविरचित-
THE

BRAHMA-MĪMĀMSĀ

WITH

ŚRĪKANTHA-SIVĀCHĀRYA'S COMMENTARY.

—♦♦♦—
EDITED BY

L. S'RĪNIVĀSĀCHĀRYA,

Assistant Pandit, Government Oriental Library, Mysore.

~~~~~  
Published under the Authority of the Government of  
His Highness the Maharaja of Mysore.  
~~~~~

MYSORE:

PRINTED AT THE GOVERNMENT BRANCH PRESS.

1903.

Price Rs. 2.

R673.5x1,1

15D3

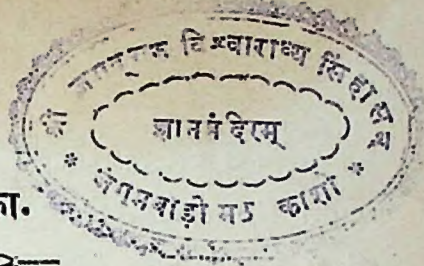
~~1593~~

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY.

Jangamwadi Math. VARANASI,

Acc: No.

1370



भूमिका.

—१००—

श्रीमता श्रीकण्ठशिवाचार्येण प्रणीतं ब्रह्ममीमांसाभाष्याख्यं ब्रह्मसूत्रभाष्यं शैवविशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रकाशकं शिवपारम्यप्रतिपादकं श्रुतिस्मृतिशैवागमोप-
बृंहितं चास्तीति विदितमेव विदुषां सर्वेषाम् । इदं च भाष्यं शैवागमानां
प्रामाण्यमभिदधत् तान्त्रिकसिद्धान्तमनुसरतित्यवगम्यते.

एतद्भाष्यप्रणेता प्राक्तनभाष्यकारवचनं किञ्चित् कचिदपि नोदाहरति
नापि प्राक्तनं कंचित्सिद्धान्तं पूर्वपक्षयति खण्डयति वा, अपि तु आदौ—

“व्याससूत्रमिदं नेत्रं विदुषां ब्रह्मसिद्धये ।

पूर्वाचार्यैः कलुषितं श्रीकण्ठेन प्रसाद्यते ॥”

इति सामान्येन पूर्वाचार्यभाष्याणामस्त्वारस्यं सूचयति. अयं पुनः श्रीकण्ठ-
शिवाचार्यः श्वेताचार्यशिष्य इति भाष्यस्यायन्तयोः लिखिताभ्यां पद्याभ्याम-
वधार्यते. कोऽयं श्वेताचार्य इत्यत्र प्रमापकं न किञ्चिदुपलभ्यते. एतेन च
भाष्यकारेण विषयवाक्यदीपिकानामकः कश्चन प्रबन्धः विरचित इति
केचिदाहुः. स च नास्माभिरुपलभ्यते.

माधवीये शङ्करविजये पञ्चदशसर्गैः—नीलकण्ठनामा ब्रह्मसूत्रभाष्यकर्ता
श्रीमच्छङ्कराचार्येण विवदमानः पराजितः स्वभाष्यं परित्यज्य शरणं गत इति
विज्ञायते । सोऽयं नीलकण्ठः एतद्भाष्यकर्ता श्रीकण्ठश्चैक एवेति कोचित् ।
तर्ह्ययं श्रीकण्ठः श्रीमच्छङ्कराचार्यसमसमयस्स्यात् ॥

अस्य च भाष्यस्य मुद्रणसमये सहायभूताः कोशाः—

१. श्रीब्रह्मतन्त्रपरकालमठस्थः कागदमयः शुद्धः कोशः.

२. लैब्रेरिस्थः कागदमयः कोशः. (C. 292) असमग्रः.

३. „ तालपत्रमयः. (167).

४. काश्यां पण्डितपत्रे मुद्रितः कोशः.

अस्य च भाष्यस्य श्रीमदप्पयदीक्षितविरचिता शिवार्कमणिदीपिकाख्या
 व्याख्या त्रिंशत्सहस्रग्रन्थसम्मिता अतिविस्तृता उपलभ्यते, नापरा काचित्.
 इयं च व्याख्या अस्य भाष्यस्य सुदृगणरामये बहुसाहाय्यमकरोत्.

ल. श्रीनिवासाचार्यः.



ब्रह्ममीमांसाध्यायपादविषयसूचीपत्रम्.

प्रथमाध्याये निखिलवेदान्तवाक्यानां तदनुगुणस्मृतीनां
च तात्पर्येण ब्रह्मणि समन्वयः प्रतिपाद्यते.

प्रथमपादे	स्पष्टलिङ्गवाक्यविचारः.
द्वितीयपादे	अनतिस्पष्टलिङ्गवाक्यविचारः.
तृतीयपादे	स्पष्टास्पष्टलिङ्गवाक्यविचारः.
चतुर्थपादे	अस्पष्टलिङ्गवाक्यविचारः.

द्वितीयाध्याये प्रथमाध्यायोक्तसमन्वयस्य वेदान्तवाक्य-
विरुद्धस्मृतितर्कादिभिः विरोधः परिह्रियते.

प्रथमपादे.	सांख्यादितर्कविरोधमाशङ्क्य स्वपक्षसाधनम्.
द्वितीयपादे	तर्कावलम्बेन सांख्यादिपरपक्षदूषणम्.
तृतीयपादे.	भूतसृष्ट्यवान्तरविरोधपरिहारपूर्वकं जीवनि- त्यत्वादिधर्मनिरूपणम्.
चतुर्थपादे.	प्राणेन्द्रियादीनां स्वरूपं ब्रह्मणस्सकाशात् तेषा- मुत्पत्तिः सर्वेषां नामरूपव्याकरणं च.

तृतीयाध्याये उपासकोपास्योपासनाभेदाश्रमधर्मादयो विचार्यन्ते.

प्रथमपादे.	नित्यत्वादियुक्तस्य जीवस्य गत्यागतिनिरूपणम्.
द्वितीयपादे.	तदवस्थानिरूपणपूर्वकं ईश्वरस्य स्वरूप- लक्षणम्.
तृतीयपादे.	तदुपासनाविशेषाणां गुणोपसंहारः.
चतुर्थपादे.	विद्यासहकार्याश्रमधर्मादिनिरूपणम्.

चतुर्थाध्याये उपासकस्य परब्रह्मप्राप्तिरूपफलं निरूप्यते.

प्रथमपादे.	उपासनाप्रकारः.
द्वितीयपादे.	जीवस्योपासकस्योत्क्रान्तिदशा,
तृतीयपादे.	अर्चिरादिगतिः.
चतुर्थपादे.	ब्रह्मप्राप्तानां स्वरूपाविर्भावादिप्रकारः.

ब्रह्ममीमांसाधिकरणविषयसूचीपत्रम्.

प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे—

अधिकरणाङ्कः.	सूत्राङ्कः.	पुटाङ्कः.
1. ब्रह्ममीमांसायाः समारम्भणीयत्वम् ...	१.	१.
2. उद्दिष्टस्य ब्रह्मणो लक्षणम्	२.	८.
3. ब्रह्मणः जगत्कारणस्य शास्त्रैकप्रमाण- कत्वम्. ब्रह्मणः वेदकर्तृत्वं च ..	३.	१४.
4. वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मबोधकत्वम् ..	४.	१८.
५. प्रधानस्य जगत्कारणत्वनिराकरणम् ..	५-१२.	२५.
6. आनन्दमयस्य परमेश्वरत्वसाधनेन जीवस्य जगत्कारणत्वनिराकरणम्.	१३-१६.	३०.
7. जीवसमाष्टिरूपस्य हिरण्यगर्भस्य जग- त्कारणत्वनिराकरणम् ..	१७-२०.	३४.
8. आदित्यान्तर्वर्तिहिरण्मयपुरुषस्य परमेश्वरत्वव्यवस्थापनम् ..	२१-२२.	३८.
9. आकाशशब्दस्य परमेश्वरप्रतिपा- दकत्वम् ..	२३.	४२.
10. प्राणशब्दस्य „ „ ..	२४.	४२.
11. ज्योतिश्शब्दस्य „ „ ..	२५-२८.	४३.
12. प्राणशब्दसमानाधिकरणेन्द्रशब्दस्य ..	२९-३२.	४५.

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे—

1. मनोमयत्वादिधर्मकत्वेन श्रूयमाणस्य
पुरुषस्य परमेश्वरत्वोपपादनम् .. १-२. ४८.
2. विश्वपतित्वादिलक्षणयुक्ततया श्रूय-
माणस्यापि परमेश्वरत्वोपपादनम् ३-८. ५३.

अधिकरणाङ्कः.

सूत्राङ्कः.

पुटाङ्कः.

- | | | | |
|----|--|-----------|-----|
| 3. | निखिलचिदचित्प्रपञ्चात्तृतीया श्रूयमा-
णोऽपि परमेश्वरः | .. ९-१०. | ५८. |
| 4. | गुहागतत्वेन श्रूयमाणौ जीवपरमे-
श्वरौ. | .. ११-१२. | ६२. |
| 5. | अमृतत्वादिलक्षणः अक्ष्यन्तःश्रूयमाणः
पुरुषः परमेश्वरः... | .. १३-१७. | ६४. |
| 6. | अङ्गुष्ठमात्रत्वादिविशिष्टः परमे-
श्वरः. | .. १८. | ६६. |
| 7. | पृथिव्याद्यखिलवस्त्वन्तर्यामितया
श्रूयमाणः पुरुषः परमेश्वर एव | .. १९-२१. | ६७ |
| 8. | अदृश्यत्वाक्षरत्वादिगुणकत्वेन श्रूय-
माणः परमेश्वरः... | .. २२-२४. | ६९. |
| 9. | उपास्यमानतयोक्तो वैश्वानरशब्द-
वाच्यः परमेश्वरः | .. २५-३३. | ७१. |

प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादे—

- | | | | |
|----|---|-----------|------|
| 1. | बुभ्रवाद्याधारतया श्रूयमाणः परमेश्वरः.. | १-६. | ७४. |
| 2. | भूमशब्दानिर्दिष्टः परमेश्वरः | .. ७-८. | ७७. |
| 3. | अक्षरशब्दवाच्यः परमेश्वरः | .. ९-११. | ७९. |
| 4. | ईक्षतिकर्मत्वेन श्रूयमाणः परमेश्वरः | .. १२ | ८१.. |
| 5. | दहरशब्दवाच्यः परमेश्वरः | .. १३-२२. | ८२. |
| 6. | अङ्गुष्ठमात्रतया श्रूयमाणः पुरुषः प-
रमेश्वरः | .. २३-२४. | ८७ |
| 7. | परमेश्वरौपासने मनुष्याणामिव दे-
वानामप्यधिकारः.. | .. २५-३२. | ८९. |
| 8. | नास्ति शूद्राणां ब्रह्मविद्याधिकारः | .. ३३-३९. | ९५. |

अधिकरणाङ्कः.

सूत्राङ्कः. पुटाङ्कः.

9. परमेश्वर एव सकलजगत्कम्पनहेतुः... ४०. ९८.
10. मुक्तप्राप्यं परं ज्योतिः परमशिवा-
भिधानं परं ब्रह्म ... ४१. ९९.
11. परमेश्वर एव आकाशशब्देन ना-
मरूपनिर्वाढां श्रूयते ... ४२-४३. १००.

प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे—

1. महतः परत्वेनोच्यमानं अव्यक्तश-
ब्दवाच्यं शरीरमेव ... १-७. १०२.
2. सर्वप्रपञ्चकारणत्वेन जन्मरहितत्वा-
दजेति श्रूयमाणा प्रकृतिः परमे-
श्वरकारणिकैव ... ८-१०. १०५.
3. पञ्चपञ्चेति पञ्चविंशतिसंख्योपसंग्र-
हादपि न तान्त्रिकाणि तत्त्वानि
अपि तु श्रुतिप्रसिद्धानि ... ११-१५. १०८.
4. कर्मशब्दस्य जगद्वाचित्वात्
जगत्कार्यवान् परमेश्वर एव ... १६-१८. ११०.
5. 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादौ
द्रष्टव्यत्वादिना विधीयमान आ-
त्मा परमेश्वर एव ... १९-२२. ११२.
6. जगतो निमित्तमुपादानं च ब्रह्मैव... २३-२८. ११४.
7. पुरुषसूक्तशतरुद्रीयादीनां स्मृती-
तिहासपुराणादीनां च तात्पर्य-
लिङ्गसमन्वयेन परब्रह्मबोधक-
त्वम् ... २९. ११९.

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे—

अधिकरणाङ्कः.

सूत्राङ्कः.

पुटाङ्कः.

1. वैदिकसमन्वयस्य साङ्ख्यस्मृत्या
संकोचो नास्तीति प्रतिपाद्यते .. १-२. १२२.
2. तथा योगस्मृत्याऽपि श्रुतिसमन्वयस्य
संकोचाभावः .. ३. १२३.
3. तर्कोऽपि श्रुतिसमन्वयस्य न बाधकः ४-७. १२४.
4. सत्कार्यवादेन कार्यकारणयोः जगद्ब्रह्म-
णोः वस्त्वेकत्वे समन्वयस्य तर्क-
बाध्यत्वं नास्ति .. ८-१२. १२५.
5. कणभक्षाक्षपादादीनां पक्षा अपरि-
ग्राह्याः ... १३. १२७.
6. विशिष्टशिवाद्वैतस्य समन्वयसिद्ध-
स्य श्रुतिबाधापत्तिः नास्ति .. १४. १२७.
7. कार्यकारणयोः जगद्ब्रह्मणोः समन्वय-
सिद्धमनन्यत्वं युक्तमेव .. १५-२०. १२८.
8. पूर्वाधिकरणार्थस्याक्षेपपरिहारौ .. २१-२३. १३२.
9. तस्य परमेश्वरस्यैकस्यैव विचित्रज-
गत्कारणत्वं युक्तम् .. २४-२५. १३५.
10. ब्रह्मणो जगदाकारेण परिणामः पू-
र्वोक्तो युक्त एव .. २६-३१. १३६.
11. अवाप्तसमस्तकामस्यापि परमेश्वर-
स्य जगत्सृष्ट्यादिव्यापारः ली-
लया संभवत्येव .. ३२-३३. १३८.
12. परिपूर्णतया रागद्वेषविहीनस्यापि
ब्रह्मणः विषमसृष्टौ कर्मसापेक्ष-
त्वात् वैषम्यनैर्घृण्याभावः .. ३४-३६. १३९.

द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादे—

अधिकरणाङ्कः,

सूत्राङ्कः पुटः

- | | | | |
|---|-----|-----------|------|
| 1. सांख्यानां प्रधानकारणवादः अयुक्त इति व्यवस्थाप्यते | .. | १-९. | १४२. |
| 2. वैशेषिकाणां परमाणुकारणवादः निराक्रियते | ... | .. १०-१६. | १४३. |
| 3. बौद्धानां बाह्यार्थास्तित्ववादिनां सिद्धान्तसिद्धः समुदायकारणवादो निरस्यते | .. | .. १७-२४. | १४४. |
| 4. ज्ञानानुमेयत्ववादिनो बौद्धाः निराक्रियन्ते | ... | .. २५-२६. | १४५. |
| 5. केवलविज्ञानवादिनो बौद्धाः निराक्रियन्ते | ... | .. २७-२९. | १४६. |
| 6. सर्वशून्यवादिनां बौद्धानां सिद्धान्तः निराक्रियते | .. | .. ३०. | १४७. |
| 7. जैनमतनिरासः | .. | .. ३१-३४. | १४८. |
| 8. केवलनिमित्तत्ववादिनां पशुपतिसमयानभिज्ञानामेकदेशितान्त्रिकाणां मतं निरस्यते | .. | .. ३५-३८. | १४९. |
| 9. पञ्चरात्रशास्त्रं जीवोत्पत्त्याद्यभिधायकत्वेन वासुदेवोक्तमप्यप्रमाणम् | .. | .. ३९-४२. | १५०. |

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादे—

- | | | | |
|---|----|-------|------|
| 1. आकाशस्य उत्पत्तिस्संभवति | .. | १-७. | १५१. |
| 2. आकाशाद्वायोरप्युत्पत्तिस्संभवति | .. | ८. | १५२. |
| 3. सर्वकारणस्य ब्रह्मणः न कुतश्चिदुत्पत्तिः | .. | .. ९. | १५३. |

अधिकरणाङ्कः.

सूत्राङ्कः.

पुटाङ्कः.

- | | | | |
|-----|--|-----------|------|
| 4. | पूर्वपूर्वकारणाकाशादिविशिष्टादेव
ब्रह्मणः वाय्वादिकार्योत्पत्तिः न
तु केवलाकाशादेः | .. १०-१४. | १६२. |
| 5. | पूर्वाधिकरणोक्तसृष्टिक्रमविषये आ-
क्षेपपरिहारौ | .. १५-१६. | १६५. |
| 6. | चराचरवस्तुवाचकनिखिलशब्दानां
ब्रह्मणि मुख्यवृत्तिव्यवस्थापनम् | .. १७. | १६६. |
| 7. | आकाशादिवत् जीवानामुत्पत्तिर्नास्ति. | १८. | १६८. |
| 8. | नित्यतया सिद्धस्य जीवस्य स्वा-
भाविकं ज्ञानमस्ति | .. १९. | १६९. |
| 9. | ज्ञातृत्वेन सिद्धस्य जीवस्याणत्व-
मवगम्यते | .. २०-२२. | १७०. |
| 10. | जीवस्य कर्तृत्वं व्यवस्थाप्यते | .. २३-२९. | १७४. |
| 11. | जीवस्य पूर्वाधिकरणनिरूपितं कर्तृ-
त्वं परमेश्वरायत्तम् | .. ४०-४१. | १७६. |
| 12. | एवं निरूपितो जीवात्मा परमेश्वर-
स्यांशभूतः न तु परमेश्वर एव | .. ४२-५२. | १७७. |

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थपादे—

- | | | | |
|----|--|-----------|------|
| 1. | इन्द्रियाण्यप्युत्पद्यन्त एव ब्रह्मणः | ... १-३. | १८१. |
| 2. | न सत्तैवेन्द्रियाणि किन्त्वेकादशः | ... ४-५. | १८२. |
| 3. | तानीन्द्रियाण्यणूनि न विभूनि | ... ६. | १८३. |
| 4. | पञ्चवृत्त्यात्मा प्राणवायुरपि ब्रह्मण
उत्पद्यते | ... ७-११. | १८३. |
| 5. | पञ्चवृत्तिरयं प्राणवायुरिन्द्रियवद-
णुरेव | .. १२. | १८५. |

अधिकरणाङ्कः.

सूत्राङ्कः. पृष्ठाङ्कः.

- | | | |
|---|------------|------|
| 6. परमेश्वरायत्तमिन्द्रियाद्यधिष्ठानमा-
दित्यादीनाम् ... | .. १३-१४. | १८६. |
| 7. मुख्यप्राणादन्यान्येवेन्द्रियाणि | .. १५-१६. | १८७. |
| 8. संज्ञामूर्तिह्रस्विस्तस्मादेव मूलकार-
णात्परब्रह्मणः .. | ... १७-१९. | १८८. |

तृतीयाध्यायस्य प्रथमपादे—

- | | | |
|---|------------|------|
| 1. जीवो देहान्तरं प्राप्तये भूतसूक्ष्मैः प-
रिष्वक्तो याति ... | ... १-७. | १९१. |
| 2. स्वर्गात् सुकृतक्षये पुनरिमं लोकम-
वरोहन् जीवः सकर्मशेष एवा-
गच्छति ... | ... ८-११. | १९५. |
| 3. इष्टापूर्ताद्यकुर्वतां चन्द्रगमनं नास्ति
किन्तु यमसदने कर्मफलमनुभूय
प्रत्यवरोहणम् .. | .. १२-२१. | १९७. |
| 4. स्वर्गादवरोहतो जीवस्य नाकाशा-
दिरूपतापत्तिः किं तु तत्साद-
र्यापत्तिः .. | ... २२. | २००. |
| 5. ब्रीह्यादिप्राप्तेः प्रागाकाशादिषु नांति-
चिरं तिष्ठति जीवः .. | .. २३. | २०१. |
| 6. अन्यजीवाधिष्ठिते ब्रीह्यादौ जीवस्य
संश्लेषमात्रं, न जन्म | ... २४-२७. | २०१. |

तृतीयाध्यायस्य द्वितीयपादे—

- | | | |
|--|------|------|
| 1. स्वप्ने अनुभूयमानं रथादिकमर्थजा-
तं परमेश्वरसृष्टं न जीवसृष्टम् .. | १-६. | २०३. |
|--|------|------|

अधिकरणाङ्कः.

सूत्राङ्कः. पुटाङ्कः.

2. जीवस्य सुषुप्तौ नाडीषु पुरीतति-
ब्रह्मणि च शयनमवगम्यते तेषु
अस्य समुच्चयः न विकल्पः .. ७८. २०५.
3. सुषुप्त एव जीवः प्रतिबुद्ध्यते नान्यः.. ९. २०७.
4. भूर्छा नामावस्था जागरस्वप्नसुषु-
प्तिभ्यो भिन्ना मरणार्थसंपत्तिः .. १०. २०८.
5. सर्वावस्थासु सर्वान्तर्यामितया स्थि-
तिमतोऽपि परमेश्वरस्य न क-
श्चिदोषकलङ्कप्रसङ्गः .. ११-२०. २०८.
6. पूर्वाधिकरणसिद्धस्य ब्रह्मणः उभय-
लिङ्गत्वस्य न केनचिद्बाधः .. २१-२९. २१४.
7. परस्माद् ब्रह्मणः परं किञ्चिदपि
वस्त्वन्तरं नास्ति .. ३०-३४. २१९.
8. परस्य ब्रह्मणः शिवस्य सदृशमपि
वस्तु नास्ति .. ३५-३६. २२१.
9. सर्वेश्वरतया प्रतिपादितस्य पर-
ब्रह्मण एव सर्वानुष्ठातृणां अनु-
ष्ठानफलदातृत्वम् .. ३७-४०. २२५.

तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे—

1. सर्वेषु वेदान्तेषु विधीयमानं दह-
राद्युपासनं शास्त्राभेदेऽप्यभिन्ने-
मेव .. १-४. २२८.
2. विद्यैक्ये सति शाखान्तरसिद्धानां
गुणानां शाखान्तरे उपसंहारः
कर्तव्य एव .. ५. २३०.

3. वाजिनां छन्दोगानां च विधीयमानमुद्गीथे प्राणदृष्ट्योपासनं प्रकरणमेदात् मित्रमेव .. ६-८. २३१.
4. 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इत्यत्र प्रणवविषयकमेवोपासनं न तु प्रणवोद्गीथयोस्तन्त्रमुपासनम् .. ९. २३३.
5. वाजिच्छन्दोगयोः प्राणविद्यायां विहितं वसिष्ठत्वादिकं कौपीताकिप्राणविद्यायामप्युपसंहार्यम् .. १०. २३३.
6. आनन्दादयो गुणाः गुणिनः ब्रह्मण एकत्वात् सर्वासु परविद्यासूपसंहार्याः .. ११. २३४.
7. प्रियशिरस्त्वादीनां ब्रह्मगुणत्वाभावात् आनन्दादिवत् न परविद्यासूपसंहारः .. १२-१३. २३५.
8. आनन्दमयात्मानुसन्धानवत् अन्नमयादीनामप्यनुसन्धानं न नियतम् .. १४-१७. २३६.
9. अत्रापूवं प्राणवासंस्त्वानुसन्धानमेव विधेयं नाद्यमनमपि ह्युत्तिप्राप्तत्वात् .. १८. २३८.
10. अग्निरहस्ये बृहदारण्यके च अधीयमाना शाण्डिल्यविद्या एकैव .. १९. २३८.
11. बृहदारण्यके आदित्यमण्डले अक्षिणि च विधीयमानं ब्रह्मोपासनं नैकं, अतस्तत्र श्रूयमाणे रहस्यनामनी अपि नियते .. २०-२१. २३९.

अधिक(णाङ्कः).

सूत्राङ्कः. पुटाङ्कः.

12. छान्दोग्ये तैत्तिरीये चाग्रातः म-
ण्डलं विद्या स्थानैक्यादभिज्ञा .. २२. २४०.
13. अनारभ्याधीतानां संभृतिव्युत्था-
प्यादीनां सामर्थ्यात् अल्पस्थान-
व्यतिरिक्तास्तु सर्वास्तु विद्यासू-
पसंहारः .. २३. २४१.
14. छान्दोग्ये तैत्तिरीये चाग्राता पुरु-
षविद्या फलभेदादवयवभेदाच्च
नैका .. २४. २४२.
15. तैत्तिरीयोपनिषदारम्भे श्रूयमाणौ
'शं नः' इत्यादिकौ मन्त्रौ अ-
ध्ययनशेषभूतौ न विद्याङ्गभूतौ .. २५. २४३.
16. विदुषः ब्रह्मप्राप्नुवतः पुण्यपापयोः
केवलं हानं केवलमुपायनं च क-
चित्कचिच्छ्रूयमाणमपि उपायन-
शब्दस्य हानिवाक्यशेषत्वात् उ-
भयत्रोभयं समुच्चयेनोपसंहार्यम् .. २६. २४३.
17. पूर्वोक्तं पुण्यपापविमोचनं देहवि-
योगकाले विरजानद्यातिक्रमण-
काले च प्रयोजनवत्त्वाच्चिन्तनी-
यम् .. २७-३०. २४५.
18. अधिकारिपुरुषाणां देहपातादूर्ध्व-
मपि प्रारब्धकर्मसमाप्तिपर्यन्तं फ-
लान्तरानुभव एव ततश्च मुक्ति-
रिति न तत्त्वविदां पाक्षिकी मो-
क्षप्राप्तिः .. ३१. २४६.

अधिकरणाङ्कः.

सूत्राङ्कः.

पुटाङ्कः.

19. उपकोसलावुपासनासु श्रुताऽप्यर्चि-
रादिनतिः सर्वास्वप्युपासनासु
भवति .. ३२. २४८.
20. अक्षरसंबन्धिनीनां निषेधाधियां स-
र्वासु परविद्यासूपसंहारो युक्तः . ३३-३४. २४९.
21. बृहदारण्यके उपस्तिकहोलप्रश्नयो-
रैकरूप्याद्विषयीभूतः परमेश्वर
एव .. ३५-३६. २५०.
22. छान्दोग्ये सद्धिद्यायां प्रश्नप्रतिव
चनभेददर्शनेऽपि वस्त्वैक्यान्न
विद्याभेदः .. ३७. २५१.
23. छान्दोग्ये तैत्तिरीये वाजिशाखा-
यां कैवल्योपनिषदि च श्रूयमा-
णा दहरविद्या हृदयपुण्डरीका-
यतनादिभ्यो हेतुभ्यः अभिन्नैव .. ३८. २५२.
24. नीलकण्ठत्वोमासहितत्वादीनां पर-
ब्रह्मणः श्रूयमाणानां धर्माणां स्व-
रूपधर्मत्वात् प्रियशिरस्त्वादीना-
मिव लोपः कदाचिन्न संभवति .. ३९. २५४.
25. पूर्वोक्तं सविशेषमेव ब्रह्मस्वरूपं
मुक्तप्राप्यं, न निर्विशेषम् .. ४०. २५६.
26. उद्गीथादिकर्माङ्गावबद्धा उपास्तयः
गोदोहनादिवत् कर्मसु अनियताः .. ४१. २५८.
27. एतस्यैव परब्रह्मणः स्वरूपभेदाभा-
वेऽपि गुणाविशेषणभेदेन भेदात्
पृथक्पृथक् तदुपासनप्रयोगः इ-
न्द्रप्रदानवत् संभवति .. ४२. २५९.

अधिकरणाङ्कः.

सूत्राङ्कः.

पुटाङ्कः.

28. सर्वास्वपि परविद्यासूपास्यं लिङ्ग-
भूयस्त्वात् उमासहितं परमेव
ब्रह्म .. ४३. २६०.
29. अग्निरहस्यब्राह्मणे श्रूयमाणाः मन-
श्चित्तवाक्चित्तादयः सांपादिका-
ग्रयः विद्यामयकत्वङ्गभूताः. न तु
क्रियामयकत्वङ्गभूताः .. ४४-५०. २६२.
30. परविद्यासु त्रिलोचनत्वादिलक्षण-
परमेश्वरस्वरूपानुसन्धाने वि-
रोधः परिह्रियते .. ५१-५२ २६५.
31. कासुचिच्छाखासु श्रुताः उपास-
नाङ्गावबद्धाः भस्मोद्धूलनादयः
सर्वासु शास्त्रासु सर्वैरप्युपासकैः
कार्या इति .. ५३-५४. २६६.
32. वैश्वानरविद्यायां समस्तोपासन-
मेव मुख्यम् .. ५५. २६७.
33. अनन्तश्रुतिबोध्यानामनन्तानां वि-
द्यानामेकीकृत्यानुष्ठानायोगात्
स्वरूपैक्येऽपि ब्रह्मणो गुणभेदा-
द्विद्याभेदः .. ५६. २६८.
34. एकस्मिन्नुपासके सर्वासां परवि-
द्यानां निरतिशयब्रह्मानन्दानुभ-
वरूपफलस्याविशिष्टत्वात् वि-
कल्प एव .. ५७. २६९.
35. काम्यानां विद्यानां भोगभूयस्त्वा-
पेक्षया समुच्चय एव .. ५८. २६९.

अधिकरणाङ्कः.

सूत्राङ्कः. पुट्याङ्कः.

36. उद्गीथाद्यज्ञाववद्धानामुपासनानां न
 क्रत्वङ्गभावः, अपितु स्वातन्त्र्यम् ५९-६४. २७०.

तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादे.—

1. विद्यात एव पुरुषार्थ इति वाद-
 रायणमतम् १-१७. २७२.
2. गृहस्थाश्रमादिवत् आश्रमान्तरम-
 प्यनुष्ठेयमिति भगवतो वादरा-
 यणस्य मतम् १८-२०. २७७.
3. उद्गीथादिषु रसतमत्वादिद्वष्टिः वि-
 धीयत एव अपूर्वत्वात् न स्तु-
 तिमात्रम् २१-२२. २७९.
4. वेदान्तेषु विद्यारम्भे आम्नाता आ-
 ख्यायिका विद्यास्तुत्यर्थाः, न
 पाणिष्ठावार्थाः २३-२४. २७९.
5. विद्यावतां अन्त्याश्रमिणां विद्याङ्ग-
 त्वेन आधानादिकं नानुष्ठेयम् .. २५. २८१.
6. विद्यावतां गृहस्थाश्रमिणां तु अ-
 ग्निहोत्रादिकं सर्वं विद्याङ्गत्वेन
 अनुष्ठेयमेव २६. २८१.
7. गृहस्थो विहितकर्मव्यापृतोपि नि-
 षिद्धकाम्यादिकर्मसु व्यापारर-
 हितः शमदमाद्युपेतस्स्यात् .. २७. २८२.
8. प्राणविद्यानिष्ठस्यापि सर्वान्मानुम-
 तिर्न सर्वदा, किंतु प्राणात्यय
 एव २८-३१. २८४.

अधिकरणाङ्कः.

सूत्राङ्कः.

पुटाङ्कः.

9. विद्याहीनेन विद्यावता च यज्ञादि-
कं विद्यायास्साधनत्वेन अङ्गत्वे-
न च ॥ विहितमपि सकृदेवानु-
ष्ठेयं न द्विरिति... .. ३२-३५. २८५.
10. अनाश्रमिणामपि विद्या संभवत्येव
रैकवादिषु विद्यादर्शनात् .. ३६-३९. २८७.
11. नैष्ठिकादीनां स्वाश्रमात्प्रच्युतानां
न विद्याधिकारः .. ४०-४३. २८८.
12. उद्गीथाद्युपासनं ऋत्विजामेवानुष्ठेयं
तेषां साङ्गकर्मानुष्ठानाय यजमा-
नेन क्रीतत्वात् .. ४४-४५. २९०.
13. विद्यावतो यज्ञादिवत् पाण्डित्य-
वालययोस्तृतीयं सहकार्यन्तरं
मौनं विधीयत एव .. ४६. २९०.
14. सर्वेषामाश्रमाणां विद्या साधार-
णी गृहेणा उपसंहारस्तु स-
र्वेषां प्रदर्शनार्थः .. ४७. २९१.
15. अथर्वशिरसि श्रुते पुराणेषु प्राप्ति-
द्धे पाशुपतव्रते निष्ठानां विद्या
शुक्तिश्च संभवत्येव .. ४८-४९. २९२.
16. प्रबलकर्मन्तरप्रतिबन्धाभावे परो-
पासनफलमिह जन्मनि भवति
तत्सङ्गावे तु जन्मान्तरे .. ५०. २९३.
17. कर्मफलस्यैव ज्ञानोपासनफलस्य
न सातिशयत्वानियमः ब्रह्मस्व-
रूपावस्थाया एव फलत्वावद्धृतेः .. ५१. २९४.

अधिकरणाङ्कः.

सूत्राङ्कः. पृष्ठाङ्कः.

चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादेः—

1. वेदान्तेषु मोक्षसाधनतया विहितं
वेदनमसकृदावर्तनीयम् .. १-२. २९६.
2. उपासकादुपास्यस्यार्थान्तरत्वेऽपि
उपासिता अहं ब्रह्मास्मीत्येवो-
पासीत .. ३. २९७.
3. प्रतीकेनात्मग्रहणमुपासकानां, न हि
तत्र परमेश्वरस्साक्षादुपास्यः .. ४. २९८.
4. प्रतीकोपासने मनआदिप्रतीके ब्र-
ह्मदृष्टिरुपासकेन कर्तव्या .. ५. २९९.
5. कर्माङ्गोपासनेषु आदेत्यादिपूङ्गव-
दृष्टिः कर्तव्या .. ६. ३०१.
6. आसीन एव ब्रह्मोपासीत तस्यैवै-
काग्रचसंभवात् .. ७-१०. ३०२.
7. उपासने नास्ति दिगादिनियमः के-
काग्रये दिगाद्यनपेक्षणात् .. ११. ३०४.
8. आप्रायणात् उपासना अहरहःका-
र्या न कदाचिदपि तदुपसंहारः .. १२. ३०५.
9. क्षीयते पापं कर्मोपासकानां, यतः
उपासने प्रारब्धे तत्सामर्थ्या-
देव पूर्वाघनाशः उत्तराघाश्ले-
षश्च भवति .. १३. ३०६.
10. विदुषः पुण्यस्यापि मोक्षविरोधि-
त्वेनानिष्टफलत्वसाम्यादश्लेष-
विनाशौ .. १४. ३०७.

अधिकरणाङ्कः.

सूत्राङ्कः. पुटाङ्कः.

11. विद्याधिकृतेः पूर्वं कृते पुण्यपापे
अनारब्धकार्ये एव विनश्यतः
आरब्धकार्ये तु भोगेनैव नश्यतः... १५. ३०७.
12. अभिहोत्राद्यनुष्ठानमपि यावच्छरी-
रपातमनुवर्तते... ... १६-१८. ३०८.
13. विद्यावतामधिकारपदे स्थितानां
प्रारब्धकर्मभोगानन्तरं मुक्तिरेव
फलं, न जन्मपरंपरा ... १९. ३११.

चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयपादे—

1. पुरुषस्योत्क्रान्तिसमये वाक् प्रथमं
मनसि संपद्यते ततस्सर्वाणी-
न्द्रियाणि मनसि संपद्यन्ते .. १-२. ३११.
2. पूर्ववत् मनसोऽपि प्राणे वृत्तिलय एव ३. ३१२.
3. स प्राणस्ततो जीवेनाध्यक्षेण संयुज्यते,
न तस्य तेजसि लयः .. ४-६. ३१३.
4. अर्चिरादिमार्गोपक्रमात्प्राक् विद्वद्-
विदुषोः समानैवेयमुत्क्रान्तिः .. ७. ३१४.
5. देहादुत्क्रान्तस्य विदुषः अर्चिरादि-
गतिरुपपद्यते ८-१३. ३१५.
6. भूतान्तरसंसृष्टस्य जीवयुक्तस्य ते-
जसः परस्यां देवतायां श्रूयमा-
णो लयः अविभागापत्तिमात्रं,
न स्वरूपलयः १४-१५. ३१७.
7. विद्वद्विदुषोः अर्चिरादिगत्युपक्रम-
पर्यन्तमुत्क्रान्तेरसाम्येऽपि विद्वान्

आधिकरणाङ्कः.

सूत्राङ्कः. पुराङ्कः.

मूर्धन्यनाड्या निष्क्रामति अवि-
द्वानितरया कयाचिन्नाड्या ..

१६. ३१८.

8. उत्क्रान्तो विद्वान् निशि दिवा च
रश्मिसंवन्धादेवोर्ध्वं गच्छति ..

१७. ३२१.

चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादे—

1. विद्वान् अर्चिरादिनैव ब्रह्म प्राप्नोति ..

१. ३२४.

2. छान्दोग्यश्रुतार्चिरादिक्रमस्य मध्ये
श्रुत्यन्तरसिद्धः संवत्सरादूर्ध्वं
आदित्यात्पूर्वं वायुर्निवेशनीयः ..

२. ३२४.

3. कौषीतक्युपनिषदि श्रूयमाणाः व-
रुणादयोऽपि विशुलोकादूर्ध्वं य-
थाक्रमं संनिवेश्याः ..

३. ३२५.

4. अर्चिरादयो मार्गाभिमानिनः विदु-
षां गमयितारो देवताविशेषा एव ..

४-५. ३२६.

5. अमानवः पुरुषः परब्रह्मोपासीनात्
साक्षात् ब्रह्मैव गमयति, न तु
हिरण्यगर्भं, न वा नारायणम् ..

६-१५. ३२७.

चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादे—

1. ब्रह्म प्राप्तस्य जीवस्य मलतिरो-
हितं ब्रह्मसदृशगुणं स्वरूपं पूर्वं
सदेव मलावरणापगमादाविर्भ-
वति ..

१-३. ३३२.

2. मुक्तस्य ब्रह्मसादृश्यमुपपद्यते ..

४. ३३४.

अधिकरणाङ्कः.

सूत्राङ्कः. पुटाङ्कः.

- | | | | | |
|----|---|----|--------|------|
| 3. | मुक्तस्वरूपं स्वयंप्रकाशं अपहृत-
पाप्मत्वादिविशिष्टं च | .. | ५-७. | ३३५. |
| 4. | मुक्तस्य संकल्पमात्रेण सकलभो-
ग्यवस्तुसिद्धिरस्ति | .. | ८-९. | ३३६. |
| 5. | मुक्तस्य स्वेच्छया सशरीरत्वं अ-
शरीरत्वं च | .. | १०-१४. | ३३७. |
| 6. | मुक्तस्य स्वशक्तितरोधायकमला-
पाये स्वशक्त्या विश्वव्याप्तिस्सं-
भवति | .. | १५-१६. | ३४१. |
| 7. | मुक्तस्य परमेश्वरसाम्यं जगद्व्या-
पारवर्जमेव | .. | १७-२१. | ३४४. |
| 8. | साक्षात्कृतब्रह्मज्योतिषां तत्पदानुप्र-
विष्टानां मुक्तानां न पुनरावृत्ति-
त्संसारे | .. | २२. | ३४८. |





ब्रह्मसूत्राणां वर्णक्रमेण सूचिनी.

	अ.	पा.	सू.
अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत			
एके	२ ३	४२
अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति...	...	२ ४	१०
अक्षरधियां लवरोधस्तामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्	...	३ ३	३३
अक्षरमम्बरान्तधृतेः	१ ३	९
आग्निहोत्रादि तु तत्कार्माथैव तद्दर्शनात्	४ १	१६
अमयादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात्	३ १	४
अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिबद्धम्	...	३ ३	५३
अङ्गित्वानुपपत्तेश्च	२ २	६
अङ्गेषु यथाश्रयभावः	३ ३	५९
अचलत्वं चापेक्ष्य	४ १	९
अणवश्च	२ ४	६
अणुश्च	२ ४	१२
अत एव च नित्यत्वम्	१ ३	२८
अत एव च स ब्रह्म	१ २	१६
अत एव च सर्वाण्यनु...	...	४ २	३
अत एव चाग्नीन्धनायनपेक्षा	३ ४	२५
अत एव चानन्याभिपतिः	४ ४	९
अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्	३ २	१८
अत एव न देवता भूतं च	१ २	१८
अत एव प्राणः	१ १	२४
अतः प्रबोधोऽस्मात्	३ ३	८
अतश्चायनेऽपि दक्षिणे	४ २	१९

			अ.	पा.	सू.
अतस्त्वितरज्जयायो लिङ्गाच्च	३	४	३९
अतिदेशाश्च	३	३	४५
अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम्	३	२	२५
अतोऽन्याऽपि ह्येकेषामुभयोः	४	१	१७
अत्ता चराचरग्रहणात्	१	२	९
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा	१	१	१
अदृश्यत्वादिगुणाको धर्मोक्तेः	१	२	२२
अदृष्टानियमात्	२	३	५०
अधिकं तु भेदनिर्देशात्	२	१	२२
अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः	२	३	१३
अधिकोपदेशात् तु वादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्	३	४	८
अधिष्ठानानुपपत्तेश्च	२	२	३६
अध्ययनमात्रवतः	३	४	१२
अनभिभवं च दर्शयति	३	४	३५
अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः	१	२	१८
अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः	४	१	१५
अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्	३	४	४९
अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिशब्दात्	४	४	२२
अनियमस्सर्वेषामविरोधशब्दानुमानाभ्याम्	३	३	३२
अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्	३	१	१२
अनुकृतेस्तस्य च	१	३	२१
अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्जघोतिरादिवत्	२	३	४७
अनुपपत्तेस्तु न शरीरः	१	२	३
अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्वदृष्टश्च तदुक्तम्	३	३	४८
अनुष्ठेयं वादरायणस्साम्यश्रुतेः	३	४	१९
अनुस्मृतेरिति वादीरः	१	२	३१
अनुस्मृतेश्च	२	२	२४
अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः	३	२	३६

	अ.	पा.	सु
अन्तर उपपत्तेः
अन्तरा चापि तु तदृष्टेः
अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नो- पदेशवत्
अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्
अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्
अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा
अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्
अन्यथावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः
अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्
अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्
अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञाशक्तिवियोगात्
अन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्भोक्षप्रसङ्गः
अन्यभावव्यावृत्तेश्च
अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात्
अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपिचैवमेके
अन्यार्थश्च परामर्शः
अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात्
अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा...
अपि च सप्त
अपि च स्मर्यते
अपि च स्मर्यते
अपि च स्मर्यते
अपि च स्मर्यते
अपि चैवमेके
अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्
अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम्

	अ.	पा.	
अप्रतीकालम्बनान्नयतीति वादरायण उभयथा च दोषा-			
तत्कतुश्च	४	३	१४
अवाधाच्च	३	४	२१
अभावं वादरिराह ह्येवम्	४	४	१०
अभिष्योपदेशाच्च	१	४	२४
अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्	२	१	१
अभिव्यक्तोरित्याश्मरय्यः	१	२	३०
अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम्	२	३	११
अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्	२	२	८
अम्बुवदग्रहणात् न तथालम्	३	२	११
अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्	३	२	११
अर्चिरादिना तत्प्रथितेः	४	३	१
अर्भकौकस्तत्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाप्यत्वादेवं			
व्योमवच्च	१	२	४
अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम्	१	३	२०
अवस्थितिवैधोष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्बुद्धिं हि	२	३	२१
अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः	१	४	२१
अविभागेन दृष्टत्वात्	४	४	१
अविभागो वचनात्	४	२	१४
अविरोधश्चन्दनवत्	२	३	२१
अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्	३	१	२१
अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः	२	१	२१
अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः	३	१	१
असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा	२	२	२१
असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्	२	१	१
असद्व्यपदेशाच्चेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषाद्युक्तेः शब्दा-			
न्तराच्च	२	१	१४
असन्ततेश्चाव्यतिरेकः	२	३	१४

			अ.	पा.	सू.
असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः	२	३	९
असार्वात्रिको	३	४	१०
अस्ति तु	२	३	२
अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति	१	१	२०
अस्यैव चोपपत्तेरुष्मा	४	२	११
आकाशस्तल्लिङ्गात्	१	१	२३
आकाशे चाविशेषात्	२	२	२३
आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्	१	३	४२
आचारदर्शनात्	३	४	३
आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्	४	३	४
आत्मकृतेः	१	४	२६
आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्	३	३	१६
आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि	२	१	२८
आत्मशब्दाच्च	३	३	१५
आत्मा प्रकरणात्	४	४	३
आत्मेति तृपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च	४	१	३
आदरादलोपः	३	३	३९
आदित्यादिसतयश्चाङ्ग उपपत्तेः	४	१	६
आध्यानाय प्रयोजनाभावात्	३	३	१४
आनन्दमयोऽभ्यासात्	१	१	१३
आनन्दादयः प्रधानस्य	३	३	११
आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात्	३	१	१०
आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शारीररूपकविन्यस्तगृहीते-					
दर्शयति च	१	४	१
आपः	२	३	११
आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्	४	१	१२
आभास एव च	२	३	४९
आमनन्ति चैनमस्मिन्	१	२	३३
आर्त्तिज्यमित्यौदुलोमिस्तस्यै हि परिक्रियते...	३	४	४५

			अ.	पा.	सू.
आवृत्तिसकृदुपदेशात्	४	१	१
आसीनस्सम्भवात्	४	१	७
आह च तन्मात्रम्	३	२	१६
इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात्	१	३	१७
इतरव्यपदेशाद्विताकरणादिदोषप्रसक्तिः	२	१	२१
इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु	४	१	१४
इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न सङ्गतभावानिमित्तत्वात्	२	२	१८
इतरे त्वर्यसामान्यात्	३	३	१३
इतरेषां चानुपलब्धेः	२	१	२
इयदामनगात्	३	३	३४
ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः	१	३	१३
ईक्षतेर्नाशब्दम्	१	१	५
उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्योऽङुलोमिः	१	४	२१
उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्	२	३	२०
उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्	१	३	३१
उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु	१	३	१८
उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्	२	२	११
उत्पत्त्यसम्भवात्	२	२	३१
उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः	२	२	२१
उपदेशभेदाच्चेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्	१	१	२८
उपपत्तेश्च	३	२	३४
उपपन्नस्तादृक्षणाथोपलब्धेलोकवत्	३	३	२१
उपपूर्वमपीत्येके भावमशनवत्तदुक्तम्	३	४	४१
उपमर्दं च	३	४	११
उपलब्धिवदनिवृत्तिः	२	३	३१
उपसंहारदर्शनाच्चेति चेन्न क्षीरवद्धि	२	१	२४
उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च	३	३	१
उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्	३	३	४०

			अ.	पा.	सू.
उपादानाद्विहारोपदेशाच्च	२	३	३४
उभयथा च दोषात्	२	२	१५
उभयथा च दोषात्	२	२	२२
उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः	२	२	११
उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्	३	२	२६
उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते	१	२	२१
ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि	३	४	१७
एक आत्मनश्शरीरे भावात्	३	३	५१
एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः	२	३	८
एतेन योगः प्रत्युक्तः	२	१	३
एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः	२	१	१३
एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः	१	४	२९
एवं चात्माऽकात्स्न्यम्	२	२	३२
एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः	३	४	५१
एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं वादरायणः	४	४	७
ऐहिकमप्रस्तुतप्रतियन्धे तद्दर्शनात्	३	४	५०
कम्पनात्	१	३	४०
करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः	२	२	३७
कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्	२	३	३३
कर्मकर्तृव्यपदेशात्	१	२	४
कल्पनोपदेशाच्च मन्वादिबदविरोधः	१	४	१०
कामकारेण चैके	३	४	१५
कामाच्च नानुमानापेक्षा	१	१	१९
कामादयस्तत्र तत्र चायतनादिभ्यः	३	३	३८
काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेलभावात्	३	३	५८
कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः...	१	४	१४
कार्यं वादरिस्य गत्युपपत्तेः	४	३	६
कार्याख्यानादपूर्वम्	३	३	१८
कार्यालये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्	४	३	९

			अ.	पा.	सू.
आवृत्तिरसकृदुपदेशात्	४	१	१
आसीनस्सम्भवात्	४	१	७
आह च तन्मात्रम्	३	२	१६
इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात्	१	३	१७
इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः	२	१	२१
इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु	४	१	१४
इतरेतरप्रलयत्वादुपपन्नमिति चेन्न सङ्घातभावानिमित्तत्वात्	२	२	१८
इतरे त्वर्यसामान्यात्	३	३	१३
इतरेषां चानुपलब्धेः	२	१	२
इयदामननात्	३	३	३४
ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः	१	३	१२
ईक्षतेर्नाशब्दम्	१	१	५
उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्योऽङुलोमिः	१	४	२१
उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्	२	३	२०
उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्	१	३	३१
उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु	१	३	१८
उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्	२	२	१९
उत्पत्त्यसम्भवात्	२	२	३९
उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः	२	२	२६
उपदेशभेदाच्चेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्	१	१	२८
उपपत्तेश्च	३	२	३४
उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धैर्लोकवत्	३	३	२९
उपपूर्वमपीत्येके भावमशनवत्तदुक्तम्	३	४	४२
उपमदं च	३	४	१६
उपलब्धिवदनिचयः	२	३	३६
उपसंहारदर्शनाच्चेति चेन्न क्षीरवद्धि	२	१	२४
उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विशेषवत्समाने च	३	३	५
उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्	३	३	४०

			अ.	पा.	सू.
उपादानाद्विहारोपदेशाच्च	२	३	३४
उभयथा च दोषात्	२	२	१५
उभयथा च दोषात्	२	२	२२
उभयथाऽपि न कर्मास्तदभावः	२	२	११
उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्	३	२	२६
उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते	१	२	२१
ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि	३	४	१७
एक आत्मनश्शरीरे भावात्	३	३	५१
एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः	२	३	८
एतेन योगः प्रत्युक्तः	२	१	३
एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः	२	१	१३
एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः	१	४	२९
एवं चात्माऽकात्स्न्यम्	२	२	३३
एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः	३	४	५१
एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं वादरायणः	४	४	७
ऐहिकमप्रस्तुतप्रतियन्धे तद्दर्शनात्	३	४	५०
कम्पनात्	१	३	४०
करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः	२	२	३७
कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्	२	३	३३
कर्मकर्तृव्यपदेशात्	१	२	४
कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः	१	४	१०
कामकारेण चैके	३	४	१५
कामाच्च नानुमानापेक्षा	१	१	१९
कामादयस्तत्र तत्र चायतनादिभ्यः	३	३	३८
काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात्	३	३	५८
कारणत्वेन चाकाशादिषु यथान्यपादिष्टोक्तेः	१	४	१४
कार्यं वादरिरस्य गत्युपपत्तेः	४	३	६
कार्याख्यानादपूर्वम्	३	३	१८
कार्यालये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्	४	३	९

	अ.	पा.	सू.
कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैद्यर्थादिभ्यः	...	२	३ ४१
कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च	...	३	१ ८
कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा	...	२	१ २६
कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः	...	३	४ ४७
क्षत्रियत्वादगतेश्च	...	१	३ ३४
गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च	...	१	३ १४
गतिसामान्यात्	...	१	१ ११
गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः	...	३	३ ३०
गुणसाधारण्यश्रुतेश्च	...	३	३ ६२
गुणाद्वा लोकवत्	...	२	३ २६
गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्	...	१	२ ११
गौणश्चेन्नात्मशब्दात्	...	१	१ ६
गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्च	...	२	३ ३
गौण्यसम्भवात् तत्प्राक् श्रुतेश्च	...	२	४ ३
चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः	...	२	४ ९
चमसवदार्विशेषात्	...	१	४ ८
चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः	...	३	१ ९
चराचरव्यपाश्र्वस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्	...	२	३ १७
चित्तितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोभिः	...	४	४ ६
छन्दत उभयाविरोधात्	...	३	३ २८
छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम्	...	१	१ २६
जगद्वाचितात्	...	१	४ १६
जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च	...	४	४ १७
जन्माद्यस्य यतः	...	१	१ १
जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम्	...	१	४ १७
जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्	...	१	१ ३३

	अ.	पा.	सु.
ज्ञेयत्वावचनाच्च ...	१	४	४
ज्ञोऽत एव ...	२	३	१९
ज्योतिराद्याधिष्ठानं तु तदामननात्प्राणवता शब्दात् ...	२	४	१३
ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके ...	१	४	९
ज्योतिर्दर्शनात् ...	१	३	४१
ज्योतिश्चरणाभिधानात् ..	१	१	२५
ज्योतिपि भावाच्च ...	१	३	३१
ज्योतिर्पैकेषामसत्यन्ने ...	१	४	१३
त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्त श्रेष्ठात् ...	२	४	१५
तच्छ्रुतेः ...	३	४	४
तटितोऽधि वरुणस्सम्बन्धात् ...	४	३	३
तत्तु समन्वयात् ..	१	१	४
तत्पूर्वकलाद्वाचः ...	२	४	३
तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ...	३	१	१६
तत्स्याभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ..	३	१	२२
तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ...	३	४	२४
तथाऽन्यप्रतिषेधात् ..	३	२	३५
तथा प्राणाः ...	२	४	१
तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ..	४	१	१३
तदधीनत्वादर्थवत् ...	१	४	३
तदनन्यत्वभारम्भणशब्दादिभ्यः ..	२	१	१५
तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिव्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ..	३	१	१
तदभावनिर्यारेण च प्रवृत्तेः ...	१	३	३७
तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ...	३	२	७
तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ...	२	३	१४
तदव्यक्तमाह हि ...	३	२	२२
तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ..	४	२	८
तदुपर्यपि वादरायणस्सम्भवात् ...	१	३	२५

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्य-

अ.	पा.	सू.
नुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतशताधिक्या	...	४ २ १६
तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्	...	२ ३ २९
तद्वेतुव्यपदेशाच्च	...	१ १ १५
तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात् तद्रूपाभावेभ्यः	३ ४ ४०	
तद्वतो विधानात्	...	३ ४ ६
तन्निर्धारणानियमस्तद्वृष्टेः पृथग्व्यप्रतिबन्धः फलम्	...	३ ३ ४१
तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्	...	१ १ ७
तन्मनः प्राण उत्तरात्	...	४ २ ३
तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः	...	४ ४ १३
तर्काप्रतिष्ठानात्	...	२ १ ११
तस्य च नित्यत्वात्	...	२ ४ १४
तानि परे तथा ह्याह	...	४ २ १४
तुल्यं तु दर्शनम्	...	३ ४ ९
तृतीयशब्दावरोधस्संशोकजस्य	...	३ १ २१
तेजोऽतस्तथा ह्याह	...	३ ३ १०
त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च	...	१ ४ ६
त्रयात्मकत्वात् भूयस्त्वात्	...	३ १ २
दर्शनाच्च	...	३ १ २०
दर्शनाच्च	...	३ ३ ६४
दर्शनाच्च	...	४ ३ ११
दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने	...	४ ४ २०
दर्शयति च	...	३ ३ ४
दर्शयति च	...	३ ३ २१
दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते	...	३ २ १७
दहर उत्तरेभ्यः	...	१ ३ १३
दृश्यते तु	...	२ १ ६
देवादिवदपि लोके	...	२ १ २५

	अ.	पा.	सू.
देहयोगाद्वा सोऽपि	३	२	५
द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्	१	३	१
द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः	४	४	१२
धर्मं जैमिनिरत एव	३	२	३९
धर्मोपपत्तेश्च	१	३	८
धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धे:	१	३	१५
ध्यानाच्च	४	१	८
न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च	२	१	३५
न च कर्तुः करणम्	२	२	४०
न च कार्ये प्रत्याभिसन्धिः	४	३	१३
न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः	२	२	३३
न च स्मार्तमतद्वर्माभिलापात् शारीरश्च	१	२	२०
न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात्	३	४	४१
न तु दृष्टान्तभावात्	२	१	९
न तृतीये तथोपलब्धे:	३	१	१८
न प्रतीके न हि सः	४	१	४
न प्रयोजनवत्त्वात्	२	१	३२
न भावोऽनुपलब्धे:	२	२	२९
न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्	१	१	३०
न वा तत्सहभावाश्रुते:	३	३	६३
न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत्	३	३	७
न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्	२	४	८
न वा विशेषात्	३	३	२१
न वियदश्रुते:	२	३	१
न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्	२	१	४
न सङ्ख्योपसङ्गहादपि नानाभावादतिरेकाच्च	१	४	११
न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः	३	३	४९
न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि	३	३	११

			अ.	पा.	
नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्	२	३	२३
नातिचिरेण विशेषात्	३	१	२३
नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः	२	३	१८
नानाशब्दादिभेदात्	३	३	१९
नानुमानमतच्छब्दात् प्राणभृच्च	१	३	२
नाभाव उपलब्धेः	२	२	२०
नाविशेषात्	३	४	१३
नासतोऽदृष्टत्वात्	२	२	२५
नित्यमेव च भावात्	२	२	१३
नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा	२	२	२२
नियमात्	३	४	७
निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च	३	२	२
निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाददर्शयति च...	४	२	१८
नेतरोऽनुपपत्तेः	१	१	१३
नैकस्मिन् दर्शयतो हि	४	२	१
नैकस्मिन्नसम्भवात्	२	२	३१
नोपमर्देनातः	४	२	१०
पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते...	२	४	११
पटवच्च	२	१	१५
पत्यादिशब्देभ्यः	१	३	४४
पत्युरसामञ्जस्यात्	२	२	३५
पयोऽभ्युवचेत् तत्रापि	२	२	२
परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्	४	३	११
परमतस्सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः	३	२	३०
परात् तच्छ्रुतेः	२	३	४०
परामिध्यनात् तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययो	३	२	४
परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि	३	४	१८
परिणामात्	१	४	२३

	अ.	पा.	सू.
परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः	...	३	३
पारिप्रवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात्	...	३	४
पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्	...	२	३
पुरुषविद्यायामपि चेतरेपामनाम्नात्	...	३	३
पुरुषार्थोऽतश्शब्दादिति वादरायणः	...	३	४
पुरुषाश्मवदिति चेत् तथाऽपि	...	२	२
पूर्वं तु वादरायणो हेतुव्यपदेशात्	...	३	२
पूर्ववद्वा	...	३	२
पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रियामानसवत्	...	३	३
पृथगुपदेशात्	...	२	३
पृथिवी	...	२	३
प्रकरणाच्च	...	१	२
प्रकरणात्	...	१	३
प्रकाशवचावैयर्थ्यात्	...	३	२
प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्	...	२	३
प्रकाशादिवचावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्	...	३	०
प्रकाशादिवत्तु नैवं परः	...	२	३
प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्	...	३	२
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादष्टान्तानुपरोधात्	...	१	४
प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधाति ततो प्रवीति च भूयः	...	३	२
प्रतिज्ञाविरोधात्	...	१	१
प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमादमरथ्यः	...	१	४
प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात्	...	२	३
प्रतिषेधाच्च	...	३	२
प्रतिषेधादिति चेन्न शरीरात्स्पष्टे ह्येकेषाम्	...	४	२
प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्	...	२	२
प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः	...	४	४
प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः	...	३	१
प्रदानवदेव तदुक्तम्	...	३	३

			अ.	पा.	सं.
प्रदीपवदवेशस्तथा हि दर्शयति	४	४	१०
प्राप्तेद्धेत्थ	१	३	१३
प्राणगतेश्च	३	१	३
प्राणस्तथाऽनुगमात्	१	१	३
प्राणादयो वाक्यशेषात्	१	४	१३
प्रियेशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे..	३	३	१३
फलमत उपपत्तेः	३	२	३
यहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेरान्तराच्च	३	४	१३
बुद्ध्यर्थः पादवत्	३	३	३
ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्	४	१	३
ब्राह्मेण जैमिनिरुच्यन्यासादिभ्यः	४	४	३
भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति	३	१	३
भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्	४	४	१
भावं तु वादरायणोऽस्ति हि	१	३	३
भावशब्दाच्च	३	४	३
भावे चोपलब्धेः	२	१	३
भावे जाग्रद्वत्	४	४	१
भूतादिपादव्यपदेशोऽपत्तेर्भावम्	१	१	३
भूतेषु तच्छ्रुतेः	४	२	३
भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्	१	३	३
भूतः क्रतुवजयायस्त्वं तथा हि दर्शयति	३	३	३
भेदव्यपदेशाच्च	१	१	३
भेदव्यपदेशाच्चान्यः	१	१	३
भेदव्यपदेशात्	१	३	३
भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च	२	४	३
भेदादिति चेदेकस्यामपि	३	३	३
भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्	३	३	३
भोक्तापत्तेरविभागश्चेत्स्थाल्लोकवत्	२	१	३

	अ.	पा.	सू.
भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ...	४	४	२१
भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते ...	४	१	१९
मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ...	१	३	३०
मन्त्रवर्णात् ..	२	३	४३
मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ..	३	३	५४
महर्द्दार्घवद्वा ऋत्वपरिमण्डलाभ्याम् ...	२	२	१०
महद्वच्च ..	१	४	७
मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ...	२	४	१८
मान्त्रवर्णकमेव च गीयते ...	१	१	१६
मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ...	३	२	३
मुक्तः प्रतिज्ञानात् ..	४	४	२
मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च ..	१	३	२
मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ...	३	२	१०
मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ..	३	४	४८
यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ...	४	१	११
यथा च तक्षोभयथा ..	२	३	३९
यथा च प्राणादिः ..	२	१	२०
यदेव विद्ययेति हि ..	४	१	१८
यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ...	३	३	३१
यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ...	२	३	३०
यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ...	२	३	७
योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते ...	४	२	२०
योनिश्च हि गीयते ..	१	४	२८
योनेश्शरीरम् ..	३	१	२७
रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च ...	२	२	१
रदम्यनुसारी ..	४	२	१७
रूपादिमत्त्वाच्च त्रिपर्ययो दर्शनात् ...	२	२	१४
रूपोपन्यासाच्च ..	१	२	२४

	अ.	पा.	सू.
रेतस्सिग्योगोऽथ ...	३	१	२६
लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि वलीयस्तदपि ...	३	३	४३
लिङ्गाच्च ...	४	१	२
लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ...	२	१	३३
वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ...	१	४	५
वाक्यान्वयात् ...	१	४	१९
वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ...	४	२	१
वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ...	४	३	२
विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ...	२	१	३१
विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ...	३	३	५७
विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ...	१	१	१४
विकारावति च तथा हि स्थितिमाह ...	४	४	१९
विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ...	६	२	४१
विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ...	३	१	१७
विद्यैव तु निर्धारणादर्शनाच्च ...	३	३	४६
विधिर्वा धारणवत् ...	३	४	२०
विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ...	२	३	१५
विप्रतिषेधाच्च ...	२	२	४२
विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ...	२	२	९
विभागश्शतवत् ...	३	४	११
विरोधः कर्मणोति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ...	१	३	२३
विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ...	१	२	२
विशेषं च दर्शयति ...	४	३	१५
विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ...	१	२	२३
विशेषणाच्च ...	१	२	१२
विशेषानुग्रहश्च ...	३	४	३६
विशेषितत्वाच्च ...	४	३	७
विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ...	३	४	३२
वृद्धिहासभावत्वमन्तर्मावाद्बुभयसामञ्जस्यादेवंदर्शनाच्च ...	३	२	२०

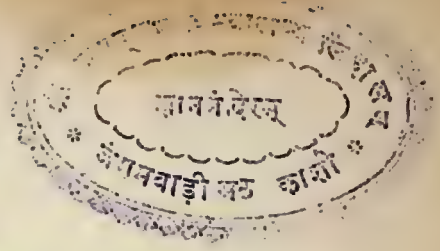
	अ.	पा.	सू.
वैधाद्यर्थभेदात्	३	३	२५
वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः	४	३	५
वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्	२	२	२८
वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वाद्	२	४	१९
वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात्	१	२	२५
वैपम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति	२	१	३४
व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत्	३	३	५२
व्यतिरेकानवस्थितेश्वानपेक्षत्वात्	२	२	३
व्यतिरेको गन्धवत्तथा हि दर्शयति	२	३	२७
व्यतिहारो विंशतिपन्ति हीतरवत्	३	३	३६
व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः	२	३	३५
व्याप्तेश्च समञ्जसम्	३	३	९
शक्तिविपर्ययात्	२	३	३७
शब्द इति चेन्नातःप्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्	१	३	२७
शब्दविशेषात्	१	२	५
शब्दश्चातोऽकामकारे	३	४	३१
शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदे- शादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते	१	२	२७
शब्दादेव प्रमितः	१	३	२३
शब्देभ्यः	२	३	६
शमदमाद्युपेतस्स्यात्तथाऽपि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामप्य- वद्यानुष्ठेयत्वात्	३	४	२७
शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्	१	१	३१
शास्त्रयोनित्वात्	१	१	३
शिष्टेश्च	३	३	६०
शुक्लस्य सदानादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि	१	३	३३
शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः	३	४	२
श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्	१	३	३८
श्रुतत्वाच्च	१	१	१२

	अ.	पा.	पृ.
श्रुतत्वाच्च ...	३	२	३८
श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ...	२	१	२७
श्रुतोपनिषत्कगल्यभिधानाच्च ...	१	२	१७
श्रुत्यादिवर्तीयस्त्वाच्च न बाधः ...	३	३	४७
श्रेष्ठश्च ...	२	४	७
संज्ञातश्चेत् तदुक्तमस्ति तु तदपि ...	३	३	८
संज्ञामूर्तिवत्त्वमिस्तु त्रिवृत्कुर्वन्त उपदेशात् ...	२	४	१७
संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्वतिदर्शनात् ...	३	१	११
संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलाषाच्च ...	१	३	३६
स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ...	३	२	१
सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ...	४	४	८
सत्त्वाच्चापरस्य ...	२	१	१७
सन्ध्ये सृष्टिराह हि ...	३	२	१
सप्तगतोर्विशेषितत्वाच्च ...	२	४	४
समन्वारम्भणात् ...	३	४	१
समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ...	२	२	१३
समाकर्षात् ...	१	४	१५
समाध्यभावाच्च ...	२	३	३८
समान एवं चाभेदात् ...	३	३	१९
समाननामरूपात्ताच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ...	१	३	२९
समाना चास्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ...	४	२	७
समाहारात् ...	३	३	६१
समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ...	२	२	१७
सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ...	१	२	३९
सम्पत्त्याविर्भावस्त्वेन शब्दात् ...	४	४	१
सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ...	३	३	२७
सम्भृतिद्यव्याप्तयपि चातः ...	३	३	२३
सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ...	१	३	८
सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ...	१	२	१

	अ	पा.	सू.
सर्वथाऽनुपपत्तेश्च	२ २ ३०
सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात्	२ ४ ३४
सर्वधर्मोपपत्तेश्च	२ १ ३६
सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्	३ ३ १
सर्वानुमतिश्च प्राणालये तद्दर्शनात्	३ ४ २८
सर्वोपेक्षा च यज्ञादिश्रुतेश्च वत्	३ ४ २६
सर्वोपेक्षा च तद्दर्शनात्	३ ३ १०
सर्वोपेक्षा च तद्दर्शनात्	२ १ ३०
सहकारित्वेन च	३ ४ ३३
सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्	३ ४ ४६
साक्षाच्चोभयाम्नात्	१ ४ २५
साक्षादप्याविरोधं जैमिनिः	१ २ २९
सा च प्रशासनात्	१ ३ १०
सामान्यात् तु	३ २ ३१
सामाप्यात् तु तद्व्यपदेशः	४ ३ ८
साम्पराये तर्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये	३ ३ २७
सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः	३ १ ११
सुखविशिष्टाभिधानादेव च	१ २ १५
सुषुप्तयुक्तान्त्योर्भेदेन	१ ३ ४३
सूक्ष्मं तु तदहंत्वात्	१ ४ २
सूक्ष्मं प्रमणतश्च तथोपलब्धेः	४ २ ९
सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः	३ २ ६
सैव हि सत्यादयः	३ ३ ३७
सोऽध्यक्षेण तदुपगमादिभ्यः	४ ७ ४
स्तुतयेऽनुमतिर्वा	३ ४ १४
स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात्	३ ४ २१
स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत्	३ २ ३३
स्थानादिव्यपदेशाच्च	१ २ १४
स्थित्यदनाभ्यां च	१ ३ ६

	अ.	पा.	पृ.
स्मरन्ति च	२	३	११
स्मरन्ति च	३	१	११
स्मरन्ति च	४	१	११
स्मर्यते च	४	२	११
स्मर्यतेऽपि च लोके	३	१	११
स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति	१	१	११
स्मृतेश्च	१	३	११
स्मृतेश्च	१	३	११
स्मृतेश्च	४	३	११
स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोष			
प्रसङ्गात्	२	१	११
स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्	२	३	११
त्वपक्षदोषाच्च	२	१	११
स्वपक्षदोषाच्च	२	१	११
स्वशब्दोन्मानाभ्यां च	२	३	११
स्वात्मना चोत्तरयोः	२	३	११
स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च			
तन्नियमः	३	३	११
स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि	४	४	११
स्वाप्ययात्	१	१	११
स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः	३	४	११
हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम्	२	४	११
हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्त-			
दुक्तम्	३	३	११
ह्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्	१	३	११
ह्येत्वावचनाच्च	१	१	११
१ १ १			
१ १ १			
१ १ १			

श्रीः



ब्रह्म मीमांसा

श्रीकण्ठभाष्यसहिता.

ओं नमोऽहंपदार्थाय लोकानां सिद्धिहेतवे ।

सच्चिदानन्दरूपाय शिवाय परमात्मने ॥ १ ॥

निजशक्तिभित्तिनिर्मितनिखिलजगज्जालचित्रनिकुलम्बः ।

जयति शिवः परमात्मा सकलागमसारसर्वस्वम् ॥ २ ॥

भवतु स भवतां सिद्धयै परमात्मा सर्वमङ्गलोपेतः ।

चिदचिन्मयः प्रपञ्चः शेषोऽशेषोऽपि यस्यैषः ॥ ३ ॥

नमश्श्वेताभिधानाय नानागमविधायिने ।

कैवल्यकल्पतरवे कल्याणगुरवे नमः ॥ ४ ॥

श्रीमतां व्याससूत्राणां श्रीकण्ठीयः प्रकाशते ।

मधुरो भाष्यसन्दर्भो महार्थो नातिविस्तरः ॥ ५ ॥

व्याससूत्रमिदं नेत्रं विदुषां ब्रह्मदर्शने ।

पूर्वाचार्यैः कलुषितं श्रीकण्ठेन प्रसाद्यते ॥ ६ ॥

सर्ववेदान्तसारस्य सौरभास्वादमोदिनाम् ।

आर्याणां शिवनिष्ठानां भाष्यमेतन्महानिधिः ॥ ७ ॥

इहैपनिषदी मीमांसा समारभ्यते । तदारम्भोत्र किंपुरुषार्थः ?

पुरुषार्थो हि निरुपाधिकप्रेमविद्वेषास्पदयोः सुखदुःखयोः प्राप्तिरित्य॥

न्तनिवृत्तिर्वा । कश्चेहाधिकारी ? यस्यार्थित्वादयो गुणाः । किमस्य
विषयः ? यत् प्रसिद्धमनतिप्रसिद्धं च सन्देहदोलासमारुहं वर्तते ।
कस्यानन्तरमस्यारम्भः ? यस्य नियतप्रयोजकतया पूर्वभावित्वमस्य
गम्यते । इति श्रोतृजनमनश्शङ्काशूकसमुन्मूलनाय सर्वज्ञशिखा-
णिना भगवता व्यासेन समवतारितमिदं सूत्रम्—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

इदमेकमधिकरणम् । विषयसंशयपूर्वपक्षसिद्धान्तनिर्णयसं-
तीनामाधारत्वमिहाधिकरणत्वम् । अत्राथशब्दोयमानन्तर्यार्थः
न तु 'अथ योगानुशासनम्'* इत्यादाविवाधिकारार्थः । अ-
कारो हि प्रारम्भः । न खलु ब्रह्मज्ञानेच्छा कर्तव्यत्वेन प्रार-
योग्या भवति । सा किल विषयरामणीयकतामात्रसंभाव्या ।

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।

कण्ठं मित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकाद्युभौ ॥

इति स्मृतेरयमथशब्दो न मङ्गलार्थो वर्णनीयः ; जिज्ञासा
मङ्गलस्यान्वयासम्भवात् । शास्त्रारम्भे शिष्टाचारपरिपालनार्थं मा-
लाचरणं तु वर्णध्वनिमात्रेण कल्प्यते । न चायं पक्षान्तरार्थः
ग्रहार्थः ; पूर्वमेकस्यानुक्ततया तत्प्रसङ्गाभावात् । न वा भो-
नगमनादिवदनियतं यत्किञ्चित्पूर्ववृत्तमपेक्ष्य अयमथशब्दप्रयोगो
नियतसामग्रीभूतस्य कस्य चिदत्र विवक्षितत्वात् । यस्य संपत्ति-
रिहाधिकारिविशेषणतया ब्रह्मविचारस्य साधनं तत्पूर्वमवधि-
विज्ञायते । अथाष्टवर्षत्वादियुक्तब्राह्मणाद्युपयुक्तोपनयनसंस्कार-
वर्कस्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'† इति स्वविधिप्रयुक्ततया नित्य-
तस्य नियमोपासिताचार्यमुखलब्धाक्षरग्रहणरूपस्य अर्थज्ञानपर-

स्य वेदाध्ययनस्य ब्रह्मविचारात्पूर्वभावित्वं युक्तम्, धर्मवद्ब्रह्म-
णोपि वेदैकसिद्धत्वात् अनधीतवेदस्य तद्विचारानुपपत्तेः; अतः
केवलाध्ययनानन्तरं ब्रह्मविचारः इति चेत्—भवतु नाम तादृश-
मध्ययनं; तदनन्तरं तु धर्मविचारः, तस्य तदसिद्धौ सिद्धयभा-
वात् । तथा चाचार्यैः प्रतिपादितम् ‘अथातो धर्मजिज्ञासा’* इति
प्रथमतः उपाध्यायादध्ययनानन्तरं धर्मविचारप्राप्तिरिति विचार
उच्यते । तर्हि किमनन्तरमस्यारम्भः? धर्मविचारानन्तरम् ।
न वयं धर्मब्रह्मविचाररूपयोः शास्त्रयोरत्यन्तभेदवादिनः, किंत्वे-
कत्ववादिनः । धर्मब्रह्मणोराधनाराध्यभूतयोः प्रतिपादकं ‘अथा-
तो धर्मजिज्ञासा’† इत्यारभ्य ‘अनावृत्तिश्शब्दात्’‡ इत्येतावत्प-
र्यन्तमेकं शास्त्रम् । तत्र ‘अथातदशेषलक्षणम्’§ इत्यादिवदवा-
न्तरपरिच्छेदार्थेयं ‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’ इत्यारम्भः ॥

अथवा—धर्मस्य ब्रह्मबोधहेतुत्वात् तद्विचारोपयुक्तानां श्रुति-
लिङ्गादीनां वेदचोदनार्थवादस्मृत्यादिप्रमाणप्रतिपादनादीनां च
ब्रह्मविचारोपयुक्तत्वाच्च धर्मविचारानन्तरं ब्रह्मविचारः; साधनं
विना साध्यानिष्पत्तेः । ब्रह्मबोधं प्रति धर्मस्य साधनत्वे ‘तमेतं वे-
दानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाश-
केन’¶ इत्यादिश्रुतिरेव भगवती प्रमाणम् । न च कर्मणो ब्रह्मबो-
धसाधनत्वे तदेव विचार्यमनुष्ठेयं च, किमनेन वेदान्तवाक्यवि-
चारप्रयासेनेति वाच्यम्; तस्य फलाभिसन्धिरहितस्य पापापनय-
नरूपचित्तशुद्धिसंपादनद्वारा बोधहेतुत्वात् । तथाऽभियुक्तस्मृतिः
‘यस्यैते चत्वारिंशत्संस्काराः’ इत्यादिना ‘स ब्रह्मणः सायु-
ज्यं सालोक्यं च गच्छति’** इत्यन्तेन गर्भाधानादिसकलकर्मणां
पापमलापकर्पसंस्कारहेतुतां प्रकाशयति ॥

*पू. मी. १-१-१.

†पू. मी. १-१-१.

‡उ. मी. ४-४-२२.

§पू. मी. ३-१-१.

¶वृ. उ. ४-४-२२.

**गौ. घ. ८-२४, २५.

अथ ब्रीहिप्रोक्षणवत् सर्वकर्मणां संस्कारकत्वे 'सर्वे फलं पुण्यलोका भवन्ति'* इति श्रुत्युक्त्याश्रमफलस्वातन्त्र्यं न स्यादिति चेत्—न, पुण्यलोकफलाभिसन्धिपूर्वककर्मणां स्वातन्त्र्येर्षा तदभिसन्धिरहितेन पुंसा अनुष्ठितकर्मणां चित्तशुद्ध्यादिसंस्कारजनकत्वोपपत्तेः । तथा च तस्य पुंसो यदेव ज्ञानफलं तदेव कर्मफलं च । यथा ब्रीहिप्रोक्षणं दर्शपूर्णमासोत्पत्त्यपूर्वहेतुतया स्वोपमुच्चीयते तथा कर्माणि ज्ञानप्रयोजकतया मोक्षे समुच्चीयन्ते । अतो गुणकर्मत्वादङ्गत्वमेतेषाम् ॥

ननु नित्यविधिप्राप्तस्य ज्योतिष्टोमादेः इतिकर्तव्यतात्वविरोधात् न संस्कारतासिद्धिरिति चेत्—न, करणतया स्वतन्त्रविषयान्तरविहितस्य सौत्रामणिवृहस्पतिसवादेरग्निचयनवाजपेयाद्यङ्गत्ववत् उभयविधिवलादुभयसिद्धेः । अतो यावदुत्पद्यते ज्ञानं तावदनुष्ठेयानि कर्माणि ॥

ननु 'विविदिषन्ति'† इति श्रवणात् कर्मणां ज्ञानेच्छासमुदयपर्यन्तमनुष्ठानमिति चेत्—न सारमेतत् ; इच्छाया अपुर्यथत्वात् । कर्मणां ब्रह्मबोधसाधनानां विचारस्यानन्तरं ब्रह्मबोधशास्त्रारम्भस्समुचितः ॥

ननु कर्मब्रह्मविचारयोः क्रमनियमः कथमुपपद्यते ? कर्तव्यक्यादिति चेत्—कर्तव्यमिह आधारदर्शपूर्णमासवत् अङ्गाङ्गित्वेन वा, पञ्चप्रयाजवत् एकाङ्गिप्रयुक्तानेकाङ्गत्वेन वा, गोदोहनादिवत् अधिकारान्तरप्रयुक्त्युपजीवित्वेन वा, षडधागवत् फलैक्येन वा भवति । तथात्वे विचारयोः श्रुत्यादि प्रमाणं नोपलभ्यते । अतः कर्मब्रह्मविचारयोः न क्रमनियमो युक्त इति । यदि श्रुत्यादिप्रमाणं न संभवति, तदा खलु तथात्वं स्यात् । 'विधां

चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह'* 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्'†
 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सस्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नि-
 त्यम्'‡ इत्यादिका ज्ञानकर्मसमुच्चयवादिनी श्रुतिरूपलभ्यते; अतः
 कर्मज्ञानयोर्मोक्षैकफलत्वात् तद्विचारयोरपि क्रमनियमो युक्तः ॥

यद्यप्यक्षरग्रहणमात्रपर्यवसायित्वमध्ययनविधेः, तथापि वि-
 चारयोः न प्रवृत्त्यसंभवः, साङ्गाध्ययनेनापाततः पदार्थमा-
 त्रप्रतीतेः, तदनु ब्रह्मणः स्थूलोपासनज्योतिष्टोमादिविधायकानां
 वाक्यानां सूक्ष्मोपासनभूतदहरादिविधायकानां च परस्पर-
 विरोधाभासं पश्यन् तद्विचारे पुरुषार्थाकांक्षी पुरुषः स्वयमेव
 प्रवर्तते । ततो नानिग्रन्धनो विचारः ॥

ननु 'श्रोतव्यः' इति वाक्येन वेदान्तश्रवणं साक्षाद्विधी-
 यते इति चेत्-न, विधित्वप्रयोजकरूपसंपत्त्यभावात् । तथाहि-वे-
 दान्तश्रवणं नापूर्वविधिगोचरः, प्राप्तत्वात्; प्राप्तिश्च वेदान्तश्र-
 वणं स्वविषयोपात्तावगतिसाधनम्, शास्त्रश्रवणत्वात्, वैद्यशा-
 स्त्रश्रवणवदित्यादिभिः । न चास्य नियमविधिगोचरत्वम्, अवघा-
 तादिवत् कस्य चित् दृष्टफलस्योपायान्तरस्याप्राप्तेः । न च परिसं-
 ख्याविधिविषयत्वम् । एवं हि वेदान्तादश्रोतव्या एव नाध्येतव्या
 इति पर्यवस्येत् । तथा सति अनधीतवेदान्तानां विचारायोगात्पुरु-
 षार्थालम्भवः । यदि वेदान्तश्रवणस्य परिसङ्ख्यापरत्वं कर्मका-
 ण्डश्रवणनिषेधत्वरूपमिति विचारः, तदा विचाराभावात् कर्मानु-
 ष्ठानासंभवः । तदभावे चित्तशुद्ध्यभावात् ज्ञानानुत्पत्तिस्स्यात् ।
 तस्मात्पूर्वोक्तमेव समीचीनम् ॥

ततस्सकलचिदचित्प्रपञ्चाकारपरमशक्तिविशिष्टाद्वितीयवैभ-
 वस्य सकलनिगमसाररहस्यनिधानस्य भवशिवशर्वपशुपतिपरमे-

श्वरमहादेवरुद्रशम्भुप्रभृतिपर्यायवाचकशब्दसारप्रकाशितपरम-
हिमविलासस्य स्वशेषभूतनिखिलचेतनसमुपासनानुगुणसमुप-
निजप्रसादसमर्पितपुरुषार्थसार्थस्य परब्रह्मणः प्रतिपादकमुप-
पच्छाख्यं विचारणीयम्, तन्नियोगरूपचोदनालक्षणस्य तदारा-
विशेषसार्थरूपस्य तत्तदर्थवादप्रकटितप्राशस्त्यविलासस्य धृ-
दिसम्पादितसकलाङ्गपुङ्खितस्य स्वप्रमाणानुगुणस्मृतीतिहासपु-
णामियुक्तसूक्तिसन्दर्भकृतोपबृंहणस्य विधिनिषेधविकल्पसमु-
योत्सर्गापवादवाधाभ्युच्चयादिमतः निखिलपुरुषार्थरत्नाकरस्य प-
मबोधसाधनस्य भगवतो धर्मस्य विचारानन्तरमित्यथशब्द-
निर्णीतः ॥

अतश्शब्दोऽयं वृत्तस्य हेतुभावे वर्तते । यतोर्धोतर्क-
धर्मो विचारितः अतस्तदनुष्ठानसंपन्नचित्तशुद्धिना तत्कालसं-
विवेकादिसमुल्लसितपरमभक्तिसंभावितेन अनेन ब्रह्मापि नि-
शयनिश्चयसकरं विचारणीयमिति ॥

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासेति कर्मणिषष्ठी ॥

परीक्ष्य लोकान् कर्मचिंतान्ब्राह्मणो

निर्वेदमायाज्ञास्त्यकृतः कृतेन ।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्

समित्पाणिशोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥*

इत्यादिवाक्यं विषयः ॥

ब्रह्म विचारणार्हं भवति न वेति सन्देहः ॥

पूर्वपक्षस्तु—ब्रह्म न विचारयोग्यं भवति, तत्र सन्देह-
वात् । कथं सन्देहाभावः ? ‘अयमात्मा ब्रह्म’† इति श्रुति-
हमिति प्रत्ययेन प्रत्यक्षसिद्धमेवात्मानं ब्रह्मेत्युपदिशति । तत्-

तोत्र सन्देहकलङ्कप्रसङ्गः । किञ्च—विचारस्य फलं हि तद्विषयज्ञानं, ज्ञानं च क्षेत्रपरिच्छेदः । वेदान्तविचारजन्यं ज्ञानं ब्रह्म परिच्छिनत्ति न वा ? यदि परिच्छिनत्ति तदा तस्य परिच्छेदातीतत्वभङ्गप्रसङ्गः । यदि न परिच्छिनत्ति ब्रह्म तदा यथावन्न प्रकाशेत । अयमिति हि परिच्छिन्नो घटादिरवगम्यते । ततो ब्रह्मविषयं ज्ञानमपि न संभवति । तथाऽपि प्रयोजनं च न किञ्चित्पश्यामः । न भुक्तिः प्रयोजनम्, अनादिसिद्धस्य संसारस्य दुरपहवत्वात्, इति ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सर्वथा समारम्भणीयं शास्त्रम्. ब्रह्मणः सन्दिग्धतया विषयत्वसंभवात्, तद्धिर्णयस्य सप्रयोजनत्वाच्च । यत् 'अयमात्मा ब्रह्म'* इत्यादिश्रुतिः अमुमेवाहंकारवद्धं संसारिणं ब्रह्मेत्यभिधत्ते तत् एव सन्देहः । निरस्तसमस्तोपप्लवकलङ्कनिरतिशयज्ञानानन्दादिशक्तिमहिमातिशयवत्त्वं हि ब्रह्मत्वम् । अनाद्यज्ञानवासनावष्टम्भविजृम्भितविचित्रकर्मफलभोगानुगुणबहुशरीरप्रवेशनिर्गमव्यापारपरवशनिस्सीमतापसाहिष्णुत्वं हि जीवत्वम् । कथमेतयोः परस्परविलक्षणयोरेकभावमाहुः श्रुतय इति संशयः किं न स्यात् । अपि च एवमपि सन्दिह्यते— 'अन्नं ब्रह्म'† 'मनो ब्रह्म'‡ 'विज्ञानं ब्रह्म'§ 'आदित्यो ब्रह्म'¶ 'नारायण परं ब्रह्म'§§ इत्यादयो न्यमन्यमर्थं ब्रह्मेत्याहुः । तत्र किं वा ब्रह्मेति बहुधा सन्दिग्धं ब्रह्म विचारार्हं भवति । तत्र श्रवणमननादिनिश्चितस्य भक्तिज्ञानविशेषाभिमुखस्य परमकारुणिकस्य महादेशिकस्य सर्वानुग्राहकस्य शिवस्य परब्रह्मणः प्रसादातिशयेनास्याधिकारिणः प्रध्वस्तपाशपटला प्रत्यक्षीभूतनिखिलज्ञानानन्दस्वरूपा तत्समानगुणसारा कैवल्यलक्ष्मीः प्रयोजनं च भवति । ततस्सविषयं सप्रयोजनं वेदान्तश्रवणम् ॥

*मा. उ. २, †छा. उ. ७-९, ३, ७. ‡छा. उ. ३-१९-१. §म. ना. उ. ९-५.

यदुक्तं ज्ञेयपरिच्छेदरूपत्वात् ज्ञानस्य तदपरिच्छिन्नब्रह्मविषयं न भवतीति, तदविचारविलसितम्; ईदृगिदमिति ब्रह्मपरिच्छेदासंभवेऽपि लक्षणमुखेनेतरव्यावृत्ततामात्रेण परिच्छेदो भवात् । लक्षणेन परिच्छेदो हि सर्वत्र लक्ष्यविषयमितरव्यावृत्तता ज्ञानम् । उद्दिष्टस्य ब्रह्मणो लक्षणे वेदान्तवाक्यैर्निरूपिते परिच्छेदे ते च तल्लक्षणशून्येभ्यः सजातीयविजातीयेभ्यः तदितरसकलपार्थेभ्यो व्यावृत्तरूपं यत् तद्ब्रह्मेति विज्ञायते । ततस्समीचीनोपब्रह्मविषयः शास्त्रारम्भः । यदसंदिग्धमप्रयोजनं च तत्त्वलुप्रेक्षावतां विचारकस्यामारोहति । अस्य तु वेदान्तशास्त्रविचारप्रमाणयुक्त्याभासप्रतिभासवशात् सन्देहास्पदं ब्रह्म विषयो भवति । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'* 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति'† 'ईशं तं ज्ञात्वा अमृता भवन्ति'‡ 'तमक्रतुं पश्यन् वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्'§ 'आत्मानमर्पय कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनादेव पाशं दहति पण्डितः'¶ 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'*** इत्यादिश्रुतानुसारेण तदुपासनयाऽस्याधिकारिणः पाशविच्छेदलक्षणा मुक्तिप्रयोजनं चास्तीति प्रथमाधिकरणेऽत्र प्रतिपादितम् ॥

२. अधिकरणम्.

इहोद्दिष्टस्य ब्रह्मणो यन्निश्चायकं तल्लक्षणं किमित्याकांक्षायां तल्लक्षणाभिधायकं द्वितीयाधिकरणसूत्रमवतारयति भगवान् सूत्रकारः—

* तै. उ. २-१.

† श्वे. ३-२०.

‡ श्वे. ४-१४.

§ कैवल्योपनिषदि.

¶ श्वे. ३-७.

*** श्वे. १-८.

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

ज्ञाते लक्ष्ये लक्षणवैयर्थ्यात्, अज्ञाते तदाकाङ्क्षानुत्पत्तेः,
कथमत्र ब्रह्मणो लक्षणकथनप्रसङ्ग इति न शङ्कनीयम्, अध्यय-
नादापाततो ज्ञाते ब्रह्मणि तद्योगात् ॥

जन्मादि अस्य यतः इति सूत्रपदच्छेदः । जन्मादिकं जन्म-
स्थितिलयतिरोभावानुग्रहरूपं कृत्यं अस्य चेतनाचेतनसंमेलनसम-
रसीभूतस्य प्रपञ्चविलासस्य यतो यस्मात् तत् ब्रह्मेति शेषः ॥

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीव-
न्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति’* ‘प्र-
धानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशस्संसारमोक्षस्थितिवन्धहेतुः’† ‘सत्यं ज्ञान-
मनन्तं ब्रह्म’‡ ‘ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णापिङ्गलम् । ऊ-
र्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमः’§ इत्यादिवाक्यं विषयः ॥

अत्र जगतो जन्मादिकं ब्रह्मणि लक्षणतया संभवति न
वेति सन्देहः ॥

न संभवति, संवन्धाभावात् । किं च—‘आनन्दो ब्रह्मेति
व्यजानात्’¶ इत्यत्रानन्दस्य जगज्जन्मादि लक्षणं पर्यवस्यति ।
अन्यत्र ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’** इति सतो जगत्कारण-
त्वमवगम्यते । ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’‡ इति ज्ञानमेवापरिच्छिन्नं
जगत्कारणं ब्रह्मेत्येकत्र विज्ञायते । अपरत्र च ‘यदा तमस्तन्न दिवा
न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः’†† इति शिवशब्दवा-
च्यं वस्तु कारणत्वेन सकलपूर्वभावि ब्रह्मेति विज्ञायते । अत्र
आनन्दादीनां ब्रह्मत्वे विकल्पो वा ? समुच्चयो वा ? विकल्पे

*तै. ३-१.

†श्वे. ६-१६.

‡तै. २-१.

§महाना. २३.

¶तै. ३-६.

**छा. ६-२.

††श्वे. ४-१८.

श्रुतहान्यादिदोषप्रसङ्गः, अव्यवस्था च । व्यवस्थितविकल्पो
ब्रह्मानेकत्वप्रसङ्गः । समुच्चयपक्षेऽपि तेषां धर्मरूपत्वात् निमित्तं
जगन्निर्माणोपायज्ञानविशिष्टब्रह्मत्वासंभवः । अपि च—‘माया
प्रकृतिं विद्यात्’* इति श्रुतिः मायाया अचेतनाया जगत्कारण-
णत्वमभिधत्ते । तदेव युक्तं, ब्रह्मणो ज्ञानरूपस्य जगत्कारण-
तस्य विकारापत्त्या ‘निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्’† इत्यादिश्रुतिमा-
सङ्गात् । अतस्सर्वथाऽपि ब्रह्मणो जगत्कारणत्वादिलक्षणतां
धातुमशक्यमिति ॥

एवमादौ पूर्वपक्षविक्षेपे प्राप्ते ब्रूमः—यद्यपि जन्मादेः
क्षिप्तत्वेन ब्रह्मण्यसंबन्धः; तथाऽपि तादृश्येन लक्षणत्वं युज्यते
यत्सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं अष्टाभिधानाधिकरणं शिवतत्त्वं तदेव
त्कारणं ब्रह्मेत्युच्यते । आनन्दादीनामत्रैव धर्माणां पर्यवसानं
संभवति ॥

सर्वज्ञत्वं नित्यतृप्तत्वं अनादिवोधत्वं स्वतन्त्रत्वं अलुप्तशक्त-
त्वं अनन्तशक्तित्वं चेत्येतानि सर्वज्ञत्वादीनि ॥

नित्यापरोक्षानपेक्षितवाह्यकरणनिष्कलङ्कानुभवविषयनिमित्त-
वस्तुत्वमिह सर्वज्ञत्वम् । ‘यत्सर्वज्ञस्सर्ववित् यस्य ज्ञानं
तपः’‡ इत्यादिभिरिदं ब्रह्मणः सिद्धम् । अनेन सकलचेतना-
विधकर्मफलभोगानुकूलतत्तच्छरीरनिर्माणोपायसामग्रीविशेषा-
निमित्तं भवति ॥

निरस्तसमस्तोपप्लवकलङ्कनिरतिशयानन्दपरिपूर्णत्वमिह
त्यतृप्तत्वम् । अत एव ‘आनन्दो ब्रह्म’§ इति श्रूयते ।
खलु ‘अन्योन्यतर आत्माऽऽनन्दमयः’¶ इति प्रस्तुत्य ‘सैषाऽऽनन्द-
मयः’

*श्वे. ४-१०.

†श्वे. ६-१९.

‡मु. १-१.

§तै. ३-६.

¶ तै. २-५.

स्य मीमांसा भवति,* इत्यारभ्याभ्यासात् निरतिशयशिरस्क-
 त्वेन 'स एको ब्रह्मण आनन्दः'* इति निरूपितः परब्रह्मधर्म-
 त्वेन, स एव 'आनन्दो ब्रह्म'† इति प्राचुर्यात् ब्रह्मत्वेनोपच-
 र्यते । तादृशानन्दभोगरसिकं ब्रह्म नित्यतृप्तमित्युच्यते । ब्रह्म-
 णो मनसैव महानन्दानुभवः, न बाह्यकरणद्वारा । तथा हि
 श्रुतिः 'आकाशशरीरं ब्रह्म, सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम्,
 शान्तिसमृद्धममृतम्'‡ इति । आकाशत इत्याकाशः प्रकाशश्चि-
 दम्बरमुच्यते; न भूताकाशः, विशेषाभावात् । निखिलजग-
 दण्डपण्डबुद्धदनिक्षुब्धजलाधिस्थानीया परप्रकृतिरूपा परमशक्तिर्हि
 चिदम्बरमुच्यते । तत्स्वरूपं ब्रह्माकाशशरीरम् । परप्रकृतित्वं चिदा-
 काशस्य, 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समु-
 त्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति'§ 'आकाशो वै नाम नामरूप-
 योर्निर्वहिता'¶ इत्यादिश्रुतिसिद्धम् । 'सत्यात्म' सत्तारूपम् ।
 'प्राणारामं' प्राणः सकलाधारभूता चिदम्बरशक्तिरुच्यते । स्व-
 रूपभूतायां तस्यामेवाराधो यस्य तत्प्राणारामम् । 'मनआनन्दं'
 मनस्यानन्दो यस्य न बाह्यकरणे तन्मनआनन्दम् । अत्राप्या-
 नन्द इति चिदम्बरं प्रकृतिरुच्यते । तथा श्रूयते—'यदेष आ-
 काश आनन्दो न स्यात्'*** इति । 'शान्तिसमृद्धं' शिवतापन्नम् ।
 'अमृतं' अनादिमुक्तम् । अत्र सच्चिदानन्दरूपं परमाकाशस्वरूपं
 ब्रह्म स्वरूपानन्दं मनसैवानुभवति बाह्यकरणनिरपेक्षमिति सिद्धं
 'मनआनन्दम्' इत्यनेन । इदमेव ज्ञापकं ब्रह्मभावमापन्नानां
 मुक्तात्मनां निरतिशयस्वरूपानन्दानुभवसाधनं बाह्यकरणनिरपेक्षं
 अन्तःकरणमस्तीति । अतो बाह्यकरणनिरपेक्षेण शुद्धबोधशक्ति-
 रूपेण मनसा स्वरूपानन्दमनन्तमनुभवत् ब्रह्म नित्यतृप्तम् ।
 न तस्य कदाऽपि बाह्यसांसारिकसुखलवापेक्षा भवतीत्यर्थः ॥

* तै. २-८.

† तै. ३-६.

‡ तै. १-६.

§ छा. १-९-१.

¶ छा. ८-१४-१.

*** तै. २-७.

स्वतस्सिद्धनिरतिशयज्ञानवत्त्वं अज्ञादिवोधत्वम् । यत् रूपानन्दानुभवसाधनं अन्तःकरणं ज्ञानं तदनादिसिद्धमेव । तोऽज्ञादिवोधं ब्रह्म, संसारनिवर्तकस्य ज्ञानस्यानादिसिद्धत्वात् नित्यनिवृत्तसंसारदोषं 'शान्तिसमृद्धममृतम्'* इति श्रूयते ।

अन्यप्रेष्यताकार्पण्यरहितत्वेन स्वयशीकृतस्वेतरसकलवत्त्वं स्वातन्त्र्यम् । 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावोशनीशौ'† 'भोक्ता भो प्रेरितारं च मत्वा'‡ 'विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः'§ इति दिषु ब्रह्मणः जडाजडप्रपञ्चप्रेरकत्वेन स्वतन्त्रत्वं सिद्धम् । विषयस्वातन्त्र्येण ब्रह्मणः सर्वकर्तृत्वसिद्धिः ॥

स्वाभाविकशक्तिमत्त्वं अलुप्तशक्तित्वम् । तथाहि श्रवणं 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च इत्यादिचिदचित्प्रपञ्चरूपशक्तिविशिष्टत्वं स्वाभाविकमेव ब्रह्म कदाचिदपि न निर्विशेषत्वम्, इत्यनेन सिद्धम् ॥

अपरिच्छिन्नशक्तिविशिष्टत्वमनन्तशक्तित्वम् । अनन्ताभिः शक्तिभिः जगतो जनकं शासकं च ब्रह्म भवति । तद्यथा श्रूयते—'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः य इमान्तां नीशत ईशिनीभिः'*** 'यस्सर्वान् लोकानीशत ईशिनीभिर्जतं मिः परमशक्तिभिः'*** इत्यादि । अनन्तशक्तिमत्त्वात् ब्रह्म अपरिच्छिन्नप्रपञ्चसमवायिकारणत्वं सिध्यति ॥

अष्टाभिधानाधिकरणमिति—भवशर्वेशानपशुपतिरुद्रोऽग्रकर्तृ महादेवाभिधानाष्टकस्य अधिकरणं वाच्यं परं ब्रह्म । अस्य सत्त्वशब्दवाच्यत्वेऽपि परभावबोधकत्वेन मुख्यतया भवादिशब्दानि यत्वेन नान्यशब्दाभिधेयत्वाभावप्रसङ्गः ॥

* तै. १-६.

† श्वे. १-९.

‡ श्वे. १-१२.

§ श्वे. ५-१.

¶ श्वे. ६-८.

*** अथर्वशिरः.

सर्वत्र सदा भवतीति भवशब्दवाच्यं ब्रह्म, भूधातोस्स-
त्तार्थत्वात् । सर्वत्रानुवर्तमानं सद्रूपं ब्रह्मेति विज्ञायते । तथा-
हि श्रुतिः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्'*
'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'† 'सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम्'‡
'सन्महः'§ इत्यादि । सन् घटः सन् पटः इति सर्ववस्तुष्वनु-
वृत्त्या सद्रूपस्य ब्रह्मणः सर्वोपादानत्वं सिध्यति । मृदुपरकं
घटादिकं हि मृदुपादानमिष्यते । अतस्सद्रूपं ब्रह्म भवशब्द-
वाच्यं भवति ॥

शर्वशब्देन शृ हिंसायामिति धात्वर्थवशात् सकलसंहर्तु
ब्रह्म प्रतिपाद्यते । 'तस्मादुपसंहर्त्रं महाग्रासाय नमः'¶ 'यस्य
ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः'*** इत्यादिभिः सर्वसंहर्तु
ब्रह्म श्रूयते ॥

निरुपाधिकपरमैश्वर्यविशिष्टत्वात् ईशानशब्दवाच्यं ब्रह्म,
'य इमान् लोकानीशत ईशिनीभिः'†† इति श्रवणात् ॥

ईश्वरस्य ईशितव्यापेक्षितया पशुपतिशब्दवाच्यं ब्रह्म ।
तथाहि श्रूयते 'येशामीशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत च
द्विपदाम्'††† इत्यादि । पाशसंबन्धेन पशुत्वव्यवहारात् पशुग्र-
हणात् पशुपाशद्वयं च गृहीतं भवति । अनेन चिदचिन्निया-
मकं ब्रह्मेति विज्ञायते ॥

संसाररुद्रावकत्यात् रुद्रशब्दवाच्यं ब्रह्म, 'तरति शोक-
मात्मचित्'†††† इति श्रवणात् ॥

*छा. ६-२.

† तै. २-१.

‡ तै. १-६.

§महाना. २४.

¶अथर्वशिरः.

***कठ. २-२५.

†† तै. सं. ३-१-४.

†††छा. ७-१.

परतेजोभिरनभिभवनीयत्वात् उग्रशब्दवाच्यत्वं ब्रह्मणः,
'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्' * इति श्रवणात् ॥

नियामकतया निखिलचेतनभयहेतुतया भीमशब्दामिधेयं
ब्रह्म, 'भीमाऽस्माद्धातः पवते' † इत्यादिश्रुतेः ॥

ब्रह्मत्वेन दीव्यमानतया महादेव इत्युच्यते शिषः । तथा
अथर्वशिरसि 'अथ कस्मादुच्यते महादेवः ? सर्वान् भावान्-
रित्यज्य आत्मज्ञानयोगैश्वर्ये महति महीयते तस्मादुच्यते महा-
देवः' ‡ इति ॥

निरस्तसमस्तसंसारकलङ्कतया निखिलमङ्गलाधारतया शि-
वतत्त्वं यदवगम्यते तदुक्तस्वभावतया सकलजगज्जन्मादिकारणं
भवति । तत्र तादृशमहिमनि जगदुभयकारणत्वसंभवात् तदेतादृ-
शमहत्त्वात् ब्रह्मेत्युच्यते । तदेव शिवशब्दवाच्यं आनन्दादिध-
र्माश्रयतया सिद्धम् । अत आनन्दादीनां विकल्पादिविचिन्ता
निरर्थिका । 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' § इति मायायाः प्रकृति-
त्वमीश्वरात्मिकाया एव, 'मायिनं तु महेश्वरम्' § इति वाक्य-
शेषात् । सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म कारणम्, स्थूलचिदचिद्विशिष्टं
तत् कार्यं भवति । अतो जगज्जन्मादिलक्षणं ब्रह्मेति सि-
द्धान्तः ॥ २ ॥

३. अधिकरणम्.

लक्षणप्रमाणाधीना हि वस्तुसिद्धिः । जगत्कारणं ब्रह्म किम्प्र-
माणकमित्यत आह—

* श्वे. ६-१४.

† तै. २-८.

‡ अथर्वशिरः.

§ श्वे. ४-१०.

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

यतश्शास्त्रं योनिः प्रमाणं तत एव जगज्जन्मादिलक्षणं ब्रह्म भवतीति शेषः ॥

अत्र जगत्कारणं ब्रह्म शास्त्रैकगम्यम्? उत प्रमाणान्तरेणापि गम्यम्? इति सन्देहः ॥

जगादिदं सावयवं कार्यमेव । तच्च वैचित्र्यगर्भितत्वेन स्वोचितकर्तृकमिति कर्ता कश्चित् कल्पनीयस्सर्वज्ञत्वादिमान् । नासौ शास्त्रैकगम्य इति नास्मिन् शास्त्रस्य प्रामाण्यम्, शास्त्रस्य प्रमाणान्तराप्राप्तविषयत्वात् । इति पूर्वपक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु—जगत्कारणं ब्रह्म वेदान्तशास्त्रैकगम्यम्, 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'* इत्यादिषु वेदान्तशास्त्रमन्तरेण ब्रह्मणो बोधासम्भवश्रवणात् ॥

यदुक्तं सावयवत्वात्कार्यत्वसिद्धौ प्रपञ्चस्य कर्ता समुचितः कल्प्य एक इति, तदसत्, विचित्ररचनस्य गोपुरप्रासादादेः बहुकर्तृकत्वदर्शनात् । तथा च नानुमानेनैककर्तृकत्वसिद्धिः । व्याप्तिबलेन तस्य कर्मपारवश्यादिप्रसङ्गश्च । हेतोः पक्षधर्मतावलात् अनुमानेन जगतो विलक्षणैककर्तृकत्वसिद्धावपि निमित्तोपादानशक्तियुक्तैककर्तृकत्वसिद्धिर्नास्ति । अतो वेदान्तशास्त्रैकगम्यं तत्प्रमाणं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥

अनेन सूत्रेण पूर्वाधिकरणप्रतिपादितजगत्कारणत्वोपयोगि सर्वज्ञत्वं ब्रह्मणः शास्त्राणां वेदानां योनित्वात् कारणत्वात्सि-

द्व्यतीत्यपि प्रतिपाद्यते इति केचिदाहुः । सूत्रस्य सूचनात्मकस्य अर्थद्वयाभिधाने श्लेषकाव्यवत् वाक्यभेदादिदोषाभावात् पुनराधिकरणान्तरप्रस्तावः—

अत्र 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यद्वेदो यजुर्वेदस्सामवेदः'* इत्यादिः श्रूयते विषयः ॥

ब्रह्मणो वेदकर्तृत्वं युक्तं न वेति सन्देहः ॥

न युक्तमिति पूर्वः पक्षः, 'वाचा विरूप नित्यया'† इत्यादिर्वाचो नित्यत्वप्रतिपादिकायाः श्रुतेर्विरोधात्, वेदानां कार्यत्वे पौरुषेयत्वात्, अप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च । तस्मात् ब्रह्मणो वेदकर्तृता कथम्?

इति प्राप्ते ब्रूमः—युक्तमेव ब्रह्मणो वेदकर्तृत्वं 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यद्वेदो यजुर्वेदस्सामवेदः'* इति श्रुतेः निश्वसितवद्वेदराशेः अप्रयत्नेन ब्रह्मणः प्रादुर्भावावगमात्

अष्टादशानामेतासां विद्यानां भिन्नवर्त्मनाम् ।

आदिकर्ता कविस्साक्षाच्छूलपाणिरिति श्रुतिः ॥

इति परमेश्वरस्य सकलविद्याकर्तृत्वप्रतिपादनाच्च । सृष्टेः प्राग्भावात् स्वात्मनि विलीनानां वेदानां पूर्वपूर्ववर्णानुपूर्व्यनुरूपरचनया पुनः कर्ता भवति सर्वज्ञः परमेश्वरः । अत एव वेदानामपौरुषेयत्वमप्यश्वरकार्यत्वं च । येषां रागद्वेषादयस्तेषां वचनमप्रमाणमपि भवति । निरस्तसमस्तदोषकलङ्कस्य निरुपप्लवनिरतिशयज्ञानप्रत्यक्षानुभूतमानत्रैकालिकवस्तुविलासस्य स्वतःप्रमाणस्य परमेश्वरस्य परमाप्तस्यावाप्तसमस्तकामस्य शिवस्य ब्रह्मणो वचनं तु प्रमाणमेव भवति । 'ईशानस्सर्वविद्यानाम्'‡ 'स नो देवश्शुभया त

त्या संयुनक्तु* इति हि परमेश्वरस्य सर्वविद्याप्रवर्तकत्वं शुभस्मृतिहेतुत्वं च श्रूयते । अतस्सर्ववस्त्ववभासकानां वेदानां परमेश्वरकर्तृकतया परमेश्वरस्य सर्वज्ञता निश्चीयते, अज्ञातस्य वक्तुमशक्यत्वात् ॥

यद्यपि सर्वगतस्य परमेश्वरस्य सर्ववस्तुसंयोगेन सर्वज्ञत्वं सिद्धयति, तथाऽपि सकलवस्त्ववभासकानां वेदानां प्रणेतृता विशेषं दर्शयति । यथा दीपः स्वप्रभासंयुक्तेष्वपि रूपादिषु रूपमेव प्रकाशयति, न रसादि, तथा न परमेश्वरः, किं तु स्वशक्तिसंयुक्तं सकलमपि प्रकाशयतीति ॥

ननु परमेश्वरस्य सर्वज्ञत्वं नाम वेदोक्तसकलपदार्थाभिज्ञत्वम् । तर्हि महर्षीणामपि वेदार्थवेदिनां सर्वज्ञत्वं सिद्धम् । किमत्र वैषम्यम्, इति चेत्—न, तत्कर्तुरीश्वरस्याधिकं ज्ञानमस्ति । व्याकरणादेरधिकार्थविदां हि पाणिनिप्रभृतीनां तत्प्रणेतृत्वं दृश्यते । वेदश्च सर्वार्थावभासकोऽपि न सर्वं मुख्यतः प्रकाशयति; किं तु किमपि लक्षणया, किमपि सामान्येन, किमपि विशेषेण । परमेश्वरस्सर्वसाक्षी सर्वं प्रत्यक्षयतीति वेदेश्वरयोरप्येतावद्वैषम्यमिष्यते ॥

ननु परमेश्वरस्यैव वेदकर्तृत्वमिति न नियमः 'षड्भूतो वै भूत्वा प्रजापतिरिदं सर्वमसृजत ऋचो यजूंषि सामानि'† इत्यादिश्रवणात् हिरण्यगर्भादेरपि तत्कर्तृत्वावगमादिति चेत्—न, हिरण्यगर्भोत्पत्तेः प्रागापि वेदानां सद्भावात् । श्रूयते हि—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'‡ इति । यस्सर्ववेदानामादिमस्य हिरण्यगर्भस्यापि कर्ता तस्मै

सर्वान् वेदानुपदिशति स एव सर्वाधिको वेदकर्ता परमेशिकः । तथा हि श्रुत्या अभिव्यज्यते--

यो देवानां प्रथमं पुरस्ता-

द्विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः ।

हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं

स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्तु ॥*

इति । महर्षिः वेदकर्ता यस्तर्कज्ञत्वादिना विश्वस्मात् चिदादि-
त्प्रपञ्चात् अधिको रुद्रः परब्रह्मभूतः सर्वेषां देवानामिन्द्रा-
दीनां प्रथमं आदिसं हिरण्यगर्भं ब्रह्माणं स्वसंकल्पेन प्रकृतिक-
दात्मनो जायमानं सृष्टिकाले सर्वज्ञानोपायसकलवेदोपदेशरूप-
अनुग्रहदृष्ट्या अपश्यत्, स परमदेशिकः नः अस्मानपि सकल-
संसारपाशमहानर्थनिवृत्तिहेतुभूतया परमाभूतलक्ष्मीसमावेश-
मानन्दप्राप्तिकारिण्या अत एव परममङ्गलरूपया वेदान्तसार-
मरस्यसिद्धया स्मृत्या बोधकलया स्वाधिषयया संयोजयति
तात्पर्यम् । ततस्सकलवेदकर्तृत्वमीश्वरस्य सिद्धम् । वाचो नि-
त्यत्वश्रुतिः ईश्वरेण पूर्वसत्तानुवृत्त्या विहितत्याद्वेदानामाविष्क-
ततो वेदानामीश्वरप्रणीतत्वं नित्यत्वं चाविरुद्धमेव ॥

४. अधिकरणम्.

प्रथमाधिकरणे जिज्ञास्यतया प्रतिपादितस्य परब्रह्म-
शिवस्य परिज्ञाने लक्षणापेक्षायां द्वितीयाधिकरणेन लक्षणं ज-
जन्मादिरूपमभिहितम् । तस्मिन् किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायां च

तीर्याधिकरणेन वेदान्तशास्त्रस्य तद्विषये प्रामाण्यं तन्मूलत्वं च निरूपितम् । येन यद्व्यभिचारेण सिद्ध्यति तद्वि तस्य प्रमाणमुच्यते । वेदान्तवाक्यानां कथं वा ब्रह्मबोधकत्वमित्याकाङ्क्षायां चतुर्थाधिकरणमवतार्यते—

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

तच्छब्देन प्रकृतं ब्रह्म परामृश्यते । तुशब्देन सर्वाणि वेदान्तवाक्यानि समाह्रियन्ते । समन्वयशब्देन तात्पर्येण संवन्ध उच्यते । तत् ब्रह्म वेदान्तवाक्यानि तात्पर्यलिङ्गसंवन्धात् साधयन्तीति सूत्रार्थः ॥

अस्य सर्वाणि वेदान्तवाक्यानि विषयः ॥

वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मबोधकत्वं युक्तं न वेति संशयः ॥

सर्वत्र संवन्धग्रहणसापेक्षं शब्दस्यार्थावबोधकत्वम् । शब्दार्थयोस्संवन्धज्ञानमन्तरेण हि पुरुषस्य शब्दार्थप्रत्ययो न भवति । संवन्धज्ञानं तु वृद्धव्यवहारापेक्षम् । व्यवहारश्च कार्यैकगोचरः । तथा हि—‘गामानय’ ‘गां बध्ना’ इति वृद्धवाक्यश्रवणसमनन्तरं प्रवर्तमानं प्रयोज्यवृद्धमवगम्य पार्श्वस्थो व्युत्पित्सुरेवमवधारयति—सर्वथाऽयं कार्यावगति-समनन्तरमेव प्रवर्तते ; सा च कार्यावगतिः एतस्मादेव वाक्यात्समुत्पन्ना ; अन्यथा कथमस्यैतद्वाक्यश्रवणसमनन्तरं प्रवृत्तिरिति । पुनर्गवानयनवन्धनदर्शनात् कार्यविशेषं निश्चिनोति । तदेवं कार्यार्थत्वात् व्युत्पत्तेः न सिद्धे ब्रह्माणि शब्दस्य प्रामाण्यम् । किञ्च—कार्यविशेषत्वाज्जगतः कर्तृविशेष-स्य ब्रह्मणोऽनुमानादपि सिद्धेः कथमस्मिन् अप्राप्तविषयाणां वेदान्तवाक्यानां प्रामाण्यम् । अथ वा—विधिपराण्येव वेदान्त-

वाक्यानि, न ब्रह्मपराणि, उभयपरत्वे वाक्यभेदस्स्यात् । अतो वेदान्तवाक्यानां न ब्रह्मसाधकत्वं युक्तमिति पूर्वः पक्षः ॥

युक्तमिति सिद्धान्तः, वेदान्तवाक्यानां तात्पर्यलिङ्गसमन्वयेन ब्रह्मबोधनसमर्थत्वात् ॥

यदुक्तं कार्यार्थ एव व्युत्पत्तेः न सिद्धे ब्रह्मणि शब्दस्य प्रामाण्यमिति, तदसत्, 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादिषु सिद्धान्तार्थेष्वपि वाक्येषु संबन्धग्रहदर्शनात् । वृद्धव्यवहारेऽपि व्युत्पित्तुः स्वप्रवृत्तिहेतुभूतायाः कार्यावगतेः पदार्थज्ञानपूर्वकत्वावगमात् प्रयोज्यवृद्धस्य प्रयोजकवाक्यं पदार्थज्ञानमुत्पादयतीति निश्चिनोति । ततस्सिद्धान्तार्थेष्वपि शब्दस्याभिधाननिश्चयः । अथ वा—किमिह वृद्धव्यवहारेण, व्युत्पत्तेः प्रकारान्तरेणापि सिद्धत्वात् । तथा हि—बाला आनादिभिः शिशुपशुप्रभृतीनर्थानङ्गुल्यादिना निर्दिश्य तत्तच्छब्दास्तेषुतेष्वपि प्रयुज्जनैः बहुशः शिक्षितास्तेषुतेष्वर्थेषु व्युत्पाद्यन्ते । च व्यनाटकानभिज्ञाः पुरुषाः तदभिज्ञपुरुषसमीपमेत्य पदविच्छेदं कृत्वा अस्य शब्दस्यायमर्थ इति सर्वशब्दानामर्थसवगच्छन्ति । अतः सिद्धान्तार्थेष्वपि व्युत्पत्तिसम्भवात् तत्र शब्दस्य प्रामाण्यमस्ति । ततो वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि प्रामाण्यम् ॥

यदुक्तं जगतः कार्यविशेषत्वात् कर्तृविशेषस्य ब्रह्मणोऽनुमानादपि सिद्धिरिति—तत्र संभवति, विचित्ररत्नस्य रथगोपुरप्रासादादेः अनेककर्तृकत्वदर्शनात् अनुमानेनास्य जगत् एककर्तृकत्वसाधनायोगस्य व्याप्तिबलात्कर्तृत्वव्यवहारादीनां कर्तृत्वप्राप्तेश्च पूर्वमुक्तत्वात् । अतो नानुमानगम्यं ब्रह्म भवति । किञ्च—श्रुत्यानुगुण्यादनुमानमपि ब्रह्मणि प्रमाणं भवतु नाम ।

यत्र वाक्यानां तात्पर्यं तत्र हि तेषां प्रामाण्यं, न प्रत्यक्षादीना-
लिव सर्वत्र । वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि तात्पर्यनिर्णायकानि कानि
लिङ्गानीति चेत्—उपक्रमादीनि । तथा पठन्ति—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।

अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

इति । तदिहोपक्रमादिभिर्लिङ्गैः वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि तात्पर्यं
निश्चीयते । य उपक्रमादिभिस्तात्पर्यनिर्णयः तदेव वेदान्त-
वाक्यानां श्रवणमित्युच्यते । तथा ह्युच्यते—

अज्ञानप्रभवं दुःखं ज्ञानं तस्य निवर्तकम् ।

सर्ववेदान्तवाक्यानां श्रवणं तत्प्रवर्तकम् ॥

श्रवणं नाम वाक्यानां वैदिकानां परात्परे ।

उपक्रमादिभिर्लिङ्गैश्चिदेष तात्पर्यनिर्णयः ॥

इति । उपक्रमोपसंहारावेकं लिङ्गं वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि शिवे ता-
त्पर्यनिर्णये । तत्र तात्पर्यं नाम तत्त्वरूपोपासनाविषयत्वम् । उपक्र-
मोपसंहारौ—‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’* इत्युपक्रमः, ‘तत्त्व-
मसि’† इत्युपसंहारः । ‘धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्’‡ इत्यु-
पक्रमः ‘यः परस्व महेश्वरः’§ इत्युपसंहारः । एवमन्यत्रापि
द्रष्टव्यम् । ‘तत्त्वमसि’* ‘सर्वो वै रुद्रः’† ‘अम्बि-
कापतय उमापतये’‡ ‘यो वै रुद्रस्त भगवान् यश्च
ब्रह्मा’§ इत्यभ्यासः । अपूर्वता वेदेतरप्रमाणाप्राप्तत्वम् ।
फलं ब्रह्मज्ञानम् । अर्थवादः जगत्सृष्टिस्थितिप्रध्वंसादयः । उप-
पत्तिर्विरोधाभावः, सर्वज्ञतादिसंपत्तिर्वा । एतैर्लिङ्गैः ब्रह्मणि ता-

* छा. ६-२...८.

† महाना. १२.

‡ महाना. २२...२४.

§ अथर्वशिरः.

त्पर्यमवगन्तव्यं वेदान्तवाक्यानाम् । न केवलं ब्रह्मपरा वेदान्त-
किं तु 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः'* इत्यादिषु तज्ज्ञानविधि-
अपि विज्ञायन्ते ॥

उभयपरत्वे वाक्यभेदप्रसङ्ग इति यदुक्तं तन्न—रूपप्रत्यायकं
चक्षुषा यथा द्रव्यस्यापि सिद्धिः तथा विधिपरैरपि वेदान्तैः
सिद्धिरिति नोभयपरत्वे विरोधः । शब्दं हि ब्रह्मज्ञानम् । न
ब्रह्मवाचिशब्दादेव प्राप्तं भवति । तद्विधिना किं प्रयोजनमि-
चेत्—प्राप्तावपि मन्त्रादिष्विव विधेरविरोधः । यथा द्रव्यज्ञे-
तादिप्रकाशकेषु मन्त्रेष्वधीयमानेषु द्रव्यादिज्ञाने जातेऽपि पुन-
नुष्ठानकाले मन्त्रैरनुस्मर्तव्यमिति प्रयोगविधिः ज्ञानान्तरम्
प्रापयति, तथाऽत्रापि । न चोत्पत्तिविनियोगाधिकारविधीनाम-
वात्प्रयोगविध्यसंभव इति शङ्कनीयम् । उत्पत्तिविधेरव्याहृत-
सिद्धौ प्रकरणवशात् शमादिकं विनियोजयन् 'आत्मानं पश्ये-
इति विनियोगविधिरुपपद्यते । ततश्च रात्रिसत्रन्यायेन 'ज्ञान-
देवं मुच्यते सर्वपाशैः'† इत्याद्यर्थवादावगतमोक्षकामोधिक-
कल्पनीयो भवति । अतो मोक्षकामः शमादियुक्तो ब्रह्म-
संपादयेदिति प्रयोगविधिलाभः ॥

ननु ब्रह्मज्ञानस्य विधेयत्वमनुपपन्नम्, 'आत्मा वाऽरे-
द्रष्टव्यः'‡ इत्यादौ । नित्ये ब्रह्माणि निर्विकारे विशुद्धे चान्त-
हि न कर्मकारकभावो युज्यते येन विधिसंभवः, उत्पत्तिप्राप्ति-
विकारसंस्काराणामत्रासंभवात् । न च स्वतन्त्रफलाय सकृत्
येन कर्मकारकतां परित्यज्य करणत्वपरिणामेन आत्मना प-
दिति विधातुं शक्यम्, वैषम्यात् । तथा हि—क्रियाकृताविव-
स्य भस्मीभावलक्षणस्य सकृदुपसंभवात्, तेषु शब्दतः क-

त्वेऽपि अर्थतः कर्मत्वमस्ति । न तस्यात्मनि संभवः । अतो वेदान्तानां न ब्रह्मज्ञानविधिपरत्वमिति चेत्—

न, आत्मानि कर्मत्वप्रयुक्तोत्पत्त्याद्यभावेऽपि कर्तृस्थमोक्षफलाय विध्युपपत्तेः । प्राप्ते कथं विधिरिति चेत्—प्राप्तिः पाक्षिकी? नित्या वा? उभयथाऽपि नियमादिविधिस्संभवति ॥

ननु तथा सति वेदान्तानां विधिपरत्वेन ब्रह्मपरत्वमनुपपन्नम् । यदुक्तं रूपप्रत्यायकेन चक्षुषा द्रव्यसिद्धिवत् विधिपरैरपि वेदान्तैः ब्रह्मसिद्धिरिति—तदयुक्तम्, चक्षुर्हि संप्रयोगे सति निरपेक्षमेव प्रातिवस्तु प्रमाणं, न तथा शब्दः, किं तु यत्र तात्पर्यं तत्र प्रमाणम् । तस्माद्वेदान्तानां ब्रह्मप्रमापकत्वं ब्रह्मज्ञानविधायकत्वं च न संभवतीति चेत्—

न, 'सन्निधौ यजति'* इत्यादीनां वाक्यानां पञ्चप्रयाजविधायकत्वं तदनुष्ठानरूपविधायकत्वं चेति उभयपरत्वदर्शनात् वेदान्तवाक्यानामपि ब्रह्मप्रमापकत्वं ब्रह्मज्ञानं मोक्षोपकारकं प्रति विधायकत्वं च युक्तमेव ॥

ननु ब्रह्मणि वाक्यादेव ज्ञाते तज्ज्ञानविधिरप्रयोजनः, तत्प्रयोजनस्य पूर्वज्ञानादेव संभवात् इति चेत्—

न, वाक्येन परोक्षत्वेन ज्ञातेऽपि ब्रह्मणि तत्साक्षात्काराय ज्ञानविधेरुपपत्तेः । कथं भेद इति चेत्? यत् शब्दजन्यं ज्ञानं न तत्साक्षात्कारहेतुः, किं तु उपासनारूपज्ञानमेव । तथा च श्रूयते 'ध्यात्वा मुनिर्नच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्'† 'ज्ञाननिर्मथनादेव पाशं दहति पण्डितः'‡ इत्यादिषु । 'ज्ञात्वा

देवं मुच्यते सर्वपाशैः* 'ईशं तं ज्ञात्वा अमृता भवन्ति'
इत्यादिषु च । तथाहि सति—

श्रोतव्यदश्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।

ज्ञत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥

इत्यत्र श्रवणमननसंपन्नज्ञानाविनाभूतं निदिध्यासनं ब्रह्मणः
क्षात्कारे निमित्तमिति स्मर्यते । अत उपासनरूपं ज्ञानं मे
फलं विधीयते । 'आत्मन्येवात्मानं पश्येत्'† 'शम्भुराका
मध्ये ध्येयः'§ इत्यादिषु । 'तज्जलानिति शान्त उपासीत'
'इति प्राचीनयोग्योपास्व'* इत्यादिषु च । तथा 'ब्रह्मकि
मोति परम्'§† इत्यादिषु ब्रह्मस्वरूपोपासनातत्फलादिकमुप
श्यते । अन्यथा सत्यत्वाधिविशिष्टब्रह्मणा सह कथं सकल
मावाप्तिः फलं तादृशब्रह्मसाक्षात्करणं च सिद्ध्यति । 'स
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'†† 'आनन्दं ब्रह्म'‡ 'आकाशशरीरं ब्र
सत्यात्मप्राणारामं मनआनन्दम् । शान्तिसमृद्धममृतम्'†† 'स
सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् । ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षम्
इति सत्यज्ञानानन्दस्वरूपं स्वात्माराममुपशान्तसकलोपद्रवक
सकलमङ्गलात्मकं परमशक्त्या अविनाभूतया शबलरूपत्वेन
ष्णपिङ्गलं विरूपाक्षं त्रिलोचनं ब्रह्म उपक्रमादितात्पर्यलिङ्गं
प्यते । 'यो वेद निहितं गुहायाम्'††† इति प्राचीनयोग्यो
स्व'§ इति ज्ञानाविनाभूतं तदुपासनं विधीयते । 'स
न्कामान्'††† इत्यादिना सकलकामावाप्तिर्ब्रह्मणा सह उप
कानामवगम्यते । अतो निष्कामनिजधर्मोपेतो निषिद्धकाम्यक

*श्वे. ३-७.

†श्वे. १-८.

‡वृ. ह. ४-४-२३.

§अथर्वशिखा.

¶छा. ३-१४.

***तै. १-६.

††तै. २-१.

‡‡वृह. ३-९-२८.

§§महाना. १२

हितो यथाश्रुतिस्मृतिचोदितकर्मानुष्ठानसंपन्नचित्तशुद्धिः शमाद्य-
नुगृहीतपरमशिवमङ्गिभावित एव मुमुक्षुः श्रुतिसारेभ्यः शि-
वामिधेयं परं ब्रह्म विदित्वा 'तदुपासीत' इति ज्ञानोपासना-
विधिरूपपन्नः । अत्र शिवोपपदग्रहणं विरूपाक्षस्य ब्रह्मणः पर-
मविशुद्धिमङ्गलभाजनत्वात् मुमुक्षूणामुपासनैकविषयत्वद्योतनार्थम् ।
तथाऽथर्वशिखायां 'शिव एको ध्येयः शिवङ्करस्सर्वमन्यत्परित्य-
ज्य'* इति श्रूयते शिवशब्दवाच्यस्यैव वस्तुनः ध्येयत्वमिति । अन्य-
था कथं संसारनिवृत्तिः ? निरस्तसमस्तदोषकलङ्कनिरतिशयमङ्ग-
लाधारत्वं हि शिवत्वम्, यज्ज्ञानान्मोक्षरूपं फलमुच्यते—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।

तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

इति । 'शिव एको ध्येयश्शिवंकरस्सर्वमन्यत्परित्यज्य'* इति शि-
वव्यतिरिक्तस्य मुमुक्षूणां ज्ञेयत्वं ध्येयत्वं च परिसंख्यायते । अत-
श्शिव एव परं ब्रह्म मोक्षकामैः ज्ञातव्यो ध्यातव्य इति । अतः
तात्पर्यलिङ्गसमन्वयेन ब्रह्मपरा वेदान्ताः तदुपासनविधिपराश्चे-
त्यविरोधः ॥ ४ ॥

५. अधिकरणम्.

उक्तस्य ब्रह्मलक्षणस्य प्रधानेऽतिव्याप्तिमाशङ्क्याह—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

छान्दोग्ये श्रूयतेऽस्य विषयः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदे-
कमेवाद्वितीयम्.....तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' इत्यादि ॥†

इह पूर्वभावितया सकलप्रपञ्चस्यास्य कारणतया श्रवणं सदिदि वस्तु ब्रह्म वा? प्रधानं वा? इति सन्देहः ॥

प्रधानस्यैव जगत्कारणत्वं युक्तं 'अजामेकां लोहितगुणकृष्णां वर्हीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्'* इति श्रुत्यन्तरे श्रवणं अत्र हि बहुप्रजाजनकत्वं लोहितादिवर्णागुमितरजस्सत्त्वतमोत्पत्त्या सांख्यप्रकृतेरवगम्यते । तदाक्षुण्ण्येनात्रापि सच्छब्दवाच्यं जगत्कारणं प्रधानमेव । रजस्सत्त्वयोगादस्य क्रियाज्ञानशक्तिसंबन्धोऽपि युज्यते, येन जगत्कारणत्वसिद्धिः । अचेतनस्य प्रधानस्य जगदाकारपरिणामो युक्तः, न चेतनस्य परमेश्वरस्य कृत्स्नस्य, कारणविकृतिरूपत्वात्परिणामस्य । ततो न्यायतः श्रुतिश्च प्रधानमेव जगत्कारणं सत्पदवाच्यम् ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—अशब्दमालुमानिकं प्रधानं न जगत्कारणं सत्पदवाच्यं वस्तु, अपि तु ब्रह्मैव चेतनं, 'ईक्षतिश्रवणात्'† इति दैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति† इति । न ह्यचेतने प्रधाने कश्चिन् न धर्मः ईक्षतिस्संभवति ॥

यदुक्तं 'वर्हीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्'* इति श्रवणं सांख्यप्रकृतेरत्र जगत्कारणत्वमिति, तदसंगतम्,—'चमसर्वशेषात्'† इति सूत्रे हि परमेश्वरकारणिकाया एव प्रकृतेर्वहुप्रजाजनकत्वमित्युपपादयिष्यामः । रजस्सत्त्वरूपतया क्रियाज्ञानशक्तिसंबन्धः प्रधानस्येति यदुक्तं तदयुक्तम्, त्रिगुणात्मिका प्रकृतेः तमःपार्थक्येन रजस्सत्त्वयोगाभावात् । तस्मान्न न्यूनं रजस्सत्त्वयोरुद्वेके ज्ञानक्रियासंबन्धः प्रधानस्येति न वाच्यं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरित्यङ्गीकारात् ।

स्थस्य परमेश्वरस्य जगदाकारेण परिणामो विकारहेतुरिति
वदन्मणि, तदज्ञानविलसितम्—नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचि-
च्छक्तिविशिष्टस्य परमेश्वरस्य कारणत्वं, नामरूपविभागार्हस्थूल-
चिदचिच्छक्तिविशिष्टस्य कार्यत्वमिति वदतामस्माकं तत्प्रसंग-
भयाभावात् ॥

ननु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'* इत्यादि-
ना सद्रूपं वस्तु निर्विशेषमवधारणादवगम्यते । कारणावस्थामेत-
त्कथं सूक्ष्मप्रपञ्चविशिष्टमित्युच्यते ? इति चेत्—'सदेव' इत्य-
वधारणेन न विशेषनिषेधः, किंतु असत्कारणत्वनिषेधः,
'असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत'† इति श्रव-
णादसत्कारणत्वस्य भ्रान्तिप्रसक्तत्वात् ॥

किंच—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'* इत्यत्र
कथं निर्विशेषत्वं ब्रह्मणः ? 'आसीत्' इति हि क्रियाविशेषः, 'अग्रे'
इति कालविशेषः, 'एकमेव' इत्यवधारणं अधिष्टान्तरनिषेधपरम्,
अद्वितीयमिति जगदुपादानत्वमुच्यते । अत एव सर्वज्ञमनन्त-
शक्तिविशेषं च,—कथं सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वविशेषमन्तरेण जगदु-
भयकारणत्वं ब्रह्मणो भवति ? । अथवा—प्रकृतिप्रत्ययात्मकस्य
सत्पदस्य नैकवस्तुपरत्वं युक्तं, प्रकृत्या प्रत्ययेन च सत्पदस्य
वस्तुद्वयप्रतिपादनपरत्वात् । तथा ह्यभियुक्तसूक्तिः—

शक्तिदिशवश्च सच्छब्दप्रकृतिप्रत्ययोदितौ ।

तौ ब्रह्म सामरस्येन समस्तजगदात्मकौ ॥

इति । स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रपञ्चरूपशक्तिविशिष्टः परमेश्वर एव
कार्यकारणरूपस्सत्पदस्य विषय इति निर्णयः ॥ ५ ॥

पुनराशङ्क्य परिहरति—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥

ईक्षतेः चेतनधर्मस्य अचेतने प्रधाने योगाभावात् चेतनमेव परं ब्रह्म सत्पदवाच्यं कारणमिति प्रतिपादितम् । तदसंगमेव—‘तत्तेज ऐक्षत, ता आप ऐक्षन्त’* इत्यादिष्वचेतनेष्वपि ईक्षतिर्यथा गौणश्चक्षते तथा प्रधानेऽपि गौण इति चेत्—न, चेतनवाचिन आत्मशब्दात्, ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’* इत्यारम्भ उपसंहारे ‘स आत्मा तत्त्वमसि’* इति श्रवणात् । तेजःप्रसूतिष्वपि न गौणजीक्षतिश्रवणं, तत्तदात्मतया परमेश्वरस्य चेतनस्यानुवृत्तेः ॥

नन्वीक्षतिश्रवणं गौणमभ्युपेत्यापि अचेतनं प्रधानं सद्रूपं जगतः कारणमिति वक्तुमशक्यम्, तस्य चेतनत्ववाचिन आत्मशब्दादिति निरूपितम् । भवतु नात्मशब्दस्याचेतनं प्रधानमिति । भवति तु चेतनस्य जीवस्यात्मशब्दवाच्यत्वं मुख्यम् । ततो जीव एव चेतनो जगत्कारणं सद्रूपमित्यत आह—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

सत्पदवाच्यतत्त्वनिष्ठस्य मोक्ष उपदिश्यते ‘तस्य तावदेतच्चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये’* इति । तस्मान्न प्रधानजीवश्चात्र सत्पदविषयः । प्रधानकारणवादिनामपि तन्निष्ठस्य मोक्षो नाभिमतः, त्याज्यत्वात् । न च जीवनिष्ठस्य, निषेधात् ‘शिव एको ध्येयश्चिद्विकारस्सर्वमन्यत्परित्यज्य’† इति ॥

पुनरपि स्पष्टमेव हेतुमाह प्रधाननिराकरणे—

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

यदि प्रधानमेवात्र विवक्षितं, तदा तस्य हेयत्वमेवोच्येत ।
'तत्त्वमसि'* इति मोक्षहेतुतया ध्येयत्वमुच्यते । ततो न प्रधानमिति युक्तम् ॥

किञ्च प्रधानपक्षे विरोध इत्याह—

प्रतिज्ञाविरोधात् ॥ ९ ॥

इतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यं, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञान-
प्रतिज्ञाविरोधात् । सत्पदवाच्यतत्त्वज्ञानेन तत्कार्यतया सकल-
चेतनाचेतनवस्तुविज्ञानं भवतीति 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति'* इत्या-
दिना प्रतिज्ञायते । प्रधानकारणत्वे विरुद्धमेतत्, चेतनस्य
प्रधानकारणत्वायोगात् ॥

प्रधानकारणे ज्ञाते जाड्यविकारास्पदं तत्कार्यमिदं च सर्वं
ज्ञायते यथा मृदि ज्ञातायां तत्कार्यं व्रदादिकम् । अतः कोत्र
विरोध इत्याशङ्क्याह—

स्वाप्ययात् ॥ १० ॥

इतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यं 'स्वप्नान्तं मे सोम्य वि-
जानीहि' इति, यत्रैतत्पुरुषस्त्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो
भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते* इति जीव-
स्य चेतनस्य सता सम्पन्नस्य स्वाप्ययवचनात् । स्वाप्ययः
प्रलयः । अचेतने प्रधाने चेतनस्य लयो न युक्तः । अतो न
प्रधानं सदुच्यते ॥

सच्छब्देन परमेश्वर एव प्रतिपाद्यते न प्रधानमित्याह—

गतिसामान्यात् ॥ ११ ॥

यथाऽस्यामुपनिषदि सत्पदस्य परमेश्वरवाचित्वेन गतिः
तथा श्रुत्यन्तरेऽपि समाना । ‘पुरुषो वै रुद्रस्सन्महो नमो
नमः’* इत्यादौ । अतस्सत्पदवाच्यः परमेश्वर एव ॥

व्यक्तमेवास्यामुपनिषदि सत्पदवाच्यादात्मनः सर्वोत्पत्तिः
श्रूयते इत्याह—

श्रुतत्वाच्च ॥ १२ ॥

अत्रापि ‘आत्मतः प्राणः आत्मत आकाशः’† इत्यारम्भः
‘आत्मत एवेदं सर्वम्’‡ इति श्रूयते । ततो जगत्कारणत्वे
सत्पदवाच्यं ब्रह्मैव न प्रधानमिति सिद्धम् ॥

६. अधिकरणम्.

इह ब्रह्मलक्षणस्य जगत्कारणत्वस्य शास्त्रैकसमाधिगम्यत
तान्त्रिके प्रधानेऽतिव्याप्तिमाशङ्क्य चेतनत्वादिहेतुना यथा त
स्मिन्नतिव्याप्तेर्न भवति तथा निरूपितम् । अचेतने प्रधाने
इव चेतनेऽपि जीवे तन्नातिव्याप्तिमिति वक्तुमधिकरणान्तरमा
रभ्यते—

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १३ ॥

‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्संभूतः’† इत्यारम्भः
‘तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्, अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः’‡

* महाना.

† छा. ७-२५.

‡ तै. २-१, ५.

इति कश्चिदाकाशादिसकलभूतकारणत्वेन अन्नमयादिकोशक-
ञ्चुकान्तरनिगूढ आत्मा आनन्दमय इति आनन्दवल्ल्यामा-
न्नायते ॥

अज्ञानन्दमय आत्मा जीवो वा? परमेश्वरो वा? इति
सन्देहः ॥

जीव इति पूर्वः पक्षः, तद्धर्माणामत्रोपलम्भात् । तथाहि—
'पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योन्नम्, अन्नात्पुरुषः'* इत्यादिना
पञ्चावयवं शरीरादिकं निरूप्यते । अत्र 'अन्नमयः' इति श-
रीरमुच्यते । 'प्राणमयः' इति तदन्तर्वर्ती प्राणः । 'मनोमयः'
इति तदन्तर्वर्ति मनः । 'विज्ञानमयः' इति तदन्तर्वर्तिनी बुद्धिः ।
'आनन्दमयः' इति सर्वेषामन्नमयादीनामाश्रयो जीव एव ।
अज्ञादीनां शिरःप्रभृतिकल्पना समुपासनार्था । अज्ञादीनां
ब्रह्मत्वेनोपासनात् तत्तदज्ञादिसंमृद्धिः फलमुक्तम् । कथमस्य
संसारसागरदुःखमज्ञस्य जीवस्यानन्दमयत्वाभिधानमिति चेत्—
न, अज्ञानन्दशब्देन परं ब्रह्मोच्यते 'आनन्दो ब्रह्म'† इति श्रव-
णात् । मयद्वन्द्वस्य विकारार्थत्वात् तत्कार्यभूतो जीव एव
आनन्दमय इत्युच्यते । नित्यसंपन्नशिवत्वस्य ब्रह्मणः आनन्द-
मयत्वाङ्गीकारे 'अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे
शुद्धयन्ताम्'‡ इति शुद्धिप्रार्थना व्यर्था स्यात् । अतोऽयमा-
नन्दमय आत्मा जीव एव न परमेश्वरः ॥

इति प्राप्ते धूमः—आनन्दमयोयमात्मा परमेश्वर इति । कु-
तः? अस्यानन्दस्य निरतिशयत्वेनाभ्यासात् । कथमभ्यस्यते?
'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति'§ इत्यारभ्य मानुषविशेषादि-
प्रजापतिपर्यन्तं तत्तदानन्दस्योपर्युपरि शतगुणमतिशयमभिधाय
'स एको ब्रह्मण आनन्दः'§ इति ब्रह्मानन्दो निरतिशयशिरस्क-

त्वेनाभ्यस्यते । तदेतद्विरातिशयानन्दभाजनत्वमस्य संसारिणोः
संभवति ॥

यदुक्तं आनन्दमयस्येश्वरत्वे नित्यशुद्धस्य तस्य कथं हि
शुद्धिप्रार्थनेति । तत्रेदमुत्तरम्—यथा प्रकटप्रकाशस्य चन्द्र-
तिरोधायकघनापगम एव प्रसादः तथा तस्य नित्यशुद्ध-
तिरोधानमलापनयनमेव शुद्धिः । तस्मादानन्दमयः परमेश्वर एव

नन्वानन्द एव ब्रह्मेत्युच्यते, तद्विकार आनन्दमयः,
यतो विकारार्थत्वात् । आनन्दमयस्येश्वरत्वाभ्युपगमे ब्रह्मणो
न्य ईश्वर इति प्राप्नोति । तथा सति तस्य विकाररूपत-
दनित्यत्वं चेत्याशङ्क्यामाह—

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १४ ॥

अन्नमयादीनां यथाऽस्त्रादिविकाररूपत्वं तथाऽऽनन्दमय इत-
नन्दविकारः, यथा सृष्टिकारो हि सृष्टमयो घटादिः । अतः
रमेश्वरस्य विकारत्वालसंभवात् अथं जीव एवेति चेत्—न,
यदुक्तस्यात्र प्राचुर्यार्थत्वात् । अन्नमयप्राणमयमनोमयपर्यन्त-
मयः विकारार्थः । विज्ञानमयो विज्ञानप्रचुरो जीवः । आ-
नन्दमयोऽप्यानन्दप्रचुरः परमेश्वरः ॥

सर्वथा विकारप्रकरणपठितत्वात् विकारार्थ एव समु-
तो मयदुद्ध इत्याशङ्क्याह—

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १५ ॥

‘एष ह्येवानन्दयाति’* इति जीवान्प्रत्यानन्दहेतुतया

न्दमयश्चूयते । स्वयं प्रचुरानन्दो हि परानानन्दयति । अतः
परमेश्वर एवानन्दमयः ॥

आनन्दप्रचुरः परमेश्वरः आनन्दमय इत्युक्तेऽपि ब्रह्मणोऽ-
न्य एवायमिति गम्यते, 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'* इति ब्रह्माधा-
रत्वेनास्यावगमात् । परमेश्वरादन्यत्वाङ्गीकारे ब्रह्मणोऽस्वात-
न्त्र्यात् जगत्कारणत्वाद्यसंभवः । अतो जीवपक्ष एव समीची-
न इत्यत आह—

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १६ ॥

यत् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'† इति मन्त्रवर्णोदितं ब्रह्म,
तदेव 'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः'* इति आनन्दप्रचुरतया आ-
नन्दमय इति गीयते । 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'* इति ब्रह्मशब्दः
प्रणववाचकः, तस्य परमेश्वरवाचकत्वादाधारत्वम् ॥

अत्र केचिदाहुः—परमाकाशरूपः प्रकृत्यात्मा आनन्दमय
इति श्रूयते, न विश्वाधिकं निमित्तं परं ब्रह्म यत् 'सत्यं
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'† इत्युच्यते । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश-
स्संभूतः'‡ इत्याकाशादिप्रपञ्चप्रकृतित्वेन श्रुत आनन्दमयः पर-
माकाशः । परमाकाशरूपत्वमस्य 'यद्देश आकाश आनन्दो
न स्यात्'§ इत्यतोऽवगम्यते । 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'* इति
ब्रह्म आनन्दाकाशस्याधारत्वेनावगम्यते । अत एव 'स एको ब्र-
ह्मण आनन्दः'§ इति ब्रह्माश्रितत्वेनावगम्यते । पुनरेष एव
'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्, आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि'¶
इत्यादिना सकलभूतप्रकृतित्वेन अभिधीयते । तत्र 'आनन्दो ब्रह्म'
इत्यानन्दस्य ब्रह्मत्वव्यपदेशस्तु ब्रह्मधर्मत्वेन तदभेदात् 'सैषा

* तै. २-५.

† तै. २-१.

‡ तै. २-७.

§ तै. २-८.

¶ तै. ३-६.

भार्गवी वारुणी विद्या, परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता* इति धर्मस्वरूपे परमानन्दरूपे प्रपञ्चप्रकृतौ परमशक्तिपर्याये चित्त्मानि परमे व्योम्नि वारुणी विद्या समासेत्युच्यते । ततो धर्मस्वभावः प्रकृत्यात्मा परमाकाशरूपा परमशक्तिः आनन्द इत्युच्यते । तद्धर्मित्वेन प्रतिष्ठेत्युच्यते परं ब्रह्म । विज्ञानमयं तदुपासको जीवः । प्रतिष्ठाभूताद्धर्मिणः ब्रह्मणः धर्मभूतस्यानन्दमयस्य शक्त्यात्मनः भेदादर्शनादानन्दमय आत्मा ब्रह्मेत्यपि प्रायेण 'आनन्दमयोभ्यासात्' इति सूत्रकारेण सूत्रमवतारितमिति ॥

अन्ये पुनः—'अस्माल्लोकात्प्रेत्य, एतमन्नमयमात्मानमुपासकम्य'† इत्यादावन्नमयादीनां प्रत्येकं चेतनवाचकात्मश्रुतिसिद्ध्यन्धात् संसारलोकादुत्क्रान्तस्य मुक्तस्य क्रमप्राप्यत्वावगमाच्च सर्वथा अन्नमयादय आत्मानः पञ्च चेतना अन्नाद्यनुमितपदभूताधिष्ठातारः कारणभूतपुरुषाः ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवसंज्ञा अन्नमयाद्यात्माधारस्य सदाशिवस्यानन्दमयस्यापि कारणं परमेशिवाख्यं ब्रह्म तत्प्रतिष्ठेत्युच्यते । तदभेदादानन्दमयस्य ब्रह्मत्वोपदेश इति सर्वथा आनन्दमयः परमेश्वर इति सिद्धम् ।

७. अधिकरणम्.

ब्रह्मणः परमेशिवस्य समन्वयसिद्धं जगत्कारणत्वादि लक्षणं प्रधानजीवयोर्न व्यभिचरतीति स्थापितम् । अतएव जीवसमष्टिरूपस्य हिरण्यगर्भस्य जगत्कारणत्वादिकं श्रुत्यत आह—

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १७ ॥

यतः प्रसूता जगतः प्रसूती

तोयेन जीवान् व्यसस्सर्ज भूम्याम् ।

यदोषधीभिः पुरुषान्पशूँश्च

विवेश भूतानि चराचराणि ॥*

इति श्रूयते महोपनिषदि अस्य विषयः ॥

अत्र सकलजगत्प्रसूत्यादिहेतुत्वेन श्रूयमाणः पुरुषः पर-
मेश्वरः ? उतान्यो वा ? इति संशयः ॥

हिरण्यगर्भ इति पूर्वः पक्षः । कथम् ? तल्लिङ्गात्—

एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मकः ।

भोगिशय्यागतश्चेते त्रैलोक्यग्रासवृंहितः ॥

इति पुराणवचनाद्ब्रह्मणः समुद्रशायित्वमवगम्यते । तदिह श्रूय-
ते तल्लिङ्गम्—‘यमन्तस्समुद्रे कवयो वयन्ति’* इति । ‘प्रजा-
पतिश्चरति गर्भे अन्तः’* इति सर्वोपक्रमे सर्वानुप्रविष्टतया अव-
गम्यते । उपसंहारे च ‘सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्प-
यत् । दिवं च पृथिवीं च’* इत्यादिना तस्यैव कारणत्वमव-
गम्यते । तस्मादुपक्रमोपसंहारसिद्धस्य हिरण्यगर्भस्य अवान्त-
रवाक्यासिद्धसर्वधर्मोपपत्तिः । किंच—तत्प्रतिपादनप्रदेशान्तरोप-
संहारश्च कृतः ‘अद्भ्यस्संभूतो हिरण्यगर्भ इत्यष्टौ’* इति । ‘अ-
द्भ्यस्संभूतः’ इत्यत्र प्रजापतिरेव प्रतिपाद्यः, ‘प्रजापतिश्चरति गर्भे
अन्तः, अजायमानो बहुधा विजायते’† इति दर्शनात्, ‘हि-
रण्यगर्भस्समवर्तताग्रे’‡ इत्यत्रापि ‘प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः’ इति
श्रवणात् । ततो हिरण्यगर्भ एव जगत्प्रसूतिहेतुत्वादिना प्रति-
पाद्यते ॥

* महाना. १.

† तै. आ. ३-१३.

‡ तै. सं. ४-१-८,

इति प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वरादितरो भिक्षो हिरण्यगर्भोऽत्र ।
प्रतिपाद्यः, जगत्प्रसूतिहेतुत्वादीनां परमेश्वरधर्माणां तस्मिन्
पपत्तेः । 'यतः प्रसूता जगतः प्रसूती' * इत्यारभ्य जगत्प्रसूति
हेतोस्तस्य—

अतः परं नान्यदणोयसं हि परात्परं यन्महतो महान्त
यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात्

इत्यादिना सर्वोत्कृष्टत्वं तमसः प्रकृतिमण्डलात्परत्वं चावगम्यते
तदण्डान्तर्वर्तिनो हिरण्यगर्भस्य न संभवति । किञ्च—'य
विदुरमृतास्ते भवन्ति' * इति अस्य ज्ञानादमृतत्वं मुक्तिर्नि
धीयते । तन्न हिरण्यगर्भे संभवति; परमेश्वरस्य हि मुक्ति
तुत्वं असाधारणं लिङ्गम्—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।

तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥†

इति श्रवणात् ॥

यदुक्तमुपक्रमोपसंहारसिद्ध इति, तदप्रयोजकम्—अनुप
त्या प्रजापतिधातृशब्दौ हिरण्यगर्भं विहाय प्रजानां पशूनां
ति जगद्धारकं परमेश्वरमेव प्रतिपादयतः । 'अद्भ्यस्तं
हिरण्यगर्भः' * इत्युभत्रापि परमेश्वर एव प्रतिपाद्यः । 'य ईशो अ
द्विपदश्चतुष्पदः' ‡ 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' § इति वि
श्वरत्वविश्वातीतव्यलिङ्गात् । ततो जगत्कारणत्वादिना प्रजापति
शब्दवाच्यः परमेश्वरो न हिरण्यगर्भः ॥

परमेश्वरेण हिरण्यगर्भस्याभेदात् जगत्कारणत्वमस्तीति
आह—

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १८ ॥

अस्यां महोपनिषदि परमेश्वरहिरण्यगर्भयोः भेदो व्यपदि-
श्यते कारणकार्यत्वेन 'यो देवानां प्रथमं पुरस्ताद्विश्वाधिको
रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्'* इति । अतो
हिरण्यगर्भादेः सर्वप्रपञ्चस्य कारणत्वमोश्वरस्येति सिद्धम् ॥

पुनराशङ्क्याह—

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १९ ॥

'प्रजापतिरकामयत प्रजास्सृजेयेति'† इति सर्वत्र श्रुतिपु-
संकल्पो हिरण्यगर्भस्य जगत्सृष्टौ श्रूयते । तथाऽपि तस्य
जगत्कारणत्वे अनुमानापेक्षा युक्त्यपेक्षा नास्ति, तस्य काम-
स्यावान्तरसृष्टिविषयत्वात् । परमेश्वरस्यैव हिरण्यगर्भात्मना
अयान्तरसृष्टिश्चेति वक्ष्यति— 'संशामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत
उपदेशात्'‡ इति ॥

'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'§
इति हिरण्यगर्भरूपेणात्मना प्रपञ्चानुप्रविष्टस्य परमेश्वरस्य नाम-
रूपकर्तृत्वश्रवणात् अनयोरभेद एवाभ्युपेय इत्यत आह—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ २० ॥

अस्मिन् उपनिषत्तन्त्र एव अस्य हिरण्यगर्भस्य तद्योगं
तस्य परमेश्वरस्य शेषत्वसंबन्धं शास्ति मन्त्रभागः— 'ब्रह्माधि-
पतिर्ब्रह्मणोधिपतिः'¶ इति । अतः परमेश्वर एव जगत्कारणम्,
तच्छेषभूतो हिरण्यगर्भ इति सिद्धम् ॥

*महाना. १२.

† तै. सं. ३-१-१.

‡ ब्र. सू. २-४-२०.

§ छा. ६-३.

¶ महाना. २१.

८. अधिकरणम्.

तदितःपूर्वैरधिकरणन्यायैः सर्वज्ञं नित्यतृप्तं अनादिकेषु
स्वतन्त्रं अलुप्तशक्तिकं अनन्तशक्तिकं सकलजगदुभयकारणं
मस्तोपनिषत्तन्त्रसमन्वयैकप्रतिपाद्यं स्वप्रकाशनिखिलप्रपञ्चवित्
ष्टाद्वितयिस्वभावं सच्चिदानन्दस्वरूपं संसारपाशविच्छेदकारि
चिदचिदर्थान्तरं शिवतत्त्वं परं ब्रह्मेति सिद्धम् । तस्य सा
कानां संसारभेषजं मनस्समाधानयोग्यं किमपि रूपं प्रदर्शयि
इदमधिकरणमारभ्यते—

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ २१ ॥

‘य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यस्य
श्रुहिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कथा
पुण्डरीकमेवमक्षिणी’* इति छान्दोग्ये श्रूयतेऽस्य विषयः ॥

अयमादित्यान्तर्वर्ती हिरण्मयः पुरुषः परमेश्वरो देवताविशेषो
वेति संशयः ॥

एवं सति सर्वाधारस्य सर्वगतस्य परमेश्वरस्यादित्यान्त-
र्तित्वं हिरण्मयरूपत्वं च न संभवति, स्वेच्छया रूपाङ्गीक-
त्रिलोचनत्वनियतं तदिह न विद्यते । ‘पुण्डरीकमेवमक्षिणी’
इति लोचनद्वयमेव श्रूयते । अथ वा—स्वेच्छागृहीतोपि दे-
संसारिणामिव परमेश्वरस्यापि दुःखमुत्पादयेदेव । स्वेच्छासं-
न्धेऽपि पावकस्य दाहकत्वं हि स्वभावः । अतः परमेश्वरस्य
शरीरसंबन्धो न युक्तः । तस्मादयं कश्चिद्देवताविशेष एव,
परमेश्वरः इति पूर्वपक्षन्यायः ॥

सिद्धान्तस्तु—परमेश्वर एव । कुतः ? तद्धर्माणामुपदेशात् ।
 ‘स एव सर्वेषां लोकानामीष्टे सर्वेषां कामानाम्’ ‘तस्योदितिनाम
 स एव सर्वेश्वरः पाप्मश्च उदितः’* इत्यादिना प्रतिपादिताः
 सर्वलोककामेश्वरत्वसर्वपापराहित्यादयो धर्मा हि पारमेश्वराः,

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः

य इमान्लोकानीशत ईशिनीभिः ॥†

एको बहूनां यो विदधाति कामान्‡

इत्यादिश्रवणात् ॥

सर्वाधारस्य सर्वगतस्य आदित्यान्तर्वर्तित्वं न संभवतीति
 यदुक्तं तत्र न विरोधः, सर्वाधारः सर्वगतः परमेश्वरः
 साधकानुग्रहाय हिरण्मयं किमपि रूपं समास्थाय सवि-
 तृमण्डलमाधिवसति । शरीरसंबन्धादस्मदादिवदोश्वरस्य न
 संसारदोषापात्तिः । श्रुतिरेव भगवती ह्यस्य शरीरसंबन्धं सर्व-
 पापराहित्यं च प्रतिपादयति । वयं हि श्रुतिप्रामाण्यशरणा न
 युक्तिं बहु मन्महे । पावकोऽपि संबन्धात् न शक्तिमतां दाहकः ।
 ‘यथा कण्थासं पुण्डरीकमेवमाक्षिणी’* इति त्रिलोचनस्य परमे-
 श्वरस्य लोचनद्वयग्रहणं पुण्डरीकसादृश्यवर्णनार्थं, न तृतीय-
 लोचनाभावद्योतनपरम् । तथा हि—त्रिपुत्रं ब्राह्मणं प्रति द्वौ
 पुत्रावस्याग्निकल्पावित्युक्ते द्विसंख्याग्रहणं न शेषपुत्रनिषेधपरं,
 किन्तु पुत्रद्वयस्याग्निसादृश्यपरम्, तद्वदत्रापि । कं उदकं रश्मि-
 भिः पिवतीति कापिरादित्यः, तेनासितं विकसितं पुण्डरीकं
 यथा स्फुरति तथा परमेश्वरस्य लोचनद्वयम् । तृतीयलोचनं
 तु मुकुलितस्वभावं विकसितपुण्डरीकसदृशं न भवति, मुकु-
 लितपुण्डरीकसदृशमित्यभिप्रायः ॥

‘असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः, उत्तैनं गो-
अहश्नदृशद्बुद्धार्यः, उत्तैनं विश्वा भूतानि स दृष्टो मृडयान्-
नः’* इति नीलग्रीवस्य परमेश्वरस्य सर्वभूतप्रत्यक्षत्वावगमान्
‘स्वरुचाहितमण्डलस्त्रिनेत्रो राविः’ इति तस्य त्रिलोचनत्वात्
तेश्च, आदित्य एव प्रत्यक्षः परमेश्वरः प्रभामण्डलमध्यवर्ती । अ-
था कथमस्य नीलग्रीवत्वं त्रिलोचनत्वं चोच्येत, ‘असावा-
त्यो ब्रह्म’† इति ब्रह्मत्वव्यपदेशश्च । तस्मात् ‘अन्तरादित्ये-
इति मण्डलवर्ती सूर्य एव हिरण्मयः पुरुष इत्यत आह—

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २२ ॥

मण्डलाभिमानिनोऽस्मात् चेतनरूपात् आदित्यादन्य ए-
हिरण्मयरूपः परमेश्वरः, भेदव्यपदेशात् ‘य आदित्ये ति-
नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य-
दित्यमन्तरो यमयति एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः’‡ इति ।
त्रामृतशब्देन शिव उच्यते; ‘एतानि ह वा अमृतस्य ना-
धेयानि’§ इति शतरुद्रीयप्रशंसापरजावालोपनिषच्छ्रवणात् ।
दित्याद्भेद एव परमेश्वरस्य तदविदितत्वादिधर्मैः व्यपदि-
ते । तस्मादादित्याच्चेतनादन्य ईश्वरो हिरण्मयः ‘नीलग्रीवो
विलोहितः’* इति नीलग्रीवः परमेश्वर एवादित्यान्तर्वर्ती प्रा-
पाद्यते । तदात्मतया तच्छब्दवाच्यत्वम् ॥

ननु न नीलग्रीवः परमेश्वर आदित्यान्तर्वर्ती, किन्तु न-
रायण एव । तथा हि, सर्वत्र लौकिकाः पठन्ति—

ध्येयस्सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती

नारायणस्सरसिजासनसन्निविष्टः ।

* तै. सं. ४-५-१.

† तै. आ. २-२.

‡ बृह. ५-७.

§ जाबाल.

इति । तस्यैव पुण्डरीकसदृशाक्षिद्वयसंबन्धो युक्तः, पुण्डरीकाक्ष इति प्रसिद्धेः । किमन्यथाप्रतिपादनप्रयासेन ? इति चेत्—

न, परमेश्वरासाधारणलिङ्गानां हिरण्यपुरुषे दृश्यमानानां तस्मिन् नारायणेऽनुपपत्तेः । तथा हि—सूत्रविषयस्य संदिग्धस्यास्य वाक्यस्यासन्दिग्धैर्वाक्यान्तरैर्निर्णयो युक्तः । महोपनिषदि श्रूयते, 'आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति'* इत्यादि । तत्र 'य एष एतस्मिन् मण्डलेऽर्चिर्दीप्यते'* इति मण्डलप्रभा-मुक्त्वा 'य एष एतस्मिन् मण्डलेऽर्चिपि पुरुषः'* इति मण्डलाभिमानिनं सूर्यमभिधाय 'य एषोन्तरादित्ये हिरण्यः पुरुषः'* इति हिरण्यं पुरुषमादित्यान्तर्यामिणमुक्त्वा पुनः 'आदित्यो वै तेज ओजो बलं यशः'* इत्यादिना तस्यादित्यरूपस्य विभूतिमभिधाय 'एष पुरुष एष भूतानामधिपतिः'* इति भूतपतित्वेन तं निर्दिश्य, पुनः कीदृश इत्याकाङ्क्षायां 'सर्वो वै रुद्रः'† इत्यारभ्य 'हिरण्यबाहवे हिरण्यपतयेऽम्बिकापतय उमापतये'‡ इत्युपसंहृतम् । तत्र बाहुग्रहणस्योपलक्षणत्वाद्विरण्यरूप इति तात्पर्यम् । अतो हिरण्यसदृशरूपः उमापतिरादित्यमण्डलवर्तीति सिद्धयति । अत्र नीलग्रीवत्वमुमापतित्वमित्यादे विशेषलिङ्गम्, परमेश्वरादन्यत्र तस्यायोगात् । पुण्डरीकाक्षत्वं साधारणं लिङ्गं, नारायणादन्यत्रापि तस्य दर्शनात् कमललोचना नारी कमललोचनः पुरुष इति । अतो विशेषलिङ्गेन सामान्यलिङ्गस्य बाधः । 'ध्येयः सदा' इत्यादिलौकिकवचनं भाक्तमेव । ततो हिरण्यसदृशरूपस्त्रिलोचनो नीलग्रीव उमापतिः सकललोककामेश्वरः सर्वपाप्मानाव्रातो भगवान् परमेश्वर आदित्यान्तर्वर्ती सावित्रीप्रतिपाद्यः सर्वेषां मुमुक्षूणां ध्येय इति सिद्धम् ॥

१-१०. अधिकरणम्.

सर्वज्ञत्वादिधर्मकस्य परब्रह्मणः शिवस्य परममङ्गलास्पद-
मुपास्यं रूपमभिधाय तल्लक्षणस्य नामरूढिवशादन्यत्रातिव्याप्ति-
शङ्कायामधिकरणमंतरंभ्यते—

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २३ ॥

अत एव प्राणः ॥ २४ ॥

छान्दोग्ये श्रूयतेऽस्य विषयः 'सर्वाणि ह वा इमानि भूत-
न्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति'* 'सर्वाणि ह
वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते'
इति ॥

अत्र सकलभूतोत्पत्तिप्रलयकारणप्रतिपादकौ प्राणाकाशश-
ब्दौ परमेश्वरप्रतिपादनपरौ, किं वा भूताकाशप्राणवायुप्रतिपा-
दनपराविति संदेहः ॥

'प्राणाद्धथेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, प्राणेन जातानि
जीवन्ति, प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'† इत्यादि श्रुतेः, 'आका-
शाद्वायुः'‡ इत्यादिश्रुतेश्च, प्राणाकाशयोरपि सकलभूतकारण-
त्वावगमात् तावेवात्र प्रतिपाद्यौ ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—प्राणाकाशशब्दवाच्यः परमेश्वर एव
सर्वकारणत्वादितल्लिङ्गात् । न ह्यनयोः सर्वकारणत्वादिकं संभ-
वति । तत्रानन्दरूपस्य ब्रह्मणः कारणत्ववादे तात्पर्यं 'प्राणा-
द्धथेव खलु'† इत्यादिश्रुतेः, न प्राणस्य कारणत्ववादे, किंत्वुक्त-
दमात्रम् । आकाशस्य भूतान्तर्वर्तितया सर्वशब्देन ग्रहणात्.

* छा. १-५, ११.

† तै. ३-३.

‡ तै. २-१.

सर्वभूतोत्पत्तिः 'आत्मन आकाशस्संभूतः'* इति श्रुत्या परमेश्वरादेव । तस्मात् सर्वभूतकारणत्वं न भूताकाशप्राणयोरिति सिद्धान्तः ॥

ननु भूताकाश इत्युपपदग्रहणेन किमिति चेत्—परमाकाशस्य परप्रकृतिरूपस्य सर्वभूतकारणत्वसद्भावात् सप्रयोजनम् । तर्हि परमेश्वर इति कथं निर्णयः? तदभेदात्, इति सिद्धम् ॥

११. अधिकरणम्.

पूर्वं निखिलभुवननायकस्य निरस्तसमस्तदोषवासनाकलङ्कस्य निरतिशयमाङ्गल्यरत्नाकरस्य उमापतेः परब्रह्मणः आदित्यमण्डलमास्पदमिति निरूपितम् । तदिह तस्य स्थानान्तरमुच्यते—

ज्योतिश्वरणाभिधानात् ॥ २५ ॥

छान्दोग्ये श्रूयतेऽस्य विषयः 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाच तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः'† इत्यादि ॥

अत्र सकललोकव्यापितया दिवि श्रूयमाणं परं ज्योतिः परमेश्वरो वा तदन्यो वेति संशयः ॥

द्युशब्दस्याकाशवाचित्वात् 'परो दिवः' इत्याकाशवर्ती सूर्य एवात्र प्रतिपाद्यते ज्योतिरिति । अथवा 'अन्तः पुरुषे ज्योतिः' इति पुरुषान्तर्वर्तितया जाठरोऽग्निरिति पूर्वपक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु 'परो दिवो ज्योतिः' इति सर्वोत्तरं प
ज्योतिः परमेश्वर एव ; पूर्वत्र 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि'* इति
ज्योतिषोऽस्यैकांशतया विश्वभूतानामभिधानात् । नैतत् सं
वति जाठाराग्निसूर्ययोः, परिच्छिद्यत्वात् ॥

पूर्वं 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं'* इति सर्वात्मकत्वं
गायत्री प्रतिपाद्यते । प्रकरणात् तदेकांशत्वमेव प्रपञ्चते
'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इति श्रुतिराहेत्यत आह—

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पण

निगदात् तथा हि दर्शनम् ॥ २६ ॥

पूर्वं 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं'* इति छन्दसोऽभिधानात्
तस्यैवात्राभिधानं; न परमेश्वरस्य इति चेत्—नैतत् संभवं
गायत्र्याख्यस्य छन्दोमात्रस्य सर्वभूतात्मकत्वं, किंतु गायत्री
दृश्यानुसंधानोपदेशः परमेश्वरस्य क्रियते, यथा गायत्री प
क्षरैश्चतुर्भिः पादैश्चतुष्पदा तथा ब्रह्मापि चतुष्पादिति । त
ह्यन्यत्रापि छन्दोऽभिधायी शब्दः सादृश्यादर्थान्तरे प्रयुज्यमा
दृश्यते, यथा संवर्गविद्यायां 'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये न
सन्तस्तत्कृतम्'† इत्युपक्रम्य 'सैषा विराट्'† इत्युक्तम् । त
च्च सर्वात्मकतया परमेश्वरस्य लिङ्गेन गायत्रीप्रकरणवाच्य
अतः परमेश्वर एव ज्योतिरिति ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २७ ॥

भूतपृथिवीशरीरहृदयैश्चतुष्पदेति व्यपदेशो न गायत्र्या
छन्दस्युपपद्यते, परमेश्वर एवोपपद्यते ॥

पुनराशङ्क्य परिहरति—

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरो-
धात् ॥ २८ ॥

ननु 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'* इत्यत्र
द्युसंबन्धप्रत्यभिज्ञानाज्ज्योतिर्वाक्ये परमेश्वरः प्रतिपाद्यत इति न
सारम्—उपदेशभेदेन विरोधात् प्रत्यभिज्ञानासिद्धेः । 'त्रिपादस्यामृतं
दिवि'* इति, 'परो दिवो ज्योतिः'* इति विभक्तिभेदेनोपदेशभेदः ।
अतो विरोध इति चेत्—न, उभयत्रापि विरोधाभावात्, यथा वृक्षाग्रे
इयेनः, वृक्षाग्रात् परतः इयेन इति व्यपदेशे । अतः उभय-
त्रापि दिवः परत्वमेव विवक्षितम् । अनेन लिङ्गेन परमेश्वर
एव पुरुषसूक्तोदितः पुरुष इति सिद्धम्; 'पादोऽस्य विश्वा
भूतानि'† इत्यत्रापि श्रवणात् । अतो निजैकांशसमाप्तसकलप्रप-
ञ्चं दिवि दीव्यमानं परं ज्योतिः परमेश्वर इति निर्णयः ॥

१२. अधिकरणम्.

भगवत्सवितृमण्डले साक्षादुपास्यतया निर्दिष्टस्य परमेश्व-
रस्यास्मिन्नधिकरणे विश्वात्मकत्वमुक्तं; तदात्मकतया तदन्येषा-
मुपास्यत्वं नान्यथेति प्रतिपादयितुमिदमधिकरणमारभ्यते—

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥ २९ ॥

अस्य कौषीतकोपनिषदि विषयः श्रूयते—'प्राणोऽस्मि प्रज्ञा-
त्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व'‡ इतीन्द्रवचनं विषयः ॥

अत्रोपासनाविषयत्वेन प्राणशब्दसामानाधिकरण्येन नि-
इन्द्रो वा परमेश्वरो वेति संशयः ॥

इह 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं माम्' इति प्राणशब्दस्य सा-
दिन्द्रेण सामानाधिकरण्यमवगम्यते । 'मामुपास्व' इति त-
षय एवोपासनाविधिः श्रूयते । तस्य प्राणत्वं वृष्टिद्वारा स-
रक्षकत्वादुपपद्यते । सकलोपास्यत्वं च परमैश्वर्यवत्त्वादुपप-
तथा हि श्रुतिः—'इन्द्रो राजा जगतो य ईशे' * इत्यादि । त-
दिन्द्र एवोपास्यतया निर्दिश्यत इति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तः परमेश्वर इति । कुतः ? आनन्दाजरासृता-
त्मादीनां तदसाधारणधर्माणामस्मिन् प्राणशब्दनिर्दिष्टेऽनुग-
'एव प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः'† इति । 'इन्द्रो राजा'
इति श्रुतौ इन्द्रशब्दः ईश्वरविषयः प्रकरणादवगम्यते ॥

आशङ्क्य परिहरति—

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंक्

भूमा ह्यस्मिन् ॥ ३० ॥

नायमुपास्यः परमेश्वरः, उपक्रमे 'मामेव विजानीहि-
शीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम्'† इत्यादिना प्रज्ञातजीवभावस्येन्द्रस्योपा-
त्वोपदेशात् । अत उपसंहारस्तदनुगुणो नेतव्य इति चे-
नैतदुचितम्; उपक्रमादारभ्यास्मिन् प्रकरणेऽध्यात्मसंक्-
परमेश्वरधर्मस्य बाहुल्यात् । तथा हि, उपक्रमे तावत् 'व-
मनुष्याय हिततमं मन्यसे'‡ इति हिततमोपासनं प्रार-
तत् तावत् परमेश्वरधर्मः, तदुपासनस्यैव मोक्षसाधनस्य हि

तमत्वात् । मध्ये च 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीपते एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति'* इति सर्वकर्मकारयितृत्वं श्रूयते । तथा, 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभाचरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः'* इति जडचेतनात्मकसकलप्रपञ्चाधारत्वं श्रूयते ; तच्च परमेश्वरधर्मः । अतः परमेश्वरधर्मबाहुल्यादिहोपास्य इन्द्रो न भवति ॥

कथमिन्द्रो जीवत्वादनुपास्योऽपि स्वविषयमुपासनमुपदिशतीत्याशङ्कयामाह—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३१ ॥

'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'† इत्यादिशास्त्रदृष्ट्या सर्वशब्दवाच्यत्वात् परमेश्वरस्य स्वशरीरकतया स्वशब्दवाच्यं परमेश्वरमेवोपास्यत्वेनोपदिष्टवानिन्द्रः । अत इन्द्रशब्देनोपदेशः परमेश्वरस्य । दृष्टान्तमाह—वामदेववत् । वामदेवो हि स्वस्य परमेश्वरात्मत्वदृष्ट्या 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च'‡ इत्युपदिदेश । तद्वदिन्द्रोपदेशः । अथवा—वेदान्तविज्ञानोपलब्ध्या ब्रह्मात्मसामरस्यभावनया ब्रह्मभावमुपगतस्य विगलितमनुष्यादिदेहविषयकल्पिताहंभावसंकोचस्य संपन्नविश्वाकारपराहंभावस्य वामदेवस्य स्वात्मनः सर्वगतत्वावगमान्मनुसूर्यादिप्रपञ्चभावोक्तिः । एवमिन्द्रस्यापीति निश्चीयते । 'प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा'* इति प्राणशब्देन परं ब्रह्मोच्यते, तस्यानन्दरूपत्वेन सकलप्राणनहेतुत्वात् 'प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः'* इति श्रवणात् । तथा च 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मामुपास्व'* इति ब्रह्मदृष्ट्योपदेशः । तथा हि कृष्णादयोऽप्यर्जुनादीन् प्रत्युपदिष्टवन्तः ॥

पुनराशङ्कयाह—

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासनात्रैवि
ध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३२ ॥

ब्रह्मज्ञानोपासनया ब्रह्मभावमुपगतस्य विगलितजीवसा-
स्य तद्रूपदृष्ट्या स्वस्मिन्नुपास्यत्वसर्वात्मभावोपदेशो युक्तः । अ-
'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनं'* 'यावद्धयस्मिन् शरिरे प्राणो वक्त-
तावदायुः'* इत्यादौ जीवलिङ्गं मुख्यप्राणलिङ्गं च दृश्यते । ततो-
यमुपदेशो न युक्त इति चेत्—नैवं वाच्यम् ; यतो जीवप्रा-
णशब्दवाच्यत्वं परमेश्वरस्य समुचितम्, उपासनात्रैविध्याद्वेतो-
अत्र परमेश्वरस्य स्वरूपेण भोक्तृशरीरेण भोग्यरूपेण चोपास-
त्रिविधमिह विवक्षितं, आत्मतया भोक्तृभोग्याश्रितत्वेन च त-
पपत्तेः । परमेश्वरस्य स्वरूपोपासनमविलम्बेन मुक्तिहेतुः, अ-
दपि द्वयं कालेन । तस्मादिह परमेश्वरात्मकतयेन्द्रस्योपास-
सिद्धिरिति निर्णयः ॥

इति श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचिते ब्रह्ममीमांसाभाष्ये
प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः.

अथ द्वितीयः पादः.

ब्रह्मबोधकानां वेदान्तवाक्यानां आनन्त्यात् प्रतिवाक्यं वि-
रानुपपत्तेः सन्दिग्धानां केषाञ्चिद्विचारेण तन्न्यायैस्तादृशानां
निर्णयो भवतीति कतिचिदेव वाक्यानि तात्पर्यलिङ्गसमन्वये
ब्रह्मबोधकानि सूत्रितानि । तेषु कतिचित् स्पष्टलिङ्गानि प्र-
प्र

पादे विचारितानि, कतिचित् अनतिस्पष्टलिङ्गानि द्वितीयपादे विचार्यन्ते—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

छान्दोग्ये श्रूयतेऽस्य विषयः 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः'* इत्यादि॥

अत्र मनोमयत्वादिधर्मकः श्रूयमाणः पुरुषः परमेश्वरो वा जीवो वेति संशयः ॥

जीव इति पूर्वः पक्षः । कुतः? तस्य प्रत्यासन्नत्वात् । 'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति; स क्रतुं कुर्वीत'* इति कर्मवशादिह परत्र च परिभ्रमन् जीवः प्रस्तुतः पूर्वम् । तदनन्तरं 'मनोमयः' इति श्रूयते । अत एव मनोमयत्वादिधर्मको जीवः । मनोमयत्वप्राणशरीरत्वादिकं च संसारिलक्षणं न परमेश्वरलिङ्गम्; सति यथार्थे असंकल्पः इति सत्यसंकल्पत्वमपि संसारिधर्मत्वेन योजनीयम् । अतः सर्वथा मनोमयत्वादिधर्मको जीव एव, न परमेश्वरः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एव मनोमयत्वादिधर्मकः । कुतः? परब्रह्मणः परमेश्वरस्यैवोपक्रमे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत'* इति सर्वकारणत्वेनोपास्यत्वेनोपदेशात् । श्रुतितात्पर्यं च—'तज्जलान्' इदं सर्वं ब्रह्माधीनजन्मस्थितिध्वंसकम् । एतत् सर्वं चिदचिद्रूपं ब्रह्म खलु इति शान्त उपासीत ब्रह्म इति; यथा सागरे संपन्नजन्मस्थितिविलयं बुद्बुदकदम्बकं तद्रूपमेव दृश्यते तथा शक्तिमति ब्रह्मणि

संपन्नजन्मादिकं तन्मयमेव । तद्व्यतिरिक्तं किंचन नोपलभ्यते
 तथा अथर्वशिरसि निरूपितसीश्वरेण 'अहमेकः प्रथममात्रं
 वर्तामि च भविष्यामि च नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्तः'* इति
 ततश्च तेन 'ब्रह्माहम्'* इत्यादिना विश्वरूपत्वमात्मनः प्रपञ्चितम्
 तत्र विश्वरूपत्वे 'सोन्तरादन्तरं प्राविशत्'* इत्यनुप्रवेश एव
 हेतुरुक्तः । अतो ब्रह्मणाऽपृथक्सिद्धजन्मस्थितिप्रवृत्तिकत्वात् अस्य
 जगतस्तद्व्यतिरिक्तता नास्ति तथाऽभियुक्ता वदन्ति—

शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।

शक्तिस्तु शक्तिमद्रूपात् व्यतिरेकं न गच्छति ॥

तादात्म्यमनयोर्नित्यं बहिर्दाहिकयोरिव ।

शक्तिशक्तिमतोर्यस्मादभेदः सर्वदा स्थितः ॥

अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् परा शक्तिः परात्मनः ।

न बह्वेर्दाहिका शक्तिः व्यतिरिक्ता विभाव्यते ॥

इत्यादि । वायुसंहितायां च—

शक्त्यादि च पृथिव्यन्तं शिवतत्त्वसमुद्भवम् ।

तेनैकेन तु तद्व्याप्तं सृष्टा कुम्भादिकं यथा ॥

पराऽस्य विविधा शक्तिः प्रबोधानन्दरूपिणी ।

एकानेकस्वरूपेण भाति भानोरिव प्रभा ॥ इति ॥

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥^१

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-

र्य इमान्लोकानीशत ईशिनीभिः ॥^२

इत्यादयश्च परब्रह्मणः स्वाभाविकानन्तजगज्जननशासनपालक
 शक्तिमत्त्वं श्रुतयो वदन्ति । किं बहुना—श्रुतिस्मृतीनि

हासपुराणाभियुक्तसूक्तिप्रामाण्यात् सकलचिदचित्प्रपञ्चमहावि-
भूतिरूपा महासच्चिदानन्दसत्ता देशकालादिपरिच्छेदशून्या
स्वाभाविकी परमशक्तिः परब्रह्मणः शिवस्य स्वरूपं च गु-
णश्च भवति । तद्व्यतिरेकेण परब्रह्मणः सर्वज्ञत्व—सर्वशक्तित्व-
सर्वकारणत्व—सर्वनियन्तृत्व—सर्वोपास्यत्व—सर्वानुग्राहकत्व-
सर्वपुरुषार्थहेतुत्वादिकं सर्वगतत्वं च न संभवति । किंच—
महेश्वरमहादेवरुद्रादिपरमाख्यानामभिधेयत्वं च न संभवति ।
तथा च सर्वचिदचित्प्रपञ्चशरीरविशिष्टं ब्रह्म सर्वशब्दवाच्य-
म् । यथा नीलशब्दो न केवलं स्वस्यैव वाचकः, किंतु स्व-
विशिष्टस्योत्पलस्यापि, तथा प्रपञ्चशब्दोऽपि ब्रह्मणः । तस्मात्
सर्वशब्दवाच्यत्वं ब्रह्मणः 'सर्वो वै रुद्रः' इत्यादय उपदिश-
न्ति । ततः 'सर्वं कल्विदं ब्रह्म' इति सर्वचिदचित्प्रपञ्चश-
रीरं ब्रह्माभिधीयते । ततो ब्रह्मरूपत्वात् प्रपञ्चस्य द्वेषाद्यविष-
यत्वाच्छान्त एव ब्रह्मोपासीतेति । एतमर्थं पौराणिकी भणितिर-
प्यभिव्यनक्ति—

विग्रहं देवदेवस्य जगदेतच्चराचरम् ।

एतमर्थं न जानन्ति पशवः पाशगौरवात् ॥

विद्येति चेतनां प्राहुस्तथाऽविद्यामचेतनाम् ।

विद्याऽविद्यात्मकं सर्वं विश्वं विश्वगुरोर्विभोः ॥

रूपमस्य न संदेहो विश्वं तस्य वशे यतः ।

सत्ये साधौ च सच्छब्दः सद्भिरेव प्रयुज्यते ॥

विपरीते त्वसच्छब्दः कथ्यते वेदवादिभिः ।

सच्चासच्च जगद्विश्वं शरीरं परमेष्ठिनः ॥

वृक्षस्य मूलसेकेन शाखाः पुण्यन्ति वै यथा ।

शिवस्य पूजया तद्वत् पुण्यस्य वपुर्जगत् ॥
 आत्मा तस्याष्टमी मूर्तिः शिवस्य परमात्मनः ।
 व्यापिकेतरमूर्तीनां विश्वं तस्माच्छिवात्मकम् ॥
 देहिनो यस्य कस्यापि निग्रहः क्रियते यदि ।
 अनिष्टमष्टमूर्तेस्तन्नात्र कार्या विचारणा ॥
 सर्वोपकारकरणं सर्वानुग्रहणं तथा ।
 सर्वाभयप्रदानं च शिवस्याराधनं विदुः ॥

इत्यादिका । अतः सर्वाकारत्वात् ब्रह्मणः 'सर्वं ब्रह्म' इति
 'शान्त उपासीत' इति समञ्जसमेव । तस्मादुपास्यत्वेन
 उपक्रमगतं ब्रह्मैव मनोमयत्वादिधर्मकम् । न च मनोमयत्वा-
 दिकं संसारिणो लक्षणम्, उपास्याकारपरिग्रहादस्य परिच्छिन्न-
 संभवात् । यदुक्तं ऋतुमयस्य जीवस्य प्रस्तुतत्वान्मनोमय-
 जीव इति, तदयुक्तम्, उत्पत्तिशिष्टब्रह्मावरुद्धायामुपासक-
 मवान्तरप्राप्तस्य जीवस्य प्रवेशयितुमशक्यत्वात्; यथा वि-
 देवावरुद्धायामामिक्षायां वाजिनां न प्रवेशः । अतो ब्रह्मैव स-
 मनोमयत्वादिधर्मवत्त्वेनोपास्यमिति ॥

उपक्रमगतं ब्रह्मैव मनोमयत्वादिविशिष्टमित्युक्ते अवा-
 सिद्धस्य जीवस्य प्रसङ्गोऽनर्थकः स्यादित्याशङ्क्यामाह—

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

सत्यसंकल्पत्वसर्वकामत्वादीनां विवक्षितानां गुणानां
 ण्येवोपपत्तेश्च तदेवोपास्यम्, अवान्तरसिद्धस्तु जीवः
 सकः तदाकाङ्क्षायोगादिति ॥

२. अधिकरणम्.

इह सामान्येन जीवस्योपास्यत्वं नास्ति, किंतूपासकत्वमिति निरूपितम् । पुनरपि सकलजीवसमष्टिरूपहिरण्यगर्भोपादानभूतस्य नारायणस्यापि विश्वाधिकब्रह्मविषयकमुपासकत्वं, नोपास्यत्वमित्यभिधातुमिदमधिकरणमारभ्यते—

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

अस्य महोपनिषदि श्रूयते विषयः 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतं नारायणं । महाज्ञेयम्'* इत्यादि ॥

अत्र विश्वपतित्वादिलक्षणयुक्ततया नारायणशब्दवाच्यो मूर्त्यात्मा परमेश्वरोऽन्यो वेति संदेहः ॥

'सहस्रशीर्षं देवम्'* इत्यारभ्य सहस्रशीर्षत्वादिविधेयत्वेन नारायणस्य मूर्त्यात्मन एवोद्देश्यत्वेनाभ्यासात्, 'समुद्रेऽन्तं विश्वशम्भुवम्'* इति समुद्रशायित्वादितल्लिङ्गाच्च, तत्पर्यायवाचकाच्युतहरिशब्दादिप्रयोगाच्च, नारायण एव मूर्त्यात्मा विश्वपतित्वादिना लिङ्गेन प्रतिपाद्य इति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु—नारायणात्मा महेश्वर इति । कुतः ? विश्वपतित्वादीनां परमेश्वरधर्माणां तदर्थान्तरे नारायणेऽनुपपत्तेः । 'पशूनां पतये...वृक्षाणां पतये...जगतां पतये'† इत्यादिना परमेश्वरे एव निखिलभुवनाधिपत्यमभ्यस्यते । 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमान्लोकानाशित ईशिनीभिः'‡ इति रुद्रव्यतिरिक्तस्य जगदीश्वरत्वं निषिध्यते । 'विश्वाधिको रुद्रः'§ इति विश्वाधिकत्वं च तस्यैव श्रूयते । अतो विश्वपतित्वादिलक्षणो नारायणात्मा परमेश्वर इति समीचीनम् ॥

ननु 'नारायणात्मा' इति नारायणान्तर्यामी परमेश्वर ।
 हृदयम् । तदयुक्तं; 'नारायण परं ब्रह्म'* इति नारायण
 परब्रह्मभावमुक्त्वा 'पद्मकोशप्रतीकाशं'* इत्यादिना पुनः
 हृदयपुण्डरीकस्थानमुक्त्वा 'तस्य मध्ये वह्निशिखा' इत्यादिना
 जीवस्वरूपमुक्त्वा 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा
 स्थितः'* इति परमात्मत्वेन जीवान्तर्यामित्वेन तस्योपासना
 मवगम्यते । 'स ब्रह्मा स शिवः'* इत्यादिना तद्विभूतित्वं ब्रह्म
 वादीनामुच्यते; अतो नारायण एव विश्वपतिः परब्रह्मभूतो
 वान्तर्यामित्वेनोपास्य इति तदात्मकत्वेन तदधिकत्वं तदुपासना
 च परमेश्वरस्य वक्तुमयुक्तमित्यत आह—

कर्मकर्तृव्यपदेशात् ॥ ४ ॥

कर्मत्वं कर्तृत्वं च व्यपदिश्यते तत्र ध्यातृध्येययोः ।
 मेश्वरनारायणयोः । कथं ? 'पद्मकोशप्रतीकाशम्'* इति
 कृतस्य नारायणस्यैव हृदयमुच्यते । 'परमात्मा व्यवस्थितः
 इति परमेश्वर एव परमात्मा तदन्तर्वातितया ध्येयत्वेनोक्तः
 ततो ध्यातृत्वेन नारायणस्य ध्येयत्वेन परमेश्वरस्य च कर्म
 कर्तृत्वं च व्यपदिश्यते । अतो नारायणादन्य एवोपासना
 परमात्मा; 'स ब्रह्मा स शिवः'* इत्यादिना ब्रह्मविष्णुशिव
 प्रपञ्चविभूतिविशिष्टत्वं परमेश्वरस्योपदिश्यते । अत्र विष्णोरप्युपासना
 पि कैवल्योपनिषदि श्रूयते । 'हृत्पुण्डरीकं विरजम्' इत्यादिना
 हृदयपुण्डरीकं प्रस्तुत्य,

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं

त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।

ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं

समस्तसाक्षि तमसः परस्तात् ॥†

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराद् ।

स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः ॥*

इत्यादि । तन्नयायोऽज्ञाध्याहार्यः । 'यो वै रुद्रः स भगवात् भूर्भुवः स्वर्गश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः, यश्च विष्णुः, यश्च महेश्वरः'† इत्याद्यथर्वश्रुतिरपि द्रष्टव्या । अत्र विभूतित्वेन ब्रह्मशिवयोर्मध्ये विष्णोरग्रहणं परमेश्वरोपासकतया तस्य प्रस्तुतत्वादित्यविरोधः ॥

'सहस्रशीर्षा पुरुषः'‡ इत्यारभ्य प्रस्तुतस्य पुरुषस्य 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'§ इति निजैकांशजगद्विशिष्टत्वमुच्यते । 'सहस्रशीर्षं देवम्'§ इति स एवान्न नारायण इति बोध्यते । स चायं 'नारयण परं ब्रह्म'§ इति ब्रह्मत्वेनोच्यते । ब्रह्मैव हि सर्वोपास्यम् । कथमस्य तथाभूतस्यान्यं प्रत्युपासकत्वमित्यत आह—

शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

'नारायण परं ब्रह्म'§ इति शब्दविशेष एव नारायणात् परमिति ब्रह्म प्रतिपादयति । अतो नारायणादन्यदेव परं ब्रह्मोपास्यं ; परब्रह्मणः सहस्रशीर्षत्वादिविशिष्टपुरुषरूपेण जगदुपादानत्वात् । परब्रह्मात्मकस्य तस्य जगदाकारत्वमिति वक्ष्यामः, 'प्रकृतिश्च'¶ इत्यधिकरणे ॥

नारायणस्योपासकत्वे प्रमाणान्तरमाह—

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥**

* कैव.

† अथर्वशिरः.

‡ पुरुषसूक्तम्.

§ महाना. ११.

¶ ब्र. सू. २-१-२३.

** भ. गी. ११-९.

इति स्मृतेश्च महायोगस्वामिनो नारायणस्य परमेश्वरविश्व-
योगः समाधिरभिव्यज्यते । अत्र,

अहं यथावदाराध्यः कृष्णेनाह्लिष्टकर्मणा ।

तस्मादिष्टतमः कृष्णादन्यो मम न विद्यते ॥

इति अश्वत्थामानं प्रति परमेश्वरवचनं च । तस्मादन्यथा-
यणादुपास्यं परं ब्रह्म ॥

पुनरनुपपत्तिमाशङ्क्याह—

अर्भकौकस्त्वान्तद्वयपदेशाच्च नेति चेन्न नि-

चाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥

नीवारशूकवत्तन्वी पीताभा स्यात्तनूपमा ।

तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः ॥*

इति स्वल्पवह्निशिखान्तर्वर्तितया स्वल्पाश्रयत्वादल्पव्यपदेशा-
यं व्यापी न परमेश्वर इति चेत्—न, उपास्यत्वात् तथा च
पदेशः; न स्वरूपाल्पत्वात्; व्योमवत् स्वरूपमहत्त्वस्य सि-
त्वात्—यथा घटादिषूपहितस्य व्योमस्तदुपाधिवशादल्पत्वं न
रूपतो महत्त्वं च । ततो न विरोधः ॥

पुनराशङ्क्य परिहरति—

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

यदुक्तं 'नारायण परं ब्रह्म'* इति नारायणात् परं तदु-
स्यं ब्रह्म, तदेव हि 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णापिङ्गलं
ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं'* इत्युच्यते । तत्र परमशक्तिमायाया-
लाकारतय कृष्णापिङ्गलं कृशानुरेतस्कतया चोर्ध्वरेतस्कं, त्रिं

चनतया विरूपाक्षं, पुरि पूर्वोक्तदहरपुण्डरीके शेत इति पुरु-
षं, ऋतं सत्यं मनोबाष्पिपर्यासरहितं परं ब्रह्म इति लक्षणम् ।
अतोऽस्य त्रिलोचनत्वादिलक्षणशरीरसंबन्धात् शरीरगतसुखदुःखा-
दिसंभोगप्राप्तिरिति चेत्—न, वैशेष्यात् । सुखदुःखभोगहेतुभ्यो
जीवशरीरेभ्यो ब्रह्मरूपस्यास्ति हि वैशेष्यम् ; इच्छागृहीतत्वादस्य,
तेषां कर्ममूलत्वाच्च । अत एव श्रूयते परमेश्वरः ‘अपहतपाप्मा
विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्य-
संकल्पः’* इति संसारिशरीरधर्मरहितत्वेन । न चैवं संसारी
जीवः । अत एवाप्राकृतानि पापजरामरणशोकादिरहितानि स्वेच्छा-
संपादितानि लीलामङ्गलरूपाणि परमेश्वरस्य ‘स्थिरोभिरङ्गैः
पुरुष रूप उग्रः’† इत्यादिषु स्थिराणि नित्यानि विज्ञायन्ते ।
अतः परब्रह्मणः परमेश्वरस्य जीवाद्वैशेष्याच्च तद्वच्छरीरादिगत-
दोषापत्तिः । अत्र खलूपक्रमादिभिर्लिङ्गैर्विरूपाक्षं ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट-
मुपास्यमिति युक्तमेव । तथा हि उपक्रमे—‘अणोरणीयान्’‡
इत्यादिना ‘महिमानमीशम्’‡ इत्यन्तेन सकलजन्तुहृदयगुहा-
वर्तित्वेन स्वप्रसादातिशयवीतशोकपुरुषदर्शनविषयत्वेन महिमा-
तिशयवानीशः प्रस्तुतः । पुनः ‘सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्’‡
इत्यादिना स एव परमशक्तिमान् प्राणादिजगदुपादानत्वेन निरू-
पितः । ततश्च, ‘यो देवानां प्रथमं पुरस्ताद्विश्वाधिको रुद्रो
महर्षिः । हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्’‡ इति विश्वाधिक-
त्वेन सर्वज्ञत्वेन सकलकार्यप्रथमहिरण्यगर्भजनकत्वेन च निमि-
त्तभूतः परामृष्टः । स एव ततः ‘परेण नाकम्’‡ इति परा-
काशगुहावर्ती त्यक्तफलकर्मानुष्ठायिनां वेदान्ततात्पर्यवेदिनां य-
तीनां जितेन्द्रियाणां ‘परामृतात् परिमुच्यन्ति’‡ इति परामृ-
तरूपतया प्राप्यत्वेन वर्णितः । कस्तत्प्राप्तावुपाय इति प्राप्ते

‘दहरं विपाप्मं’* इति दहरोपासनमारब्धम् । तत्र ‘तस्मि
यदन्तस्तदुपासितव्यम्’* इति दहरपुण्डरीके यद्वस्तु तदुपास
मिति सामान्येनोक्तम्; तत् किमित्याकाङ्क्षायां, ‘यः परः
महेश्वरः’* इति महेश्वराख्यं तदुपवर्णितम् । तत् कि
पमित्याकाङ्क्षायां ‘ऋतं सत्यम्’* इत्यादिना विरूपाक्षत्वादिलक्ष
रूपमित्युपसंहृतम् । तत्रावान्तरवाक्यसिद्धौ नारायणः पूर्वा
करणन्यायादुपासकत्वेनान्वेतीति युक्तम् । अत्र सर्वेषामुपासने
धिकारस्य सद्भावेऽपि नारायणग्रहणमस्याधिक्यार्थम् । तत्र
होपास्येन विरूपाक्षेण ब्रह्मणा तदुपासकस्य नारायणस्यामे
भावनया तद्धर्मैरस्य प्रतिपादनमुपादानस्य तदात्मन इति स
मीचीनम् ॥

३. अधिकरणम्.

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥†

इति श्रूयतेऽस्य विषयः ॥

इह मृत्यूपसेचनमिलितब्रह्मक्षत्रोपलक्षितनिखिलचिदचित्
पञ्चकवलभोक्तृतया श्रूयमाणः परमेश्वरोऽन्यो वेति संशयः ।

परमकारुणिकस्य सर्वानुग्राहकस्य सकलभक्षकत्वमनु
तम् । हिंसारूपं हि परप्राणविमोचनम् । हिंसाप्रवृत्तेः क्रो
ध एव मूलङ्कुरः । क्रोधस्यामङ्गलगुणस्य मोह एव मूलक
तस्य सर्वसंहारनिदानस्य तम एव प्रकृतिः । अतस्ताम

सर्वसंहर्ता । तामसत्वं नाम आवृतज्ञानादिमत्त्वाभिप्रकाशत्वम् ।
 सर्वसंहर्तुं ब्रह्मेत्युक्ते तस्य नित्यशुद्धस्य निरुपाधिकमङ्गला-
 करस्य निस्संसारकलङ्कस्य अज्ञानतमोमोहक्रोधादिकामङ्गलगु-
 णसंकरप्रसङ्गः । स्वरूपलक्षणतया निर्णीतं सर्वज्ञत्वं नित्य-
 तृप्तत्वादिकमनर्थमेव स्यात् । तस्मात् ब्रह्मणोऽन्य एताद-
 शगुणः संहर्ता भवतीति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु—ब्रह्मैव सर्वसंहर्तृत्वेन श्रूयते । कुतः ? चराचर-
 ग्रहणात् । यदुक्तं निखिलचराचरप्रपञ्चभोक्तृत्वमयुक्तमिति तदेव
 ब्रह्मत्वे लक्षणं, परिच्छिन्नशक्तेर्जीवस्य सकलचराचरसंहरणसाम-
 र्थ्याभावात् 'तस्मा उपसंहर्त्रे महाप्रासाय वै नमः' * इति प-
 रमेश्वरस्याथर्वशिरसि श्रूयते सर्वसंहर्तृभावो, न कचिज्जीवस्य ।
 'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्' † इति ब्रह्मणो निजप्रकाश-
 ब्रह्मै निखिलभुवनहव्यहोतृत्वमवगम्यते । न चैवमस्ति जीवस्य
 सामर्थ्यं हव्यकोटिनिविष्टस्य । स्वेतरमखिलं चराचरं चिदचित्प्र-
 पञ्चं स्वात्मनि संहृत्य यदा वर्तते परमेश्वरः तदा सर्वमिदं
 निरस्तचन्द्रसूर्यादिप्रकाशतया विध्वस्तरात्रिदिनादिकालविभागं
 अपगतनामरूपविशेषतया स्थूलसूक्ष्मदेवमनुष्यादिव्यवहारशून्यं
 तमोमात्रं वर्तते । स एक एव परमेश्वरो निरङ्कुशप्रकाशः
 सर्वसाक्षी तदानीमपि परिशिष्यते । तथा हि श्रुतिः,—

यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रि-

न सन्न चासच्छिव एव केवलः ‡

इति । अत्र 'न सन्न चासत्' इति सदसतोः पशुपाशयोर्न
 स्वरूपसत्ता निषिध्यते, किं तु नामरूपविभागार्हस्थूलत्वम् ॥

ननु नित्यप्रकाशे शिवे परब्रह्मणि सत्यपि कथं तमोभूतं जगदिति चेत्—न, स्वयंप्रकाशस्य सर्वसाक्षिणः शिवस्य क्व हानिः । नामरूपशून्यतया ग्रहणायोग्येषु विषयेषु विहतकरणशरीर-शक्तीनां जीवानां प्रपञ्चग्रहणं नास्ति मलतिरोहितस्वज्ञानकरणतया शिवस्य स्वप्रकाशरूपस्यापि पूर्वमिव दर्शनं नास्ति । तस्मात् निरस्तसमस्तकार्यविशेषज्ञाना परमसुषुप्तिमयी महावस्था तस्मात् इत्युच्यते । तथा हि स्मृतिः ‘आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्’ इति । नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचित्प्रपञ्चशक्तिविशिष्टतया शिवो केवल इत्युच्यते । स पुनः सर्गकाले स्वसंकल्पमात्रेण सत्त्वाद्यकारणनिरपेक्षमेव स्वस्मात् प्रथमशक्तिपीरस्फुरणपूर्वकं तत्तन्नामविशिष्टमेव सकलं चिदचिदर्थजातं सृजति प्रकाशयति तथाऽभियुक्तसूक्तिः—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः ।

योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥ इति ॥

ननु, ‘मायां तु प्रकृतिं चिदान्मायिनं तु महेश्वरम्’[†] ‘तस्माद्द्विराडजायत’[‡] इत्यादिश्रुत्या मायापुरुषयोरुपादानत्वं श्रूयते कथं निरुपादनत्वमिति चेत्—सत्यम्, यथा घटनिष्पत्तौ कुल-लस्य स्वशरीरपृथक्त्वेन मृत्पिण्ड उपादानं दृश्यते, तथा परमेश्वरात् पृथक्सिद्धं मायाद्युपादानं, मायादिरूपात् परमेश्वराज्जगदुत्पत्तेः । अतो न विरोधः । ततः स्वरूपापृथगवस्थानसूक्ष्ममायापुरुषः पर एव स्वयमुपादानमपीत्युच्यते । तथाऽध्वंश-शिखायाम्—‘ध्यायीतेशानं प्रध्यायितव्यं सर्वमिदं ब्रह्मविष्णु-ब्रह्मन् द्रेन्द्रास्ते संप्रसूयन्ते सर्वाणि चेन्द्रियाणि सह भूतैर्न कार-कारणानां ध्याता कारणं तु ध्येयः सर्वैश्वर्यसंपन्नः स’

*मनुस्मृतिः. १-५,

†श्वे. ४-१०.

‡पुरुषसूक्तम्.

श्वरः शंभुराकाशमध्ये* इति श्रूयते । ततः सर्वभूतानां यत्र
संहारस्तत एव सर्वेषामुत्पत्तिरिति अनन्तानां तेषां यावत् सं-
हृतिस्तावत् तत्रैवानन्तशक्तौ शिवे स्थितिः इति सर्वसंहर्ता शिव
एव ब्रह्मशब्दाभिधेयः ॥

यदुक्तं संहारस्य हिंसारूपत्वात् तन्मूलक्रोधाद्यनर्थगुणसं-
बन्धो ब्रह्मणो भवेत् इति, तदविचारविलासः, क्रोधादिमूलस्य
तमोगुणस्य प्राकृतधर्मत्वात् । 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुम्'†
इत्यारभ्य 'समस्तसार्क्षिं तमसः परस्तात्'‡ इति श्रुतिरेव
भगवती प्रमाणं परमेश्वरस्य तमसः परत्वे । पौराणीकी भ-
णितिरपि परमेश्वरे मोहादिनिवर्तकज्ञानादीनां नित्यसंबन्धमाह—

ज्ञानं विरागतैश्वर्यं तपस्सत्यं क्षमा धृतिः ।

क्षमृत्वमात्मसंबोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च ॥

अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे ॥

इति ।

अशेषविषयामोघशुद्धबुद्धिविजृम्भणः ।

आत्मशक्त्यमृतास्वादप्रमोदरासिको युवा ॥

इत्यादि च । असंकुचितविभवः परमेश्वरो हि सिद्धुः 'सोऽ-
कामयत बहु स्याम्'‡ इति बहुप्रपञ्चभवनायात्मनो मायालक्षणा-
मिच्छारूपां शक्तिमाश्रयति । 'स तपोतप्यत'‡ इति तपस्स्वरू-
पिकया ज्ञानात्मिकया शक्त्या सकलजीवकर्मानुगुणतत्तच्छरीर-
सामग्रीमालोचयति । आलोच्य च संकल्पितसकलकरणविद-
ग्धया क्रियाशक्त्या 'इदं सर्वमसृजत'‡ इतीच्छाशक्तिमिच्छा
निखिलजगच्चित्रमुन्मीलयति । 'तत् सृष्ट्वा, तदेवानुप्राविशत्'‡

*अथर्वशिखा.

†कैवल्य.

‡तै. २-६.

इति सकलकार्यजातमनुप्रविश्य शक्तित्रयसंबन्धेन त्रिगुणमिदं
मूर्तित्रयादिप्रपञ्चरूपो भवति । तदिह सर्वशक्तेः सर्वज्ञस्य नि-
वस्य महिमा केन विज्ञायते । अतः सर्वसंहर्ता परमेश्वर इति ।

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

‘महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति’* ‘नान्य-
मात्मा प्रवचनेन लभ्यः’* इति परमेश्वरस्यैव प्रकरणम् । अतश्च
परं ब्रह्म परमेश्वरः सर्वसंहर्ता नान्य इति सिद्धम् ॥

४. अधिकरणम्.

इहाधिकरणे सर्वसंहर्तृत्वलक्षणेन सिद्धस्य परमेश्वरस्य
‘द्वा सुपर्णा’† इत्यादिना प्रसिद्धं स्वविभूतिजीवसाहचर्यमभि-
व्यञ्जयितुमधिकरणारम्भः—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्य लोके

गुहां प्रविष्टौ परमे परार्थे ।

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति

पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥‡

इति श्रूयतेऽस्य विषयः ॥

इह सुकृतस्थाने परार्थे ब्राह्मणादिशरीरे हृदयगुहां प्रवि-
ष्टौ कर्मफलभोक्तारौ छायातपाविव विलक्षणौ कौचित् श्रूयतेः
तावेतौ बुद्धिजीवौ जीवपरमेश्वरौ वेति संदेहः ॥

बुद्धिजीवावेव तौ । कुतः ? 'ऋतं पिवन्तौ' इति भोक्तृ-
त्वावगमात् । परमेश्वरस्य न भोक्तृत्वम्, 'अनश्नन्नन्यो अभि-
चाकशोति'* इति दर्शनात् । बुद्धिजीवयोर्भोक्तृत्वं प्रसिद्ध-
मेव । किंच—जीवेश्वरयोश्चेतनरूपयोश्छायातपवदतीव वैलक्षण्यं
नास्ति । बुद्धेरचेतनत्वादस्ति जीवाद्वैषम्यम् । तदेवं बुद्धि-
जीवौ ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—जीवपरमेश्वरावेव गुहागतौ, तयोरेव
'तं दुर्दशं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्टं पुराणम्'† इति
गुहाप्रवेशदर्शनात् । यदुक्तमीश्वरस्य न भोक्तृत्वमिति तदपि
न युज्यते; 'प्राणारामं मनआनन्दम्'‡ इति ब्रह्मणोऽप्यात्मार-
मस्य मनोमात्रविषयस्वरूपानन्दभोगदर्शनात् । तथा पुराणं च—

आत्मशक्त्यमृतास्वादप्रमोदरसिको युवा ।

अनन्तपरमानन्दमकरन्दमधुव्रतः ॥

इत्यादि । जीवस्य स्वकर्मफलभोक्तृत्वं प्रसिद्धम् । एवं च
तयोर्भोगस्य साधारणत्वेन श्रवणेऽपि तत्र विशेषः समाश्रीयते
भोक्तृविशेषात्, यथा 'राजभृत्यावन्नं भुञ्जाते' इत्यत्र तत्त-
दुचितान्नविशेषः । यदुक्तं तयोर्न वैषम्यमिति, तन्न; यतो
'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां'§ इत्यादिश्रुत्या नित्यत्व-
चेतनत्वादिना जीवेश्वरयोः साम्येऽपि वैषम्यमनादिमलसंबन्ध-
भावाभावाभ्यां संभवति । 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ'¶ इत्या-
दिश्रुत्या ज्ञत्वाज्ञत्वस्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्यादिधर्मवैषम्यं चावगम्यते ॥

ननु कथमेतयोः शरीरसंबन्धे समानेऽपि कस्यचिदज्ञत्वा-
दिकानर्थसंबन्धः, कस्यचिदनर्थाभावः, इति चेत्—न, सुख-
दुःखयोर्नेकाश्रयत्वं प्रयोजकं, किं तु स्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्यमेव ।
तथाहि श्रुतिः,—

* श्वे. ४-६. † कठ. २-१२. ‡ तै. १-६. § कठ. ५-१३. ¶ श्वे. १-९,

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽ

नीशया शोचति मुह्यमानः ।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-

मस्य महिमानमीति वीतशोकः ॥*

इति । आस्याः श्रुतेः सांप्रदायिकोऽर्थः—जीवोयमनादिना कर्मि-
गडेन बद्धः तत्तत्फलभोगानुगुणमाग्रामयवहुकलेवरप्रविष्टो दुःख-
रतापसंघातमनुभवन् अनीशया पारवश्येन तद्व्यपोहितुमकुश-
ल एव मुह्यमानः शोचति महामोहनिवन्धनशोकजलधिमग्नः क-
र्तते । स्वप्रेरकतया स्वजुष्टं सर्वानुग्राहकमोशमुमासहितं यदा
पुनरस्य प्रसादेन पश्यति अपरोक्षेण जानाति तदाऽस्य महि-
मानं निरतिशयं अपहतशोकः प्राप्नोतीति । अतः स्वतन्त्र-
शिवस्यानादिमुक्तस्य शरीरसंवन्धेऽपि जीववन्न तद्गतदोषापत्ति-
तस्माज्जीवपरमेश्वरौ गुहागतौ ॥

पुनरुपपत्तिमाह—

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

किंच—जीवपरमेश्वरावस्मिन् प्रकरणे विशेष्येते, 'न ज-
यते म्रियते वा विपश्चित्'† इत्यादिना जीवः, 'अणोरणीयान्
महतो महीयान्'† इत्यादिना परमेश्वरः । एतद्विशेषणं जीव-
द्विपक्षे कथं संभवतीति ? अतो जीवपरमेश्वरावेव गुहां प्रा-
प्य प्रेर्यप्रेरकभावेन शरीरशरीरिभावेन चाश्रिताविति निर्णयः ॥

५. अधिकरणम्.

हृदयगुहान्तर्वर्तितयोपांस्यस्य परमेश्वरस्येहोपासनस्थान-
न्तरमुच्यते—

*मुण्ड. ३-१.

† कठ. २-१८, २०.

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

छान्दोग्ये श्रूयतेऽस्य विषयः 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो ह-
श्यते एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म'* इत्यादि ॥

इहामृतत्वादिलक्षणोऽक्ष्यन्तःश्रूयमाणः पुरुषः ईश्वरो वा
अन्यो वा ? ॥

इति संशये परमेश्वरादन्य इति वदामः, परमेश्वरस्य
'दहरं विपाप्मम्'† 'पञ्चकोशप्रतीकाशम्'‡ इत्यादिषु हृदयपुण्ड-
रीक एव सन्निधानश्रवणात् । जीवस्य तु रूपादिग्रहणे चक्षुरि-
न्द्रियप्रवेशोऽस्ति, मनःसंबन्धात् । स एवाक्षिपुरुषः । अथवा
छायापुरुषः ॥

इति प्राप्ते निरूपयामः—परमेश्वर एवाक्ष्यन्तःपुरुष इति,
निरुपाधिकाभृतत्वाभयत्वादीनामस्मिन्नेवोपपत्तेः ॥

यदुक्तमक्ष्यन्तःस्थितिरीश्वरस्य न श्रुतेति तत्राह—

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

'यश्चक्षुषि तिष्ठन् चक्षुषोन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः
शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयति एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः'‡
इत्यादिश्रुत्या चक्षुःस्थितिनियमनादिकर्माश्वरस्य व्यपदिश्यते ।
अतः पर एवायमीश्वरः ॥

छायापुरुषपक्षे पुनरनुपपत्तिमाह—

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

'कं ब्रह्म खं ब्रह्म'* इति पूर्वमस्य सुखविशिष्टतयाऽभिधा-
नादेवायमीश्वरः । न हि छायापुरुषे सुखसंभवः ॥

* छा. ४-१०...१५.

† मिहाना. १०, ११.

‡ बृह. ५-७.

यदुक्तमक्षिपुरुषस्य जीवरूपत्वं तत्राह—

अत एव च स ब्रह्म ॥ १६ ॥

यत एव भवभयभोतायोपकोसलाय ब्रह्मजिज्ञासवे
ब्रह्म खं ब्रह्म* इत्युपक्रम्योपदिष्टं 'यदेव कं तदेव खं यं
खं तदेव कं'* इति, अत एव खशब्दाभिधेय आकाशः परम
ब्रह्म । किमीदृशोपपत्तिरस्ति जीवस्य? न हि जीवे निर्णय
शयसुखसंभवः । अतो यदेव पूर्वमपरिच्छिन्नसुखरूपतया ब्रह्म
ब्रह्म तदेवास्याधारतया प्रतिपाद्यत इत्यक्ष्यन्तःपुरुषः परम
श्वर इति ॥

पूर्वपक्षे पुनरियमप्यनुपपत्तिरित्याह—

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १७ ॥

श्रुतब्रह्मस्वरूपज्ञानमधिगन्तव्याया अर्चिरादिगतेः अक्षिपु
षं श्रुतवतः 'अर्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरहः'* इत्यादि
'तःपुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ
एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते'* इत्यन्तेनाभि
धाज्ञासौ जीवश्छायापुरुषो वा, किं त्वीश्वर एव ॥

६. अधिकरणम्.

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥ १८ ॥

अस्य महोपनिषदि श्रूयते विषयः—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽङ्गुष्ठं च समाश्रितः ।

ईशः सर्वस्य जगतः प्रभुः प्राणाति विश्वभुक् ॥*

इत्यादि ॥

इहाङ्गुष्ठमात्रत्वादिविशिष्टः परमेश्वरो वाऽन्यो वेति संशयः ॥

प्राणाग्निहोत्रप्रकरणात् 'अङ्गुष्ठमात्रः' इत्यल्पत्वव्यपदेशाच्च अयं प्राणवायुरेव पञ्चनामाहुतीनां भोक्ताऽवगम्यते । न चास्य भोक्तृत्वानुपपत्तिः, 'आयश्च पृथिवी चाग्नमत्तारौ वह्निमारुतौ' इत्यादिषु वायोरपि भोक्तृत्वप्रसिद्धेः । सर्वथाऽयं प्राणवायुरिति पूर्वः पक्षः ॥

परमेश्वर एवेति सिद्धान्तः, सकलजगदीशत्वविश्वभुक्त्वादीनां धर्माणामन्यत्राभिधानेऽनवस्थानात्, असंभवाच्च तत्र तेषाम् । अत ईश्वर एवेतादृशः । तस्य प्राणरूपत्वेनाप्युपास्यत्वमुच्यते, 'प्राणानां ग्रन्थिरसि रुद्रो मा विशान्तकः' इति प्राणाधारत्वेन तस्य श्रवणात् । अङ्गुष्ठमात्रपरिमाणस्योपास्यत्वादित्यविरोधः । प्राणवायोः भोक्तृत्वसिद्धावपि 'विश्वभुक्' इत्येतत् न संभवति । अतोऽयमीश्वरः प्राणाग्निहोत्राराध्यत्वेन प्राणरूपः प्रतिपाद्यत इति ॥

७. अधिकरणम्.

सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः सर्वानुग्राहकस्य विभोरपि शिवस्य परब्रह्मणः, सवितृमण्डलपुरुषहृदयपुण्डरीकादिषूपसनाय स्थितिरुपपादिता । सर्वत्र तां प्रतिपादयितुमिदमधिकरणमारभ्यते—

अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदे-

शात् ॥ १९ ॥

अन्तर्यामिब्राह्मणेऽस्य विषयः श्रूयते 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद् यस्य पृथिवी न शिरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति एष त आत्माऽन्तर्यामिः मृतः'* इति ॥

एवं पृथिवीमारभ्य प्रतिपर्यायमात्मतत्त्वपर्यन्तं अनिर्वचस्त्वन्तर्यामितया श्रूयमाणः परमेश्वरो जीवो विराट्पुरुषो न प्रधानं वेति संशयः ॥

स्वोपार्जितविचित्रफलभोगाय सकलभूतेन्द्रियानुप्रवेशो ज्ञेयस्य युज्यते । सकलचेतनोपादानतया सर्वभूतानुप्रवेशो विराट्पुरुषस्य युक्तः । अथवा—महदादिरूपेण परिणतत्वात् प्रज्ञानस्य सर्वव्यापकत्वमुचितम् । 'विश्वाधिको रुद्रः'† इति विश्वाधिकत्वेन निखिलविकारोत्तीर्णस्य परमेश्वरस्य विकाररूपप्रपञ्चानुप्रवेशो न घटते । ततः परमेश्वरमन्तरेण जीवादिष्वेकत्वस्यादन्तर्यामी ॥

इति पूर्वपक्षे प्राप्ते ब्रूमः—पृथिव्याद्यन्तर्यामितया श्रूयमाणः परमेश्वर एव, सर्वान्तरत्वादितद्धर्मव्यपदेशात् । अथर्वशिरसि च 'सोन्तरादन्तरं प्राविशत्'‡ इति परमेश्वरस्यैव तन्त्र्यात्मतयाऽनुप्रवेशदर्शनात् । 'एव त आत्माऽन्तर्यामिमृतः' इति शिव एवानादिमुक्तोऽमृत इत्युच्यते, 'एतानि वा अमृतस्य नामधेयानि'§ इति श्रवणात् । यथा 'विश्वाधिको रुद्रः' इति विश्वाधिकत्वं परमेश्वरस्य श्रूयते, तथा विश्वरूपत्वमात्रं 'सर्वो वै रुद्रः'¶ इत्यादिषु । सर्वविकारानुप्रवेशोऽपि तद्विकारस्य श्लेशोऽपि नास्तीति खलु प्रतिपर्यायममृतशब्दप्रयोगः । अथर्वशिरसि च 'यो वै रुद्रः स भगवान् भूर्भुवस्स्वर्गश्च'

*बृह. ५-७. †महाना. १०. ‡अथर्वशिरः. §जावाल. ३. ¶महाना. ११, १२.

ब्रह्मा तस्मै वै नमोनमः* इत्यादिना ब्रह्मविष्णुरुद्रोमालक्ष्मीसर-
स्वतीगणेशस्कन्देन्द्रादिलोकपालभूरादिसप्तलोकपृथिव्यादिपञ्चभूत-
सूर्यसोमग्रहनक्षत्रकालादिरूपेण प्रत्येकमभ्यासतो निरूप्यते पर-
मेश्वरः । तत्रापि सकलचिदचित्तत्वानुप्रवेशादस्यापुरुषार्थसंबन्धो
भवेदिति शङ्कायां प्रतिपर्यायमैश्वर्यादिमङ्गलगुणसंबन्धाभिधायि-
भगच्छब्दप्रयोगः कृतः । ततः सर्वाधिकः सर्वात्मा च शिवः
परमेश्वर इति युक्तमेव ॥

यच्छङ्कितं प्रधानादीनामन्तर्यामित्वमुचितमिति, तत् परि-
हरति—

न च स्मार्तमतद्वर्माभिलाषाच्छारीरश्च ॥

न च स्मार्तं प्रधानमन्तर्यामीति श्रुतं, तस्य विकारज-
डत्वादिधर्मानभिलाषात् । न शारीरो विराट्पुरुषश्च, तस्य स-
कलानियामकत्वाद्यनुपपत्तेः ॥

जीवश्च न भवतीत्याह—

उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २१ ॥

उभये काण्वा ग्राध्यन्दिनशाखिनश्च 'यो विज्ञाने तिष्ठन्'†
'य आत्मनि तिष्ठन्'‡ इत्यादिना जीवादन्तर्यामिणं भेदेनाधी-
यते । ततः परमेश्वरस्यैव सकलान्तर्यामित्वं, न प्रधानविरा-
ट्पुरुषजीवानामिति सिद्धम् ॥

८. अधिकरणम्.

इह प्रत्यक्षपृथिव्यादिरूपत्वेन प्रतिपादितस्य परमेश्वरस्य
तद्वद्भूतत्वादिकं नास्तीति प्रतिपादयितुमिदमधिकरणमवतार्यते—

*अथर्वशिरः.

†बृह. ५-७.

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २२ ॥

‘अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते, यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमण-
त्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः’* इत्यादि श्रूयतेऽस्य
विषयः ॥

अत्राक्षरं प्रधानं जीवः परमेश्वरो वेति संशयः ॥

प्रधानमत्राक्षरं, तस्य महदादिपरिणामिनो भूतयोनित्वसं-
भवात् । अथवा जीवः, तस्य हि ‘क्षरं प्रधानममृताक्षरम्’
इति श्रुतेरक्षरशब्दवाच्यत्वमुचितं, स्वकर्मवशेन महाभूतयोनित्वं
च । अतस्तयोरन्यतरदक्षरम् ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एवाक्षरं, ‘यः सर्वज्ञः सर्ववि-
द्यस्य ज्ञानमयं तपः’* इत्यादिना तद्धर्मोक्तेः । न हि परमेश्व-
रादन्यस्मिन् सर्वज्ञत्वादिकं सम्भवति । यदुक्तं भूतयोनित्वं जं-
वप्रधानयोः संभवतीति, तदयुक्तं, तयोरचेतनासर्वज्ञयोस्तत्सा-
ध्याभावात् ॥

पुनरत्र जीवप्रधानयोरनुपपत्तिमाह—

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २३ ॥

अत्रैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञायते ‘कस्मिन्नु भगवो
विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति’* इति । तच्चान्यच्चैवंरूपं वि-
शेषणम् । तद्व्यपदेशाच्च न प्रधानमक्षरम् । ‘अक्षरात्परतः परः’
इति जीवाद्भेदव्यपदेशाच्च न जीवः ॥

रूपोपन्यासाच्च ॥ २४ ॥

अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ

दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।

वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य

पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥*

इत्यक्षरस्य त्रैलोक्यरूपत्वमुपन्यस्यते । अतश्च सकलात्मा परम-
श्वर एवात्राक्षरपदाभिधेयः ॥

१. अधिकरणम्.

प्राणाधारत्वेन पूर्वमुपास्यतयोक्तस्य पुनर्जाठराग्निरूपेणोपा-
स्यत्वमाह—

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥२५॥

‘यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते
स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वप्नमस्ति’† इत्यादि
छान्दोग्येऽस्य विषयः श्रूयते ॥

अत्रोपास्यतयोक्तो वैश्वानरः परमेश्वरोऽन्यो वेति सन्देहः ॥

पूर्वपक्षन्यायस्तु—वैश्वानरशब्देन जाठराग्निरुच्यते; ‘अय-
मग्निर्वैश्वानरो येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति
यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति, स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं
शृणोति’‡ इति जाठराग्नौ प्रयोगदर्शनात् । महाभूततृतीयोऽग्निर्वा
स्यात् ‘एष वा अग्निर्वैश्वानरः’§ इत्यादौ वैश्वानरशब्दस्याग्नौ
प्रसिद्धत्वात् । अग्निर्देवता वा स्यात्; ‘वैश्वानरं द्वादशकपालं
निर्वपेत् पुत्रे जाते’¶ इत्यादिष्विष्टिदेवतात्वेन फलदातृत्वश्रवणात् ।
न तु परमेश्वरः, ‘प्रादेशमात्रम्’‡ इति परिच्छेदावगमादिति ॥

*मुण्ड. २-१. †छा. ५-१८. ‡बृह. ७-९. §तै. सं. ३-३-८. ¶तै. सं. २-२-५.

अत्रोच्यते—परमेश्वर एव वैश्वानरः । कथं? वैश्वानर-
शब्दस्य साधारण्येऽप्यास्मिन् प्रकरणे ‘को न आत्मा? तं
ब्रह्म?’* ‘आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यक्ष्येषि तमेव नो ब्रूहि’
इत्यादिषु परमेश्वरासाधारणब्रह्मशब्दादिभिर्विशेष्यमाणत्वात् ज-
राग्रधादिषु तद्विशेषणं संभवति । अतः परमेश्वर एव वैश्वानरः

परमेश्वरपक्षे प्रमाणान्तरमाह—

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २६ ॥

‘अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ’† इत्यादिषु परमेश्वर-
द्युलोकादिपृथिव्यन्तरूपत्वमुक्तम् । तदित्थंभूतरूपमिह ‘त-
ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य सूर्ध्वं सुतेजाश्चक्षुर्विश्व-
प्राणः पृथग्वर्त्मा संदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव
दौ’* इत्यत्र प्रत्यभिज्ञायमानं तस्य परमेश्वरत्वे लिङ्गम् ॥

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानान्नेति चेन्न,
थादृष्ट्युपदेशादसंभवात् पुरुषमपि
नमधीयते ॥ २७ ॥

स एषोऽग्निर्वैश्वानरः ‘हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यं
आस्यमाहवनीयः, तद्यत् भक्तं प्रथमयागच्छेत् तद्धोमीयं स
प्रथमामाहुतिं जुहुयात्’* इत्यादिषु प्रतिपन्नेभ्योऽग्नित्रयक-
प्राणाहुत्याधारत्वेभ्यः, ‘स यो हैनमग्निं वैश्वानरं पुरुषं
पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद’† इति श्रुतात् पुरुषान्तःप्रतिष्ठित-
लिङ्गाच्च जाठरोऽग्निरेव, नासौ परमेश्वर इति चेत्—न, उ-
राग्निरूपतयोपास्यत्वेनोपदेशात्, केवलस्य जाठराग्नेरैव

शरीरत्वाद्यसंभवाच्च । किंच 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत् पुरुषः'
इत्येनं वैश्वानरं पुरुषमप्यधीयते वाजसनेयिनः । निरुपाधिक-
पुरुषशब्दवाच्यस्तु परमेश्वर एव, 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'*
इति श्रवणात् । अतः परमेश्वर इति युक्तम् ॥

अत एव न देवता भूतं च ॥ २८ ॥

यतोऽयं वैश्वानरस्त्रैलोक्यशरीरकः पुरुषशब्दवाच्यश्च अत
एव न देवताऽग्निः, न तृतीयं भूतं वा ॥

इह जाठराग्निरूपतयोपास्यत्वे सिद्धे परमेश्वरस्याग्निशब्द-
वाच्यत्वे तद्योजनाभेदमाचार्यान्तराणां दर्शयति—

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २९ ॥

नावश्यमग्निरूपतयोपास्यत्वादेवेदमग्निशब्दसामानाधिकर-
ण्यम्; अग्रनयनादियोगेन परमेश्वर एवाग्निशब्दस्य साक्षाद्भू-
तित्वसंभवादिति सामानाधिकरण्याविरोधं जैमिनिरुवाच ॥

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ ३० ॥

'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रम्'† इत्यपरिच्छिन्नस्य द्युप्रभृतिपृ-
थिव्यन्तप्रदेशसंबन्धिन्या मात्रया परिच्छिन्नत्वमुपासकाभिव्यक्तये
इत्याश्मरथ्यमुनिः ॥

अनुस्मृतेरिति वादरिः ॥ ३१ ॥

द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तस्य मूर्धादिपादान्तावयवत्वकल्पनमनु-
स्मृतये ब्रह्मप्राप्तयर्थमिति वादरिः ॥

संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥

‘उर एव वेदिलोमानि वर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्तर्यपचन आस्यमाहवनीयः’* इत्युपासकस्योरःप्रभृतीनां वेदत्वकल्पनं विद्याङ्गभूतायाः प्राणाहुतेरग्निहोत्रत्वकल्पनार्थमिति मिनिः । तथा हि दर्शयति श्रुतिः—‘अथ य एतदेवं विद्वान्होत्रं जुहोति’* इति ॥

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३३ ॥

तैत्तिरीया एनं परमेश्वरमस्मिन्नुपासकशरीरे प्राणाहुती लायां भोक्तृतया ‘शिवो मा विशाप्रदाहाय’† इति प्रीणाति विश्वभुक्† इति चामनन्ति । अतः सकलाचार्या न्यायेन च जाठराग्निरूपेण परमेश्वर एवाराध्यः प्राणाग्निं णेति समीचीनम् ॥

इति श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचिते ब्रह्ममीमांसाभाष्ये
प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः.

अथ तृतीयः पादः.

इह पादे स्पष्टास्पष्टब्रह्मालिङ्गानां वेदान्तवाक्यानां विप्रसङ्गात् अधिकारिनिरूपणं च क्रियते—

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

‘यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह सर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ असुरसेतुः’† इति अस्य विषयः श्रूयते मुण्डकोपनिषदि ॥

अत्र श्रुतौ द्युभ्वाद्याधारतया ध्रूयमाणः परमेश्वरः अन्यो
वेति संशयः ॥

परमेश्वरादन्यो वायुरेव द्युभ्वाद्याधार इति गम्यते; 'वा-
युना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च
भूतानि संदृष्वानि भवन्ति'* इति श्रुतौ तस्य सर्वाधारत्व-
प्रसिद्धेः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एव द्युभ्वाद्यायतनं, 'तमेवै-
कं जानथ आत्मानम्'† इत्यात्मशब्दात् ॥

सूत्रात्मनो वायोरप्यात्मशब्दवाच्यत्वे को दोष इत्यत
आह—

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च ॥ २ ॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥†

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे
अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः
परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥†

इति पुण्यापुण्यप्रवृत्तनामरूपविनिर्मुक्तानां मुक्तानां प्राप्यतया
व्यपदेशाच्चायं परमेश्वर एव । कथमेतद्वायोः संभवति? पर-
मेश्वरात्मक एव वायुः सूत्रात्मा, पारमेश्वरीष्वष्टासु मूर्तिष्वेक-
त्वात् । ततो न वायुरिति निर्णयः ॥

नानुमानमतच्छब्दात् प्राणभृच्च ॥ ३ ॥

अनुमानगम्यं प्रधानमेव द्युभ्वाद्यायतनं, तस्य सर्वोपादान-
त्वात् इति न वाच्यम्; अतच्छब्दात् तद्वाचकशब्दामावात्
न प्राणभृज्जीवश्च, अनुपपत्तेरिति ॥

भेदव्यपदेशात् ॥ ४ ॥

अत्रेश्वरस्य जीवान्नेदो व्यपदिश्यते—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽ-

नीशया शोचति मुह्यमानः ।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-

मस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥*

इति । अतः स्वतः परमेश्वर एव द्युभ्वाद्याधारः ॥

प्रकरणात् ॥ ५ ॥

‘अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते’* इति परस्य क-
त्विदं प्रकरणम् । अतश्च परमेश्वरः ॥

स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ६ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया

समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति

अनश्नन्नन्योऽमिचाकशीति ॥*

इति जीवस्य कर्मफलादनमुक्त्वा अनश्नत एव दीप्यमानस्या-

मिथानाञ्च । तस्मादर्थान्तरभूतः परमेश्वर एव द्युभ्वाद्यायतन-
मिति निर्णयः ॥

२. अधिकरणम्.

मुक्तप्राप्यतयेह प्रतिपादितस्य परमेश्वरस्य प्राप्तिप्रयोजनं
निरतिशयसुखं दर्शयति—

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥ ७ ॥

छान्दोग्ये 'भूमैव सुखम्' इत्युक्त्वा भूमन्ः स्वरूपमाह
'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स
भूमा'* इति ॥

तदत्र सन्देहः—भूमशब्दनिर्दिष्टः परमेश्वरस्तदन्यो वेति ॥

परमेश्वरादन्यः प्राण एव भूमा; पूर्वेषु नामादिषु तत्त्वे-
षु 'अस्ति भगवो नाम्नो भूयः'* इत्यादि नारदप्रश्ने सनत्कुमारो
'वाग्वाव नाम्नो भूयसी'* इत्यादिना वागादीनि निर्दिश्य प्राण-
स्योपरि प्रश्नप्रत्युक्तिभ्यां चिनैव यतो भूमानमवतारयति न पर-
मेश्वरस्तत्र प्रसक्तः, अतो भूमा प्राणः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एव भूमशब्दनिर्दिष्टः, संप्रसा-
दादध्युपदेशात् । संप्रसादो जीव उच्यते 'अथ य एषं सं
प्रसादः'† इति श्रुतेः । स चात्र प्राणशब्देन निर्दिश्यते; तस्मा
दूर्ध्वमर्थान्तरत्वेन भूमोपदिश्यते 'एष तु वा अतिवदति यः
सत्येनातिवदति'* इत्यादिना । अत्र हि पूर्वं 'स वा एष
एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति'* इति

प्राणातिवादिनोऽतिवादित्वमुक्त्वा तदनन्तरं 'एष तु वै' इति तुशब्देन पूर्वस्मात् प्राणातिवादिनः सत्यातिवादिन आधिक्य प्रदर्शनात् पूर्वातिवादिनिमित्तात् प्राणात् एतदातिवादिनिमित्तस्य सत्यशब्दामिधेयस्याधिक्यमवसीयते । स एवाग्रे भूमगुणविशिष्टः प्रतिपाद्यते । 'अथात आत्मादेशः'* इत्यात्मत्वेनाप्यग्रे वर्ण्यते । अतः प्राणशब्दनिर्दिष्टाज्जीवादाधिक्येऽल्पात्मा भूमा परमेश्वर एव ॥

धर्मोपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः? स्वे महिम्नि'* इति 'आत्मैवेदं सर्वं'* 'आत्मतः प्राण आत्मत आशा'* इत्यादिना स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वसर्वात्मत्वसर्वकारणत्वादयो धर्मा उपदिश्यन्ते । तेषां परमेश्वर एवोपपत्तिः, न प्राणशब्दोदिते जीवे । ततः परमेश्वर एव भूमा नापर इति सिद्धम् ॥

ननु पूर्वत्राधिकरणे 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'† इति मुक्तानां ब्रह्मसादृश्यमभिहितम् । ततो ब्रह्मणः सायुज्यमुपगता मुक्तात्मानः तत्पृथग्भूता वर्तन्ते इति सिद्धम् । 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा'* इति भूमाशब्दवाच्ये ब्रह्मणि दृष्टे तन्निष्ठभेदप्रतियोगिप्रपञ्चदर्शनादिनिषेधः क्रियते । कथमिह साङ्गत्यमिति चेत्—भूम्नि प्रत्यक्षे 'नान्यत् पश्यति' इत्यादेरयमभिप्रायः—निरतिशयसुखसम्भावे यस्मिन् साक्षात्कृते सुखान्तराभिलाषेण रूपादिविषयदर्शनादौ न प्रवर्तते यन्मज्ञः पुरुषः स भूमा ब्रह्मेति । ब्रह्मानन्दलवपरमाणवो हि विषयसुखविशेषाः । तथा हि श्रुतिः—'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रासुपजीवन्ति'‡ इति

तस्मादिह ब्रह्मणि न द्वैतनिषेधप्रसक्तिः । प्रपञ्चे सत्येव कथं मुक्तात्मनामपुरुषार्थस्य तस्य दर्शनं परिह्रियत इति न विचार्यम् । न हि मुक्तात्मनां प्राकृतप्रपञ्चो दर्शनविषयः, किंतु निरतिशयानन्दस्वरूपं ब्रह्मैव प्रपञ्चाकारेण दर्शनगोचरो भवति । तथा हि श्रुतिः—‘एतत् ततो भवति, आकाशशरीरं ब्रह्म, सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दं’* इति । तत्र ‘आप्नोति स्वाराज्यं, आप्नोति मनसरूपतिम्’** इत्यादिना मुक्तात्मा प्रस्तुतः । तस्य ‘वाक्पतिः’** इत्यादिना स्वाधीनाप्राकृतविशुद्धवागिन्द्रियादिसंबन्ध उक्तः । तस्य पुनस्तादृशावस्थाप्राप्त्यनन्तरमेतत् दृश्यमानं प्राकृतप्रपञ्चजालं आकाशशरीरं चिदम्बरप्रकाशशरीरं ब्रह्मैव भवतीति तात्पर्यरहस्यार्थः । ततो मुक्तानां ब्रह्मणा सादृश्यं तत्समरसीभूतप्रपञ्चदर्शित्वमिति सर्वं समीचीनम् ॥

३. अधिकरणम्.

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १ ॥

बृहदारण्यके श्रूयतेऽस्य विषयः ‘एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति, अस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायम्’† इत्यादि ॥

अत्र अक्षरशब्दवाच्यत्वेऽपि संदिह्यते प्रणवो जीवः परमेश्वरो वा इति ॥

प्रणवजीवयोरन्यतर एवाक्षरशब्दवाच्यः । कुतः? अक्षरशब्दस्य वर्णपर्यायत्वात् प्रणववाचकत्वमुचितम् । ‘पुरुषोऽक्षर

उच्यते'* इति पुरुषस्यापि तदभिधेयत्वमुक्तम् । अतस्तावेक
क्षरशब्दवाच्यौ ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—अत्राक्षरशब्दवाच्यं परं ब्रह्मैव । कुतः
अम्बरान्तधृतः । 'यदूर्ध्वं गार्गी दिवो यदर्वाक् पृथिव्यं
यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्च
इत्याचक्षते आकाश एव तदोतं प्रोतं च'† इति सर्वविधा
राधारतया निर्दिष्ट आकाशः 'कस्मिन्नु खल्वकाश ओतश्च प्रोतश्च'
† इति गार्ग्या पृष्टे 'एतद्वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्ति'
इत्यादिना 'एतस्मिन् खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च'
इत्यन्तेन याज्ञवल्क्यवचनेन निर्दिष्टस्याक्षरस्याम्बरान्तप्रपञ्चधृति
रवगम्यते । कथमेतदन्यत्र परमेश्वरात् संभवति? ततः परमेश्वर
एवाक्षरपदाभिधेयः ॥

सा च प्रशासनात् ॥ १० ॥

सा च धृतिः 'तस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गी सूर्या-
न्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः'† इत्यादिना प्रकृष्टाज्ञाधीनाऽवगम्यते
तज्जगच्छासनं जीवस्य न संभवति; 'एक एव रुद्रो न द्वि-
तीयाय तस्थुः'‡ इति जगच्छासने द्वितीयाभावश्रवणात् । अतः
परमेश्वर एवाक्षरशब्दवाच्यः ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ ११ ॥

अन्यभावोऽर्थान्तरत्वम् । 'तद्वा एतदक्षरं गार्गी अहो-
द्रष्टुं अश्रुतं श्रोतुं अमतं मन्तुं अविज्ञातं विज्ञातुं'† इति वाक्य-
शेषः परमेश्वरादक्षरस्यान्यभावं व्यावर्तयति, प्रणवजीवप-
थोरदृष्टत्वादिविशेषितद्रष्टृत्वाद्यसम्भवात् । अतः परमेश्वर
एवाक्षरमिति निर्णयः ॥

४. अधिकरणम्.

प्रत्यक्षादिप्रमाणातीतस्यापि परमेश्वरस्य परमकरुणावशा-
दुपासकप्रत्यक्षत्वमुपपादयितुमेतदधिकरणमारभ्यते—

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः॥ १२ ॥

अस्य विषयः प्रश्नोपनिषदि श्रूयते 'यः पुनरेतं त्रिमात्रे-
णैवोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सं-
पन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना
विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्
परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते'* इति ॥

अत्रेक्षतेः कर्मत्वेन श्रूयमाणः परमेश्वरोऽन्यो वेति संशयः ॥
नासौ परमेश्वरः हिरण्यगर्भ एव 'स सामभिरुन्नीयते ब्र-
ह्मलोकम्'* इति तल्लोकप्राप्तिश्रवणात्, परशब्दस्य जीवो-
त्कृष्टे तस्मिन् संभवाच्च । अथवा—नारायणः, तस्य पुरुषशब्द-
वाच्यत्वात्, जीवघनाद्धिरण्यगर्भात् परत्वोपपत्तेश्च, तस्मिन्नेव
प्रणववाच्यत्वप्रसिद्धेश्च, 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति
सूरयः'+ इति तत्पदस्यैव विद्वदनुभवविषयत्वश्रवणात्, 'ऋ-
ग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत् तत् कवयो वेदयन्ते'*
इत्यग्निमन्त्रोक्ते तत्प्रत्याभिज्ञानाच्च ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—अत्रेक्षतिविषयः परमेश्वरः उत्तरत्र
'तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत् तच्छान्तमजरममृत-
मभयं परं च'* इति तदसाधारणशान्तत्वादिधर्मव्यपदेशात् । न
हि हिरण्यगर्भं तत्कार्यं शान्तत्वादिकमस्ति । 'ब्रह्मलोकं' इति
परब्रह्मणः शिवस्य लोकः प्राप्यतयाऽवगम्यते । 'जीवघनः'

इति जीवसमष्टिरूपो यो हिरण्यगर्भस्तस्मात् 'परात् परम्'
इति परत्वेन ध्येयं हि श्रूयते । ततो हिरण्यगर्भपक्षो न युक्तः ।

नारायण इति यदुक्तं तद्विचार्यम् । 'अमृतममयं परं च'
इति नित्यमुक्तत्वं अमयहेतुत्वं विश्वाधिकतया परत्वं च कथं
मस्मिन्नुपपद्यते ? विश्वरूपो ह्यसौ । कथं चैतदुपपद्यते, न
जीवघनात् हिरण्यगर्भादपि परादुत्कृष्टान्नारायणात् परमुक्तं
पुरिशयानमन्तर्यामितया अत एव पुरुषं परं ब्रह्म च तदुपास-
कः साक्षात्पश्यतीति वर्णितम् । 'नारायणपरं ब्रह्म' * 'सं-
सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् । ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षम्'
इति हि श्रूयते । तस्मात् पुरि दहरपुण्डरीके वर्तमानतया पुरु-
शब्दवाच्यं, 'तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः' इति
श्रुत्या प्रणवाभिधेयं च, 'नारायणपरं ब्रह्म' इति श्रुत्या ना-
यणात् विश्वरूपादधिकं, बाह्यनसविपर्यासरहिततया कृतं सत्
त्रिलोचनतया विरूपाक्षं, परशक्त्या प्रणववर्णव्यत्यासरूपोमाश-
ब्दवाच्यया शबलाकारत्वेन कृष्णपिङ्गलं, परं सार्धातिशायि ब्रह्म
'परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' † इति ईक्षतिकर्मत्वेन व्यर्था-
श्रूयत इति युक्तम् । यदुक्तं 'तद्विष्णोः परमं पदं' ‡ इति, त-
प्रपञ्चाकारत्वमन्तरेण याच्चिरतिशयानन्दस्वभावं विष्णोः पर-
पदं रूपं तदेव शिवाभिधं परं ब्रह्मेत्यविरोधः । विष्णुशि-
योः उपादाननिमित्तयोः अवस्थाभेदमन्तरेण स्वरूपभेदो नास्ती-
त्यर्थः ॥

५. अधिकरणम्.

तद्विह हरिविरिञ्च्यादिप्रपञ्चोत्तीर्णस्यापि उपासकानुग्रह-
पुरिशयानतया पुरुषस्य परमशक्तिरूपोमाशबलितस्य विरूपा-

स्य परब्रह्मणः साक्षात्कारः सकलसंसारनिवृत्तिपूर्वकं तत्प्राप्तये तदुपासकानां तद्वाचकप्रणवपराणां भवतीति निरूपितम् । तस्य पुरिशयनमुपासनं च प्रकटयितुमिदमधिकरणं प्रस्तूयतं—

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १३ ॥

छान्दोग्ये श्रूयतेऽस्य विषयः 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेदम् दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाच विजिज्ञासितव्यम्'* इत्यादि ॥

दहरशब्देनेह भूताकाश उच्यते, उत जीवः, परमेश्वरो वेति संशयः ॥

आकाशशब्दस्य वियति रूढतया भूताकाशो दहराकाशः । अथवा जीवो दहर इति अल्पपरिमाणत्वात्, तस्याणुभूतेऽस्मिन् संभवात्, न व्यापी परमेश्वरो दहरः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एव दहराकाशः । कुतः? उत्तरेभ्योऽपहतपाप्मत्वादिभ्यो धर्मेभ्यः 'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विभृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽविपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः'* इति वाक्यशेषसिद्धेभ्यः । त एते कथं संसारिणि जीवे संभवन्ति? तस्मादीश्वर एव दहराकाशोऽपहतपाप्मत्वादिगुणक इति ॥

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १४ ॥

'तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्म-

लोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः* इति वाक्यशेषे
 प्रजानामहरहरस्मिन् दहराकाशे या गतिः श्रूयते, यश्चात्र ब्रह्म-
 लोकशब्दः; ताभ्यामपि दहराकाशः परमेश्वरः । तथा हि
 श्रुत्यन्तरे परमेश्वर एव एवंपरुपं गमनं दृष्टं 'एवमेव सत्तु
 सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्य-
 महे'† इति । ब्रह्मलोकशब्दश्च तस्मिन् दृष्टः 'एष ब्रह्मलोके
 सम्राडिति होवाच'‡ इति । किंच—मा भूद्वृत्तिशब्दयोरन्यत्र दहं
 नम् । अस्मिन् प्रकरणे सर्वासां प्रजानामहरहः श्रूयमाणं गमनं
 ब्रह्मलोकशब्दश्च परमेश्वरस्य दहराकाशत्वे पर्याप्तं गमकम् ।

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः॥ १५ ॥

'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय'
 इति जगद्विधृतिः परमेश्वरस्य महिमाऽस्मिन् दहराकाशे उप-
 लभ्यते । धृतिश्च परमेश्वरमहिमा, 'एष सर्वेश्वर एष भू-
 ताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसं-
 दाय'§ इति श्रुतेः । अतोऽपि दहराकाशः परमेश्वरः ॥

प्रसिद्धेश्च ॥ १६ ॥

दहरं विषाणं परवेश्मभूतं

यत् पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम् ।

तत्रापि दहं गगनं विशोक-

स्तास्मिन् यदन्तस्तदुपासिव्यम् ॥¶ ॥

इति महोपनिषदि, 'हत्पुण्डरीकं विरजम्' इत्यारभ्य—

'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं

त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।

ध्यात्वा*]

इत्यादि कैवल्योपनिषदि च परमेश्वरस्योमासखस्य दहरपुण्डरीकमध्यवर्तित्वेनोपास्यत्वं प्रसिद्धम् । ततोऽपि परमेश्वरो दहराकाशः ॥

ननु दहरपुण्डरीकमध्ये दहराकाशान्तर्वर्तित्वेनोपास्यत्वं 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः'† इत्याद्युपनिषदन्तरे प्रसिद्धं परमेश्वरस्य । इह दहराकाशत्वेनेति विरोध इति चेत्—अत्रापि दहराकाशमध्यवर्ती न परमेश्वर उपास्यः; किंतु दहराकाशे परमेश्वरधर्माणामपहतपाप्मत्वादीनां संबन्धप्रतीतेः दहराकाशत्वमप्यस्य चिदम्बररूपतयेति न विरोधः ॥

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासंभवात् ॥

'अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच'‡ इति इतरो जीवः परामृश्यते । अतः प्रकृताकाशः स एव भवतीति चेत्—न, उक्तानामपहतपाप्मत्वादीनां तस्मिन् असम्भवात् । अतः परमेश्वर एव तदाश्रय इति युक्तम् ॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १८ ॥

उत्तरत्र प्रजापतिवाक्ये 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजयौ विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वोऽश्च लोकानाप्नोति सर्वोऽश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति'‡ इति जीवस्यापहतपाप्मत्वादिकं श्रूयते । जीवलक्षणमवस्थात्रयवर्तित्वं च

* कैवल्य.

† बृह. ६-४-२२.

‡ छा. ८-३, ५.

श्रूयते, 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच'
 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति एष आत्मेति होवाच'^१ तत्र
 तत्सुप्तः समस्तः संप्रसक्तः सुप्तं न विजानात्येष आत्मेति हो
 वाच'^१ इति । ततः स एवायं भवितुमर्हतीति चेत्—न स
 मेतत्; निजानादिकलङ्ककर्मसंबन्धघटितकलेवरतिरोहितापहत
 प्मत्वादिको जीवः परं ज्योतिरुपसंपद्य पश्चादाविर्भूतस्त्व
 आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिकोऽत्र प्रतिपाद्यते, न संसारी । त
 राकाशस्तु स्वाभाविकातिरोहिततत्तत्कल्याणगुण इति न क
 मुक्तो वाऽत्र दहराकाशः ॥

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ १९ ॥

'अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य तं
 रूपेणाभिनिष्पद्यते'^२ इति जीवस्य दहराकाशशब्दनिर्दिष्टेन
 वस्तुना संपद्य स्वरूपाविर्भावोऽभिधीयते । तत्र तादृक्त्व
 त्म्यप्रतिपादनार्थो जीवपरामर्शः । अतो न विरोधः ॥

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २० ॥

अल्पस्थानाश्रयत्वात् अल्पस्वरूपप्रतीतेः न परोऽयमिति
 क्वायाः पूर्वमुक्तमेवोत्तरं 'व्योमवच्च'^३ इति ॥

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २१ ॥

तस्य जीवस्य दहराकाशशब्दनिर्दिष्टपरज्योतिरनुकृति
 गम्यते, 'नैनं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शो
 न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते अपहतपा
 ह्येष ब्रह्मलोकः, तस्माद्धा एतं सेतुं तीर्त्वा अन्धः सप्त

*छा. ४-१५.

†छा. ८-१०, ११.

‡छा. ८-३.

§ब्र. सू. १-१५.

भवति विद्धः सन्नविद्धो भवति उपतापी सन्ननुपतापी भवति, तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वा अपि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विमातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः* इति वाक्यशेषः । अत्र हि दहराकाशप्राप्त्या पाप्मकार्यतया जरादिवत् पाप्मरूपस्यान्धत्वादेरभावे सततोदितप्रकाशत्वे च प्राप्यस्य दहराकाशस्यापहतपाप्मत्वं सततोदितप्रकाशत्वं च हेतुत्वेनोच्यते । तस्य तद्धेतुत्वं 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'† इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धम् । तेन दहराकाशं प्राप्तस्योक्तफलावाप्तिस्तत्साम्यापत्तिरूपा तदनुकृतिरेति लभ्यते । सा च ततो भेदे एवोपपद्यते । अतश्चायं न जीव इति तात्पर्यम् ॥

पुनरस्मिन् प्रमाणान्तरमाह—

अपि च स्मर्यते ॥ २२ ॥

दहरपुण्डरीकान्तर्वर्तित्वपुपाख्यत्वं च ब्रह्मणः स्मर्यते—

अथवा परमात्मानं परमानन्दविग्रहम् ।

गुरुपदेशाद्विशेषं पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ॥

ब्रह्म ब्रह्मपुरे गार्गि दहराब्जखमध्यमे ।

अभ्यासार्त्तं संग्रहयन्ति सन्तस्त्वं च तथा कुरु ॥

इत्यादि । ततः परज्योतिस्स्वरूपं मुक्तप्राप्यं परशक्त्युमासनायं परब्रह्म दहरपुण्डरीकाकाशमध्यवर्ति स्वाभाविकापहतपाप्मत्वादिगुणकमुपासनीयमिति सिद्धम् ॥

६. अधिकरणम्.

अथ परमेश्वरस्योपाख्यरूपान्तरमुच्यते—

शब्दादेव प्रमितः ॥ २३ ॥

कठवल्ल्यामस्य विषयः श्रूयते—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।

ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥*

इत्यादि । इहाङ्गुष्ठमात्रतया श्रूयमाणः पुरुषः परमेश्वरो वेति सन्देहः ॥

जीव इति वक्तुं युक्तम्—

स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा

प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ।

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः

संकल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ॥†

इति तस्याङ्गुष्ठमात्रत्वसिद्धेः, 'मध्य आत्मनि तिष्ठति' इति देहान्तर्वर्तित्वावगमाच्च । न तु परमेश्वरो व्यापकः ॥

इति प्राप्ते—वदामः । परमेश्वर एवाङ्गुष्ठमात्र इति युक्तम् । 'ईशानो भूतभव्यस्य' इत्यादिपरमेश्वरलिङ्गशब्दात्, 'सर्वेश्वर्यसंपन्नः सर्वेश्वरः शंभुराकाशमध्ये'‡ इति तस्यैव सर्वेश्वरत्वश्रवणात् ॥

कथं परमेश्वरे परिच्छिन्नत्वमभ्यस्यमानमुपपद्यत इति आह—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २४ ॥

अपरिच्छिन्नस्यापि परमेश्वरस्याङ्गुष्ठमात्रत्वमुपासकहृद्यपेक्षया, मनुष्याधिकारत्वादुपासनाशास्त्रविधेः । मनुष्याणां हृद्यपेक्षया

यावत्प्रमाणं तदवच्छिन्नं रूपं परमेश्वरः परमकारुणिकः परिगृह्णाति तदुपासनासिद्धये । ततः परमेश्वरो ज्योतिर्मयो लिङ्गरूपतयोपासकानां हृदयमध्ये तिष्ठतीति निर्णयः ॥

७. अधिकरणम्.

‘मनुष्याधिकारत्वात्’* इत्यस्मिन्नधिकरणे मनुष्याणामेव परमेश्वरोपासनेऽधिकारस्सूचितः । कथं देवानामपि परमेश्वरविषयमुपासनं श्रूयतेऽथर्वशिरसि, ‘ततो देवा रुद्रं नापश्यंस्ते देवा रुद्रं ध्यायन्ति’ इत्याशङ्कायां तदुपपादनायाधिकरणमिदमारभ्यते—

तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥ २५ ॥

अस्याथर्वशिरसि श्रूयते ‘ते देवा रुद्रं ध्यायन्ति’ इति विषयः ॥

इह परमेश्वरोपासने देवानामधिकारः संभवति न वेति संशयः ॥

न संभवतीति पूर्वः पक्षः । अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेणापर्युदस्तो हि वैदिके कर्मण्यधिकारी । न च तेषां सामर्थ्यमस्ति, विग्रहाभावात् । विग्रहवन्तो हि स्तुतिध्यानादिषु कर्मसु समर्थाः । ‘इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्’† इत्यादीनां प्रामाण्यात् तेषां विग्रहवत्त्वमिति चेत्—न, विध्येकवाक्यतापन्नानामन्यत्र तात्पर्याभावात् । सद्भावेऽपि तेषामर्थित्वं नास्ति परमेश्वरं प्रति, तेषां परमेश्वरस्य च पदस्यैकत्वात्, ‘देवा ह वै स्वर्गं लोकमगमंस्ते देवा रुद्रमपृच्छन् को भवान्’‡

*ब्र. सु. १-३-२४.

†तै. सं. ६-५-१.

‡अथर्वशिरः.

इति श्रुत्या स्वर्ग एव लोको रुद्रस्य परब्रह्मणः पदमवगम्यते
 स एव देवानाम् । मुक्तस्यापि स्वाराज्यमेव प्राप्यतया व
 गम्यते 'आप्नोति स्वाराज्यम्'* इत्यादिषु । तथा वैदुष्यमा
 तेषां नास्ति, उपनयनसंस्कारपूर्वकस्य वेदाध्ययनस्याभावे
 तेषां वेदान्तविचारसंभवाद्ब्रह्मबोधानुपपत्तेः । अत एव ते
 शास्त्रपथ्युदासश्च । तस्माद्देवानां नास्ति ब्रह्मोपासनेऽधिक्य
 इति ॥

सिद्धान्तस्तु—ब्रह्मोपासने देवानामप्यधिकारोऽस्ति । कुतः
 तेषामर्थित्वसंभवात् । न च परमेश्वरस्य देवानां च प
 समानं, यतः सामान्येन सुखवाचकोऽपि स्वर्गशब्दः प्रकर
 दिना विशेषमभिधत्ते; यथेश्वरशब्दः स्वामिमात्रवाचकः प्र
 रणवशात् 'उपेयादीश्वरं चैव योगक्षेमार्थसिद्धये'† इत्यादि
 जनपदाधिपतिमात्रवाची राजविषयः, ब्रह्मणः प्रकरणे पुन
 निरतिशयैश्वर्यवाची तद्विषयो भवति, तथा सुखमात्रवाच
 स्वर्गशब्दः प्रकरणेन प्रमाणान्तरोपपत्त्या च देवानां पदं
 यिष्णुत्वसातिशयत्वादिदोषकलुषितस्वलपसुखमभिधत्ते, एत
 ह्यणः शिवस्य पदं तु निरतिशयसुखस्वरूपमनावृत्तिलक्षणं
 ब्रूते । अतः सातिशयत्वादिदोषदुष्टसुखपदवर्तिनां निरतिश
 सुखं ब्रह्मपदं प्रत्यर्थित्वं संभवत्येव । तेषामर्थवादप्रामाण्य
 विग्रहवत्त्वेन सामर्थ्यं चास्ति; 'आदित्यो यूषः'‡ 'अग्निर्हिम
 भेषजं'§ इत्यादिमा गुणवादानुवादानां स्वार्थं तात्पर्यमावे
 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्'¶ इत्याद्यर्थवादानां विरोधस्य प्र
 न्तरप्राप्तेऽभावेन स्वार्थं तात्पर्यसंभवात् । शक्यतिशय
 स्वयंभातवेदार्थत्वात् पूर्वाधीतवेदविस्मरणाभावाद्वा तेषां वैदु

च संभवति । शास्त्रस्य साधारण्येनोपासनाविधायकत्वादधिकारस्य दुर्निवारत्वेन दूरतस्तत्पर्युदासः । तस्माद्ब्रह्मविद्यायामधिकारिणो देवाः ॥

देवानां विग्रहादिमत्त्वे विरोधमाशङ्क्य परिहरति—

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्ते—

दर्शनात् ॥ २६ ॥

नानादेशप्रवृत्तेषु यज्ञेषु तत्रतत्राहूतानां देवानां विग्रहादिमत्त्वे सर्वत्र युगपत् साक्षिभ्यं वाच्यम् । तन्न युज्यते । ततः कर्मणि विरोध इति चेत्—न शङ्क्यमेतत् । विग्रहादिमत्त्वेऽपि सौभरिप्रभृतिषु युगपदनेकदेहप्रतिपत्तिर्दृष्टा । ततो न कश्चिद्विरोधः ॥

मा भूत्कर्मणि विरोधः, वैदिकशब्दे भवतीत्यत आह—

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमा-

नाभ्याम् ॥ २७ ॥

कर्मविरोधाभावेऽपि वैदिके शब्दे विरोधः प्रसज्यते । कथं? देवानां सावयवत्वादनित्यत्वं सहजमेव । तत इन्द्रादिदेवानामपि उत्पत्तिरनिवार्या । तथात्वे तदुत्पत्तेः प्राक् तद्विनाशात् परतश्च वैदिकेन्द्रादिशब्दानामर्थशून्यत्वमनित्यत्वं वा स्यात् । अनित्यत्वे पौरुषेयत्वेन विधिनिर्बन्धवाक्यानामप्रामाण्यम् । अतस्तत्प्रयुक्तकर्मणां चासिद्धिरित्यनेकानर्थापत्तिः । ततो वैदिकशब्दविरोधस्य परिहाराय विग्रहवत्त्वं देवानामनङ्गीकार्यमिति चेत्—न, अतो वैदिकादेव इन्द्रादिशब्दात् इन्द्राद्यर्थसृष्टेः । यदीन्द्रादिशब्दा व्यक्तिवाचकाः स्युः तदा खल्विन्द्रादि-

शब्दार्थनाशे तेषामर्थशून्यत्वमनित्यत्वं वा स्यात् । गवादिशब्दवत् आकृतिवाचकत्वमेवेन्द्रादिशब्दानामुच्यते । तथा च यथा कुलालो घटादिशब्दात् मनसि विपरिवर्तमानं तत्तदकारं स्मृत्वा घटादिकं सृजति, तथा पूर्वस्मिन्निन्द्रादौ विनाशैवैदिकादिन्द्रादिशब्दात् ब्रह्मा पूर्वेन्द्राद्याकृतिविशेषं स्मृत्वा तदाकारमपरमिन्द्रादिकं सृजति । तत इन्द्रादिव्यक्तिविनाशोऽर्थतत्तदाकृतेरविनाशेन शब्दानां नित्यत्वादविरोधः । किं प्रमाणादिति चेत्—श्रुतिः स्मृतिश्च । तथा हि 'वेदेन रूपेण करोत् । सतासती प्रजापतिः ।' * 'स भूरिति व्याहरत् । स भूमिमसृजत' † इत्यादिः श्रुतिः ॥

सर्वेषां च स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् ।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्गमे ॥ ‡

इत्यादिः स्मृतिः ॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २८ ॥

अत एव 'मन्त्रकृतो वृणोते' § 'विश्वामित्रस्य सूक्तं भवति' ¶ इति विश्वामित्रादीनां मन्त्रकृत्त्वेऽपि विश्वामित्रादिशब्दानामाकृतिनिमित्तत्वेन मन्त्रब्राह्मणमयस्य वेदस्य नित्यत्वमुपाययते, यतो ब्रह्मा वैदिकात् शब्दात् अर्थं स्मृत्वा सृजति अनर्थात्तमन्त्रादिदर्शनशक्तत्वात् । तथा च पूर्वविश्वामित्रादीनामाकृतिविशेषांस्तत्तद्वैदिकशब्दैः स्मृत्वा तदाकारानेवापरान् तत्तच्छक्तिविशेषयुक्तान् ब्रह्मा नैमित्तिके प्रलये गते सृजति । तच्चानधीत्यैव तान् मन्त्रानखिलान् पठन्ति । अतस्तेषां मन्त्रादिकर्तृत्वं वेदनित्यत्वं च ॥

* तै. ब्रा. २-६-२.

† तै. ब्रा. २-२-४.

‡ मनुस्मृतिः. १-२१.

§ आपस्तम्बप्रवरखण्डे. १-७.

¶ तै. सं. ५-३-२.

भवत्वेवं नैमित्तिकप्रलये । प्राकृतप्रलये तु ब्रह्मादौ वेदाख्ये
शब्दे च विनष्टे कथं वेदनित्यत्वमित्यत आह—

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्श-
नात् स्मृतेश्च ॥ २९ ॥

सृज्यानां समाननामरूपत्वादेव प्राकृतप्रलयावृत्तावप्यविरो-
धः । तथा हि—सर्वज्ञः सर्वशक्तिः विश्वाधिकः परमेश्वर आदि-
कर्ता पूर्वप्रपञ्चसंस्थानं स्मृत्वा तदाकारमेव पुनः प्रपञ्चं सृजति
वेदानपि पूर्वानुपूर्वीविशिष्टान् अनुस्मृत्य पुन्रभूताय ब्रह्मणे प्रय-
च्छति । कथमवगम्यते ? श्रुत्या स्मृत्या च—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो सुवः ॥*

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ॥†

इत्यादिः श्रुतिः । स्मृतिरपि—

अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत् ।

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ॥

तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकापितामहः ।

ब्रह्माणं विदधे पूर्वं वेदानस्मै प्रयच्छति ॥‡

इत्यादिः । ततः प्राकृतप्रलयावृत्तावपि वेदानां नित्यत्वमेव ॥

मतान्तरमाह—

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ॥३०

मधुविद्यादिषु वस्वादिदेवानामेवोपास्यत्वात् वसुत्वादीनामेव
प्राप्यत्वाच्च वस्वादीनां कर्तृकर्मभावविरोधेनोपास्यत्वासंभवात्

वस्वादीनां सतां वस्वादित्वं प्राप्तमिति प्राप्यत्वासंभवाच्च,
वस्वादीनामनधिकारं जैमिनिर्मन्यते ॥

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३१ ॥

‘तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्’*
ज्योतिषि परब्रह्मणि देवानां साधारण्येन प्राप्तत्वेऽपि अक्षि
रभाववचनादन्यत्र मध्वाद्युपासनेऽनधिकारो न्यायसिद्धो गम्यते

स्वमतमाह—

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३२ ॥

मधुविद्यादिष्वपि वस्वादीनामधिकारभावं बादराय
मन्यते । अस्ति हि वस्वादीनां सतां वस्ववस्थब्रह्मणः स
स्यत्वसंभवः, कल्पान्तरे वसुत्वादेः प्राप्यत्वसंभवश्च । त
कारणोभयावस्थं ब्रह्मात्र सधुपास्यम् । तत्र ‘असौ वा
दित्यो देवमधु’† इत्यारभ्य आदित्यवस्वादिनामरूपकृत्य
कार्यविशेषावस्थं ब्रह्मोपास्यमुपदिश्यते । ‘अथ तत उ
उदेत्यनेनैवोदेता नास्तमेता’† इत्यादिना नामरूपकृत्यरहितस
दित्यान्तरात्मतयाऽवस्थितं कारणावस्थं ब्रह्मोपास्यमुपदिश्यते ।
दुभयावस्थब्रह्मोपासनफलं कल्पान्तरे वस्वादित्वं, उभयाधि
रावसाने ब्रह्मप्राप्तिश्च । तत्र ‘स य एतदेवममृतं वेद
नामेवैको भूत्वा अग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति’
दिना वस्वादित्वरूपं फलमुपदिश्यते, ‘न ह वा अस्मा
न निम्रोचति सकृद्धि वा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्म
निषदं वेद’† इति ब्रह्मप्राप्तिरूपं फलमुपदिश्यते । ततो

दिव्यपि देवानामधिकारोऽस्तीति । तस्मात् सर्वथा देवा ब्रह्म-
विद्याधिकारिण इति ॥

८. अधिकरणम्.

अथ 'मनुष्याधिकारत्वात्'* इति सामान्येन मनुष्याणाम-
धिकारे प्राप्ते विशेषमाह—

शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात्
सूच्यते हि ॥ ३३ ॥

छान्दोग्ये श्रूयतेऽस्य विषयः 'आजहारेमाः शूद्रानेनैव
मुखेनालापयिष्यथाः' इति ॥

अत्राचार्यः शिष्यं शूद्रेत्यामन्त्रयते । अतः शूद्राणामपि ब्र-
ह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति न वेति संदेहः ॥

तेषामधिकारोऽस्ति, अर्थित्वादिसंभवात् । न च त्रैव-
र्णिकानामेवेति नियमः; अत्रैवर्णिकानामपि देवानां तद्दर्शनात् ।
देवानामुपनयनाध्ययनाभावेऽपि स्वयंभातवेदार्थतया युज्यते वि-
द्वत्ता, कथमेषामिति न शङ्क्यम् । एषामपि पुराणश्रवणादिना
बोधोपपत्तेः, निषादस्थपतिन्यायेन महावाक्यग्रहणेऽधिकारसंभ-
वाच्च । तस्मादमीषामधिकारो ब्रह्मविद्यायामुचितः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—नास्ति शूद्राणां ब्रह्मविद्यायामधिकारः,
तेषामध्ययनाभावेन तदुपायभूतोपास्यतद्रुणादिज्ञानासंभवात् । इति-
हासपुराणानि वेदोपवृंहणं कुर्वन्त्येवोपायभावमनुभवन्ति, न स्वा-
तन्त्र्येण । शूद्राणामितिहासपुराणश्रवणानुज्ञानं तु पापक्षयफलम् ।

विदुरधर्मव्याधादीनां जन्मान्तरलिङ्गज्ञानाप्रमोषात् ब्रह्मनिष्पन्न
कथं ब्रह्मविद्योपदेशे शूद्रेत्यामन्त्रणमिति चेत्—नात्र जातियोगे
शूद्रेत्यामन्त्रणम्, किंतु ब्रह्मज्ञानाप्राप्त्या शुभस्य संजातेति दर्शनात्
शुभस्य संजातेति च तदनादरश्रवणात् ब्रह्मविद्यावैकल्येन स
त्मानं प्रति हंसोक्तानादरवाक्यश्रवणात् तदैवाचार्यं प्रत्याद्रवणात्
सूच्यते । हिशब्दो हेतौ । यतः शूद्रेत्यामन्त्रणं न जातियोगे
ततः शूद्रस्य ब्रह्मोपासनं नास्तीति ॥

इतश्च शूद्रेत्यामन्त्रणं न जातियोगेनेत्याह—

क्षत्रियत्वावगतेश्च ॥ ३४ ॥

शुश्रूषोर्जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतेश्च न जातियोगेन शू
त्यामन्त्रणम् । उपाख्यानोपक्रमे हि 'जानश्रुतिर्ह पौत्राणां
श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपात्र्य आत्स, स ह सर्वत आवसत
मापयांचक्रे सर्वत एव मेऽन्नमत्स्यन्ति'* इति जानश्रुते
निपतित्वं बहुतरपक्वान्नदायित्वं चोक्तम् । मध्ये च 'स ह स
जिहान एव क्षत्तारमुवाच'* इति क्षर्तृप्रेषणमुक्तम् । अत्र
च 'इयं जाया अयं ग्रामो यस्मिन्नास्से'* इति 'ते हैते पौ
पर्णा नाम महावृक्षेषु यत्रास्मा उवास'* इति बहुग्रामप्रदायि
मुक्तम् । एतैर्लिङ्गैर्जानश्रुतेः क्षत्रियत्वमवगम्यते ॥

उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥ ३५ ॥

उपरिष्ठाच्चास्यां संवर्गविद्यायां ब्रह्मक्षत्रिययोरेवान्वयो
ह्यते, 'अथ शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसं
परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिक्षे'* इत्यादौ । अत्राभिप्रतारिणं
चैत्ररथः क्षत्रिय इत्यवगम्यते, कापेयाख्ययाजकयोगात् । इति

ययाजकयोगो हि चैत्ररथस्य श्रुतः 'एतेन चैत्ररथं कापेया
अयाजयन्, तमेकाकिनमन्नस्याध्यक्षमकुर्वन्' इति । तेनाभिप्रता-
रिणः संज्ञाभेदात् चित्ररथत्वासिद्धावपि तद्वंश्यत्वं सिध्यति ।
समानान्वयानां हि समानान्वयाः प्रायेण याजका भवन्ति ।
चित्ररथवंश्यत्वे सति क्षत्रियत्वं 'तस्माच्चैत्ररथो नामैकः क्षत्र-
पतिर्जायते' इति तद्व्यवशेषेण सिद्ध्यति । एवं चोत्तरत्र
ब्राह्मणेन कापेयेन युक्तोऽभिप्रतारी क्षत्रिय इति निश्चिते तद्वत्
ब्राह्मणेन रैक्तेन युक्तो जानश्रुतिरपि क्षत्रिय इति गम्यते । अतः
क्षत्रिय एव शूद्रेत्यामन्त्रितः ॥

यदुक्तं निषादस्थपतिन्यायेन शूद्रस्य महावाक्यश्रवणमात्रेऽ
धिकार इति तत्राह—

संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलाषाच्च ॥ ३६

ब्रह्मविद्योपक्रमे 'उप त्वा नेष्ये' 'तं होपनिन्ये'* इत्यादि-
प्रदेशोपनयनसंस्कारपरामर्शात्, शूद्रस्य च 'न शूद्रे पातकं किं
चिन्न च संस्कारमर्हति'† 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः'‡ इत्यादि-
स्मृतिषु तदभावश्रवणात्, तस्य ब्रह्मविद्यायामनधिकारः । 'निषा-
दस्थपतिं याजयेत्' इति विधिरस्तीति न विरोधः । उपनयना-
भावेऽपि शूद्रस्य महावाक्यश्रवणे कुत्रापि न विधिः ॥

तदभावाभिधारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

'नैतद्ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सौम्याहरोप त्वा नेष्ये
न सत्यादगाः'* इति सत्यवचनेन जावालस्य शूद्रत्वाभावनिर्धा-
रणे सत्येव तदुपनयनानुशासनविद्योपदेशप्रवृत्तेश्च न शूद्रस्या-
धिकारः ॥

ननूपनयनाभावे ब्रह्मोच्चारणनिषेधः काचित्कः सार्वत्रिको वा न सार्वत्रिकः; शिशोरूपनयनाभावेऽपि 'न ब्रह्माभिव्याहारो दन्यत्र स्वधानिनयनात्'* इति स्वधानिनयने ब्रह्मोच्चारणविषयतात् । तेन काचित्क इति युज्यते । अतः शूद्रस्यानुपनीतपाकयज्ञादिषु ब्रह्मोच्चारणनिषेधो न ब्रह्मविद्यायामित्याशङ्क्यामाह-

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् ॥ ३८ ॥

शूद्रस्य वेदवाक्यश्रवणादि निषिध्यते 'तस्माच्छूद्रसंन्याध्येतव्यम्' इति । अनुपशृण्वतः कुतोध्ययनादिप्रसक्तिः? ॥

स्मृतेश्च ॥ ३९ ॥

स्मर्यते च शूद्रस्य वेदश्रवणादौ दण्डः 'अथ हास्य वेदपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्, उदाहरणे जिह्वाच्छेदः, वरणे शरीरभेदः'† इति । एवं श्रुतिस्मृतिभ्यां शूद्रसमीपाध्ययनदिनिषेधात् कुतस्तेषां वेदार्थविचारादिकम्? अतः सर्वथा षट्वर्षब्राह्मणाद्युपयुक्तोपनयनसंस्कारमन्तरेण वेदाध्ययनप्राप्तिर्न तत्रापि कस्यंचिदिति सिद्धम् । ततः शूद्रा ब्रह्मविद्यायामन्यकारिण एव ॥

१. अधिकरणम्.

एवं प्रासङ्गिकमधिकारिनिरूपणं कृत्वा प्रकृतमनुसरति-
कम्पनात् ॥ ४० ॥

अङ्गुष्ठप्रमितपुरुषप्रकरणे कठवल्लोषु श्रूयते—

यदिदं किंच जगत् सर्वं प्राण एजति निस्सृतम् ।

महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥*
इति । तत्र कम्पनहेतुः परमेश्वरोऽन्वो वेति संशयः ।

अत्र प्राणशब्दनिर्दिष्टजनितभयेन सकलजगत्कम्पनमुच्यते ।
परमेश्वरस्य सकलजगदभयप्रदानमधुरस्वभावस्य परमकारुणि-
कस्य जगत्कम्पनहेतुत्वमयुक्तम् । तस्माद्वज्रश्रुतेरशनिः कम्प-
नहेतुः । यद्वा—प्राणवायुः कम्पनहेतुः, प्राणश्रुतेः । प्राणवायो-
र्द्वैहचलनहेतुत्वेन प्राणे निमित्ते सर्वमिदं जगच्छरीररूपं चल-
तीति; 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निस्सृतम्'*
इत्यस्य तत्रोपपत्तेः । वायुनिमित्तमेव विद्युस्तनयित्वुवृष्टिवन्म-
हाभयहेतुरशनिरपि विवर्तत इति 'महद्भयं वज्रमुद्यतं'* इत्य-
स्यापि तत्रोपपत्तेः । 'वायुरेव व्यष्टिर्वायुरेव समष्टिरप पुनर्मृ-
त्युं जयति य एवं वेद'† इति श्रुतेर्वायुविज्ञानादमृतत्वोपपत्तेश्च ॥

इति प्राप्तं परमेश्वर एव कम्पनहेतुरिति ब्रूमः । परमे-
श्वरस्य सकलजगत्कम्पनहेतुत्वं शासकत्वात् संभवति, यस्य
शासनभयेन सर्वे वयं निषिद्धेषु विमुखा विहितेषु प्रवर्तामहे,
यच्छासनभयादेव वाय्वादीनां स्वस्वाधिकारप्रवृत्तिः 'भीषाऽ-
स्माद्वातः पवते'‡ इत्यादिष्ववगम्यते । कल्याणमूर्तिरपि पर-
मेश्वरः शासकतया भयदर्शनो भवति । ततः श्रूयते—'तस्मा-
द्राजमुखं भीष्मं भावुकं'§ इति । तस्मात् स्वामितया सकल-
जगद्भयहेतुरीश्वर एव ॥

१०. अधिकरणम्.

दहरादिषूपास्यतया निर्दिष्टस्य परमेश्वरस्य प्राप्यत्वमुप-
पादयितुमाधिकरणान्तरमारभ्यते—

* कठ. ६.

† बृह. ५-३.

‡ तै. २-८.

§ तै. ब्रा. ३-८-२३.

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४१ ॥

छान्दोग्येऽस्य प्रजापतिविद्यायामाज्ञायते विषयः—
संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्ते
रूपेणामिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः* इति ॥

मुक्तप्राप्यतया श्रूयमाणं परं ज्योतिः परमेश्वरः किं ?
नारायणो मूर्त्यात्मेति संशयः ॥

‘उत्तमः* पुरुषः’ इति मुक्तप्राप्यस्य परज्योतिषः पुरुषोत्तम
शब्दवाच्यतयाऽवगमात् पुरुषोत्तमशब्दस्य नारायणे रूढतया
एवोत्तमपुरुषशब्दसमानाधिकरणं परं ज्योतिः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—मुक्तप्राप्यं परं ज्योतिरिह परमशिव
मिधानं परं ब्रह्म, तत्प्राप्तानामेवानावृत्तिदर्शनात् । परब्रह्मणो
न्यत् प्राप्तानां कथमनावृत्तिः समुचिता । पुरुषोत्तमशब्द
नारायणे रूढोऽपि ब्रह्मण्यपि वर्तते, पुरुषेभ्यो जीवेभ्योऽपि
त्वात्, ब्रह्ममेधकल्पेऽपि—‘वेष्टितुं पुरुषोत्तमम्’ इति प्राप्य
परब्रह्मणः पर्यायत्वेन पुरुषोत्तमशब्दस्य प्रयोगात् । अतः
ब्रह्मैव परं ज्योतिः ॥

११. अधिकरणम्.

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिष्ठयपदेशात् ॥ ४२ ॥

छान्दोग्ये श्रूयतेऽस्य विषयः—‘आकाशो वै नाम नाम
पर्यायान्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा’* इति

अत्र नामरूपयोर्निर्वोदत्वेन श्रूयमाणः स आकाशः परमेश्वरो वियद्वा जीवो वेति संशयः ॥

सर्वभूतावकाशप्रदानेन नामरूपनिर्वोदत्वस्य वियति संभवात्, वियदिह आकाशः । अथवा जीवः, 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'* इति तस्य नामरूपव्याकरणसंबन्धदर्शनात् ॥

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एवात्राकाशशब्देन नामरूपनिर्वोदा श्रूयते, अमृतत्वादितद्धर्मव्यपदेशात् । न ह्याकाशोऽमृतत्वादिकं संभवति जीवे वा । अतः परमेश्वर एवाकाशः ॥

ननु 'तत्त्वमसि' इत्यादिनैक्यव्यपदेशात् प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमेश्वरोऽस्तीत्याशङ्क्याह—

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४३ ॥

'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किं चन वेद नान्तरं'† 'प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन् याति'‡ इति सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः बाह्यान्तरविषयज्ञानशून्यात् जीवात् तदानीमेव प्राज्ञतया भेदेन व्यपदेशात् जीवादर्थान्तरभूतः परमेश्वरोऽस्ति । स एवात्राकाशशब्दवाच्यः ॥

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४४ ॥

परिष्वञ्जके प्राज्ञे श्रूयमाणेभ्यः पत्यादिशब्देभ्यश्च अयमन्य एव जीवादित्यवगम्यते । 'स सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्न नो एवासाधुना कनीयान् एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेव भूतपालः'* इत्यादिकमुत्तरत्र हि श्रूयते । 'पशूनां पतये...वृक्षाणां पतये'§

* छा. ६-३...८.

† बृह. ६-३.

‡ बृह. ६-४.

§ तै. सं. ४-५-२.

इत्यादिभिश्च परमेश्वरस्य जगदाधिपत्यं प्रसिद्धं, न कुत्र
जीवस्य । तस्मादयं जीवादन्त्यः परमेश्वर एवानाकाशरा
वाच्यः ॥

इति श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचिते ब्रह्ममीमांसाभा-
ष्ये प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः पादः.

१. अधिकरणम्.

पूर्वपादे स्पष्टास्पष्टब्रह्मलिङ्गानि वाक्यानि विचारितानि
चतुर्थेऽस्मिन् पादेऽस्पष्टलिङ्गानि कानिचिद्वाक्यानि विचार्यते.

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीर

पकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

एकेषां कठानां शास्त्रायामास्त्रायतेऽस्य विषयः—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः* ॥ इति

अत्र महतः परत्वेन उच्यमानं अव्यक्तशब्दवाच्यं प्रधानं
पिलं उत शरीरं वेति संशयः ॥

प्रधानमिति पूर्वः पक्षः । कथं? महदव्यक्तपुरुषाणां
ह्येतन्त्र एव प्रसिद्धेः, तेषामिह श्रुतौ प्रत्यभिज्ञानात्
न कश्चिदिह प्रसङ्गः । तस्मात् साङ्ख्यं प्रधानमिति ॥

वपुरिति सिद्धान्तः । पूर्वत्र—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान् ॥*

इत्यात्मशरीरादिषूपसन्नोपायेषु वशीकार्यत्वाय रथिरथादिरूपक-
विन्यस्तेषु परिशिष्टस्य शरीराख्यरूपकविन्यस्तस्य अव्यक्तश-
ब्देन गृहीतेः । 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यारभ्य 'सा
काष्ठा सा परा गतिः' इत्यन्तेन वशीकार्यत्वाय ह्युत्तरोत्तरं
परा उच्यन्ते । तदेतत्—

यच्छेद्वाङ्मनसो प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥*

इति श्रुतिरेवाग्रे दर्शयति । तस्मात् अव्यक्तं वपुरत्र प्रति-
पाद्यम् ॥

ननु प्रधानमव्यक्तमिति प्रसिद्धम्, कथमिह शरीरमुच्यत
इत्याशङ्कयामाह—

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

सूक्ष्ममित्यव्यक्तमुच्यते । अव्यक्तमेव शरीरावस्थं कार्याह-
त्वात् अव्यक्तशब्देनोच्यते इति युक्तम् ॥

युक्त्यन्तरमाह—

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

आत्मशरीरादिकं परमेश्वराधीनतया अर्थवत् उपासनानिर्वृ-
त्तये भवति । परमेश्वरोऽन्तर्यामी सर्वमात्मादिकं प्रेरयन्नेव चो-

पासनोपायत्वेन वशीकार्यकाष्ठेति प्राप्यत्वेन 'सा परा गतिः' ति
चोच्यते । ततोऽव्यक्तमिह शरीरमेव ॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

यदि सांख्यं प्रधानमत्राव्यक्तं तदाऽस्य ज्ञेयत्वमुच्येत ।
च तदस्ति । ततो न कापिलमव्यक्तम् ॥

ज्ञेयत्वमप्यस्योक्तमस्तीत्याशङ्क्य परिहरति—

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं

तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

अनाद्यनन्तं महतः परं भ्रुवं

निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥*

इत्यग्रेतनमन्त्रः अस्यापि ज्ञेयतां वदतीति चेत्—न, 'यच्छेद
नसी प्राज्ञः'* इति प्राज्ञस्यैव पूर्वं प्रकृतत्वात् । ततोऽव्यक्त
रीरमेव ॥

प्रधानस्य प्रसङ्ग एव नास्तीत्याह—

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

त्रयाणामुपास्योपासनोपासकानामेवात्र प्रकरणे ज्ञेय
प्रश्न उपन्यासश्च क्रियते, न प्रधानादेः । यथा—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं

गुहाहितं गह्वरेष्टं पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥†

इत्यादिरूपन्यासः ॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
अस्तित्वेके नायमस्तीति चैके ।

एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥* इति,

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मा-

दन्यत्रास्मात् कृताकृतात् ।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च

यत् तत् पश्यति तद्वद ॥†

इति च प्रश्नः । तस्मादप्रकृतत्वादपि शरीरमेवाव्यक्तं न
प्रधानम् ॥

किंच लिङ्गान्तरमप्यस्तीत्याह—

महद्वच्च ॥ ७ ॥

यथेह 'बुद्धे रात्मा महान् परः'‡ इत्यत्र न तान्त्रिको म-
हान् भवति आत्मशब्दात्, तथा अव्यक्तशब्दादपि न प्रधान-
मिति निर्णयः ॥

२. अधिकरणम्.

अप्रकृतत्वादिह न प्रधानप्रस्ताव इति भवतु । अन्यत्र प्र-
धानमेव कारणत्वेन श्रूयत इत्याशङ्क्याधिकरणमिदमारभ्यते—

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयतेऽस्य विषयः—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां

वह्नीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते

जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥* इति ॥

इह सर्वप्रपञ्चकारणत्वेन जन्मरहितत्वादजेति श्रूयमाणं
प्रकृतिः सांख्यसिद्धा परा वा ॥

इति संशये सांख्यसिद्धेति वक्तुं, युक्तम् । 'अजाम्' इति
जन्माभाववचनात्, सर्वप्रजाकारणत्वाच्च, 'लोहितशुक्लकृष्णम्'
इति वर्णोपलक्षितगुणत्रयावगमाच्च । तदन्यस्याः कस्याश्चिदेवं
विधत्वं न युक्तम् ॥

इति प्राप्ते सिद्धान्त उच्यते—न तन्त्रसिद्धा प्रकृतिरिति
कारणत्वेनोच्यते । न हि जन्माभावमात्रेण तस्या एव प्रतीतिः
'अर्वाग्विलश्चमसः'† इतिवत् प्रकरणे विशेषाभावात् यथा 'तु
तच्छिरः'‡ इति चमसो विशेष्यते । यौगिकशब्दाद्विशेषप्रतीतिरिति
विशेषकापेक्षा ततो न तान्त्रिकी प्रकृतिरिति ॥

तन्त्रसिद्धायाः प्रकृतेरन्या कीदृशीत्यत आह—

ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके॥१॥

ज्योतिरिति परमेश्वर उच्यते । परमेश्वरकारणिकेयमत्र
प्रकृतिरुच्यते । तथा परमेश्वरकारणिकाया एव प्रतिपादकत्वेन
तैत्तिरीयास्तत्स्वरूपमन्त्रमधीयते । 'अणोरणीयान् महतो महे
यान्'‡ इति परमेश्वरमुपक्रम्य 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति त
स्मात्'§ इत्यादिना प्रपञ्चस्य परमेश्वरादुत्पत्तया तदात्मकत्वप्रति

पादनसमये हि 'अजाम्'* इति पठन्ति । अतस्तत्प्रत्यभिज्ञा-
नादियमजाऽपि परमेश्वरकारणिकेति निश्चीयते । अतो न
तन्त्रसिद्धेति वादो युक्तः ॥

ननु परमेश्वरकारणिकेत्यस्याः परमेश्वरकार्यत्वमुच्यते ।
कथमस्यास्तादृश्या अजामिति वाद इत्याशङ्क्याह—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥१०॥

कल्पनेति सृष्टिरुच्यते—

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्
तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥†

इति सृष्ट्युपदेशादजात्वमहेश्वरकार्यत्वयोरविरोधः । तथा हि, प्र-
लयकाले नामरूपे विहायाचिद्वस्तुरूपा मायाऽपि सूक्ष्मरूपेण म-
हेश्वरस्य शरीरतया तिष्ठतीत्यजा सृष्टिसमये नामरूपोपेता त-
त्कारणिकेति यथा आदित्यस्य सृष्टिसमये वस्वादिभोग्यरसाधा-
रत्वेन मधुत्वं कार्यत्वं च, तस्य पुनः प्रलयकाले मध्वादि-
व्यपदेशानर्हात्यन्तसूक्ष्मरूपेणावस्थानात् अकार्यत्वं च मधुविद्यायां
प्रतीयते 'असौ वा आदित्यो देवमधु.....नैवोदेता नास्तमेता
एकल एव मध्ये स्थाता'‡ इति श्रुतेः । एवं प्रकृतेरजात्वेश्वरका-
रणत्वयोरविरोधः । तस्मादजा न तन्त्रसिद्धा ॥

३. अधिकरणम्.

पुनरन्यत्र तन्त्रसिद्धानि पञ्चविंशतिसंख्यानि तत्त्वानि
यन्ते इत्याशङ्क्य तत् परिहर्तुमधिकरणान्तरमारभ्यते—

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादति-

काञ्च ॥ ११ ॥

श्रूयतेऽस्य विषयः—

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।

तमेवं मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥*

इत्यादिः ॥

अत्र ‘पञ्च पञ्चजना’ इति पदार्थाः किं सांख्यसिद्धानि
तत्त्वानि श्रुतिप्रसिद्धानि वेति संशयः ॥

पञ्चविंशतिसंख्यायाः सांख्यशास्त्रप्रसिद्धत्वादत्र तदव-
सात् सर्वथा पञ्च पञ्चजना इति तान्येव प्रतिपाद्यानि ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—इह ‘पञ्च पञ्च’ इति पञ्चविंशतिसं-
ख्योपसंग्रहादपि न तान्त्रिकाणि तत्त्वानि । ‘यस्मिन्’ इति य-
द्बन्निर्दिष्टपरमेश्वराधारेणैवममीषां प्रतीयते । तेभ्य एषां पृथ-
क्, आकाशस्य पृथङ्निर्देशेन तत्त्वातिरेकाच्च । तत्त्वातिरे-
कस्तत्त्वानामधिकसंख्यात्वम् । अतोऽत्र न पञ्चविंशतितत्त्वप्रस-
क्तिः ।

किञ्च, पञ्चविंशतिसंख्योपसंग्रहोऽपि न युक्तः । ‘दि-
व्ये संज्ञायाम्’† इति संज्ञाविषयो ह्ययं समासः । तस्मा-
त्पञ्चजना नाम केचित् ते हि पञ्च पञ्चजना इत्युच्यन्ते । स-
प्तर्षय इतिवत् । अतो न सांख्यतत्त्वप्रसक्तिः ॥

के पुनरेत इत्यत आह—

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

‘प्राणस्य प्राणमुत चक्षुपञ्चश्रुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः’* इति वाक्यशेषात् पञ्चजनसंज्ञकाः प्राणादयः पञ्चेन्द्रियाणीति गम्यते । अतोऽपि न तान्त्रिकतत्त्व-प्रसक्तिः ॥

पुनरुपपत्तिरुच्यते—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

एकेषां काण्वानाम्, ‘अन्नस्यान्नम्’ इति शब्दाभावे ‘त-देवा ज्योतिषां ज्योतिः’† इत्युपक्रमगतेन ज्योतिश्शब्देन पञ्च पञ्च जना इन्द्रियाणीति ज्ञायन्ते । ज्योतिषां ज्योतिः प्रकाशकानामपि प्रकाशकं ब्रह्मेत्युक्त्वा ततः पञ्च पञ्चजना इत्युक्ते हि तानि प्रकाशकानि पञ्चेन्द्रियाणीति गम्यन्ते ॥

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टो-
क्तेः ॥ १४ ॥

यथाऽऽकाशादिषु कार्यवर्गेषु कारणत्वेन सर्वत्र वेदान्त-वाक्येषु ‘असद्वा इदमग्र आसीत्’‡ ‘तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्’§ इत्यादिषु अनिर्ज्ञातविशेषेषु च ‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्’¶ इति विशेषवाक्यनिर्दिष्टस्यैवोक्तेर्न तान्त्रिका-व्याकृतग्रहणम्, तथाऽत्र विशेषवाक्यदृष्टानामिन्द्रियाणामेवोक्तेर्न तान्त्रिकतत्त्वग्रहणम् ॥

*बृह. ६-४-१८.

§ बृह. ३-४-७,

†बृह. ६-४-१६.

¶ ऐत. १-१,

‡ तै. २-७.

तत्र तान्त्रिकतत्त्वग्रहणायोगः कथमित्यत आह ॥

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

‘सोऽकामयत बहु स्याम्’* इति पूर्वनिर्दिष्टस्य सर्वव्यापकस्य असद्वा इदमत्र आसीत्* इति समाकर्षात्, पूर्वनिर्दिष्टस्य व्याकृतस्यैव ‘स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः’† इति समाकर्षाच्च यथा स एवावगम्यते तथाऽत्रापि समाकर्षात् अजनानामिन्द्रियत्वावगतिरिति न विरोधः ॥

४. अधिकरणम्.

गतः सांख्यतत्त्वाशङ्काप्रसङ्गः । पुनरपि जीवात् परमेष्ठिनोऽस्यान्यभावमुपपादयति—

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

श्रूयतेऽस्य विषयः कौपीतकिब्राह्मणोपनिषदि—‘ब्रह्म ब्रवाणि’‡ इत्युपक्रम्य ‘यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां तस्य चैतत् कर्म स वै वेदितव्यः’‡ इत्यादिकः ॥

इह वेद्यत्वेन श्रुतः परमेश्वरो जीवो वेति संशयः ॥

‘य एवैष आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपासे...य एवैष कर्मसि पुरुषो...य एवैष विद्युति’‡ इत्यादिपूर्ववाक्यसंदर्भे प्रादित्यादिसकलपुरुषकर्तृत्वस्य जीवेऽपि विद्यमानत्वात्, कर्मस्य स्यात्पूर्ववाचित्वादपूर्वस्य तदर्थत्वात् निर्धूतसकलकर्मसंबन्धे परमेश्वरे तदयोगात् जीव एवायमिति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु—कर्मशब्दस्य एतच्छब्दसामानाधिकरण्येन क्रियत इति व्युत्पत्त्या च जगद्वाचित्वात् जगत्कार्यवान् परमेश्वर एवात्र प्रतिपाद्यः । न हि जीवे सकलजगत्कर्तृत्वसंभवः ॥

पुनराशङ्क्य परिहरति—

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत् तद्व्याख्या-
तम् ॥ १७ ॥

‘तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा या स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्राज्ञ आत्मा एतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैत आत्मान एतमात्मानं भुञ्जन्ति’* इति ‘यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यति अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति’* इति जीवमुख्यप्राणलिङ्गदर्शनात्तासौ परमेश्वर इति न वाच्यम् । पूर्वत्र प्रतर्दनविद्यायां व्याख्यातत्वात् इहापि पूर्वापरपर्यालोचनया ब्रह्मपरत्वे स्थिते तदुत्पत्तया अन्यानि लिङ्गानि नेतव्यानि । पूर्वत्र हि उपक्रमे ‘ब्रह्म ते ब्रवाणि’* इति ब्रह्मोपक्षिप्तम् । मध्ये च ‘यस्यैतत् कर्म’* इति सकलजगत्कर्तृत्वमुक्तम् । परत्र चोपसंहारे ‘सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रेष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद’* इति ब्रह्मोपासनैकान्तं सर्वपाप्मापहतिपूर्वकं स्वाराज्यफलमुक्तम् । एवमस्य प्रकरणस्य ब्रह्मपरत्वनिश्चये जीवमुख्यप्राणलिङ्गानि तत्परतयैव नेतव्यानि ॥

पक्षान्तरमुच्यते—

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्या-
मपि चैवमेके ॥ १८ ॥

‘तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुस्तं हाजातशत्रुरामन्त्रयान्ते
 बृहन् पाण्डरपासः सोमराजन् इति स ह तूष्णीमेव शिष्टः
 तदुह एनं यष्ट्या व्याचिक्षेप स तत एव समुत्तस्थौ* इति
 प्राणनामभिरामन्त्रणेऽपि तदश्रवणेन ततः परं यष्टिघाते स
 स्थानेन च प्राणाद्यतिरिक्तजीवसद्भावप्रतिपादनं तदतिरिक्तप्राण-
 श्वरप्रज्ञापनार्थमिति ‘कैष एतद्वालाके पुरुषोऽशयिष्ट ह
 एतदभूत् कुत एतदागात्’* इति प्रश्नात् ‘यदा सुप्तः सप्तः
 कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति** इति ‘स
 सोम्य तदा संपन्नो भवति’† इत्यादिवाक्यान्तरसमानार्थात्
 प्रतिवचनाच्चावगम्यते । एके वाजसनेयिनः विस्पष्टमस्मिन्
 लाक्ष्यजातशत्रुसंवादे एतत्समानार्थमधीयते । तत्र हि ‘क
 एतत् सुप्तोऽभूत् य एष विज्ञानमयः पुरुषः कैष तदाऽभूत्
 एतदागात्’‡ इति प्रश्नः ‘यत्रैष एतत्सुप्तोभूद्य एष विज्ञान-
 पुरुषस्तदैषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्ह
 आकाशस्तस्मिञ्छेते’§ इति प्रतिवचनम् । तस्मात् परमे-
 ष्वायं सकलजगत्कर्मेति सिद्धम् ॥

५. अधिकरणम्.

सर्वत्र जीवेश्वरयोरेकत्वशब्दविषयत्वे प्रतीयमाने तत्स-
 नाधि^{र्क}रण्यं कथमित्येतन्निरूपणाय देमाधिकरणमारभ्यते—

वाक्यान्वयात् ॥ ११ ॥

बृहदारण्यके श्रूयतेऽस्य विषयः—‘न वा अरे
 कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति

इत्यारभ्य 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदि-
ध्यासितव्यः'* इत्यादि श्रूयते ॥

इह 'आत्मनस्तु कामाय'* इत्यादिवाक्यैः भोगप्रीतियुक्त-
तया आत्मनः संसारित्वावगमात् अत्र प्रतिपाद्यमानो जीवः ॥

इति पूर्वपक्षे प्राप्ते—सिद्धान्तयामः परमेश्वर इति । कुतः ?
'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन'* 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते
मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्'* 'इदं सर्वं यदयमात्मा'*
इत्यादेः, 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्'* इत्य-
वसानस्य कृत्स्नस्य वाक्यस्य परमेश्वरेऽन्वयात् भोगप्रीतियुक्त-
जीवस्थानुवादेन परमेश्वरप्रतिपादनादविरोधः ॥

कथमिह सर्वत्र जीवशब्देन परमेश्वरामिधानमिति चेत्
तदिदं मतान्तरेणोपपादयति—

प्रतिज्ञासिद्धेल्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

'आत्मनि खल्वरे दृष्टे'* इत्यादिनोक्तस्यैकविज्ञानेन सर्ववि-
ज्ञानस्य सिद्धये जीवस्य तत्कार्यतया तदव्यतिरिक्तां ज्ञापयि-
तुं जीवशब्देन परमेश्वरस्यामिधानमित्याश्मरथ्यो मन्यते ॥

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥

उत्क्रमिष्यतो मुक्तस्य परमेश्वरस्वरूपभावादात्मशब्देन प-
रमेश्वरामिधानमित्यौडुलोमिर्मेने ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतेर्जीवात्मनि परमेश्वर-
स्यात्मतया अवस्थानाज्जीवशब्दवाच्यत्वं परमेश्वरस्येति काश-

कृत्वो मेने । इदमेव मतं सूत्रकारस्य मतद्वयमुपन्यस्य लो-
 रोधेनैतदभिधानात् अन्यस्यानभिधानाच्च निश्चीयते । प्रबलश्रु-
 त्नुगण्यं चात्र संभवति । तथा हि अथर्वशिरसि सर्वचिद्विद-
 शात् परमेश्वरस्य सर्वशब्दवाच्यत्वमिति श्रूयते प्रथम-
 'देवा ह वै स्वर्गं लोकमगमंस्ते देवा रुद्रमपृच्छन् को स-
 निति । सोब्रवीत् —अहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भाव-
 मि च नान्यः कश्चिन्मसो व्यतिरिक्त इति । सोऽन्तर-
 प्राविशादिशो व्यन्तरं विशत् सोऽहं नित्यानित्योऽहं ब्रह्माहं प्र-
 प्रत्यञ्चोऽहं दक्षिणाश्चोदञ्चोऽहमधश्चोर्ध्वं च दिशश्च विदि-
 हं पुमानहं स्त्री चाहं गायत्र्यहं सावित्र्यहं त्रिण्डुवजगत्यनुपु-
 छन्दोऽहं गार्हपत्योऽहं दक्षिणाग्निराहवनीयोऽहं सत्योहं गौरहं
 हं ज्येष्ठोऽहं श्रेष्ठोऽहं वरिष्ठोऽहमापोऽहं तेजोऽहमृग्यजुःसामा-
 ङ्गिरसोऽहं क्षरमहमक्षरमहं गुह्योऽहमरण्योहं पुष्करमहं प-
 महमग्रं च मध्यं च वहिश्च पुरस्ताज्ज्योतिरित्यहमेव सर्व-
 मां यो वेद स सर्वान् वेद' इत्यन्तेन । द्वितीयखण्डे च
 र्वानुप्रवेशादेव 'यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च ब्रह्मा तस-
 नमो नमः' इत्यारम्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वरोमाविनायकादिस-
 ष्ववाच्यत्वं प्रतिपाद्यते । तथा सर्वश्रुतिसामरस्यविचार-
 चिदचिद्वस्तूनामन्तर्यामितया अनुप्रविष्टः सर्वशरीरः सर्वश-
 च्यः परमेश्वरः शिव इति विज्ञायते । अतः काशकृत्सम-
 श्रुतिसूत्रमहाभियुक्तसम्मतमिति समञ्जसम् ॥

६. अधिकरणम्.

पूर्वं 'जन्माद्यस्य यतः'* इति द्वितीयाधिकरणे 'यतो
 इमानि भूतानि'† इति पञ्चमीश्रुत्युदाहरणेन परमेश्वरस्य जग-
 त्

दानत्वं सामान्येन सूचितम् । तद्विशेषतः समर्थयितुं इदमधिक-
रणमारभ्यते—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः’* ‘द्यावापृथिवी
जनयन् देव एकः’† इत्यादिवाक्यान्वयस्य विषयः ॥

एतेषु प्रसिद्धसुभयकारणत्वं ब्रह्मणो युक्तं न वेति संदेहः ।
संदेहश्च निमित्तस्य कुलालादेरुपादानमृत्पिण्डादिभावाददर्शनात्
उपादानस्य मृत्पिण्डादेर्निमित्तकुलालादिभावाददर्शनात् कथमेत-
स्मिन्निमित्तत्वमुपादानत्वं च जगत् कार्यं प्रतीति ॥

पूर्वपक्षस्तु जगत्सृष्टौ निमित्तमेव, नोपादानमिति । कुतः?
असंभवात् । न हि घटं निर्मिमाणः कुलालः स्वयमेव मृत्पि-
ण्डीभूय घटं करोति । पटं वा कुविन्दः । यदि कर्तुमीहते, त-
त्र संभवत्येव । अतो निमित्तभूतस्य ब्रह्मण उपादानत्वं न सं-
भाव्यते । निष्प्रयोजनं च निमित्तस्यैवोपादानत्वकल्पनं, वि-
नाऽपि तत्कल्पनं कार्यनिष्पत्तेः, कुलालस्य मृत्पिण्डादन्यत्वेऽपि
घटनिष्पत्तिदर्शनात्; अतो ब्रह्म निमित्तमेव, न तूपादानमपीति ॥

अत्रोच्यते—जगतो निमित्तमुपादानं च ब्रह्मैव । ‘स्तब्धोऽ-
स्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं
विज्ञातम्’‡ इति श्रुत्या येनादेष्टा निमित्तभूतेन विज्ञातेन चिद-
चिद्रूपं सर्वं जगद्विज्ञातं भवतीत्यादेष्टृविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा-
नात्, ‘यथैकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन सर्वमिदं मृण्मयं विज्ञातं
स्यात्’§ इति तदुपपादकमृत्पिण्डदृष्टान्तानुपरोधाच्च ब्रह्मणो नि-

* तै. २-१.

† तै. सं. ४-६-२.

‡ छा. ६-१-३.

§ छा. ६-१-४.

मित्तमात्रत्वे तद्विज्ञानेन सकलप्रपञ्चविज्ञानं न संभवति । तथा कुलालज्ञानेन घटादि कार्यं न ज्ञायते, किंतु तदुपादानमृष्टि-
ण्डज्ञानेन । अतो निमित्तस्य ब्रह्मण उपादानत्वे तत् सं-
तीति ब्रह्मैवोपादानमपि ॥

आदिश्यते अनेनेत्यादेशशब्दादादेष्टृभूतं ब्रह्मोच्यते । न त-
र्थान्तरत्वमुपादानस्येति ज्ञापयितुं हेत्वन्तरमाह—

अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

‘तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय’* इति निमित्तभूतस्येति
सर्वज्ञस्य ब्रह्मण एव विचित्रजगदाकारेण बहुभवनसंकल्प-
दिश्यते । अतो निमित्तादनन्यदुपादानम् ॥

ननु ‘विश्वाधिको रुद्रो महर्षिर्हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्’
इति विश्वोत्तीर्ण एव परमेश्वरो निमित्तभूतः स्वव्यतिरेक-
कृतौ स्वसंकल्पेन जायमानं सकलदेवप्रथमं हिरण्यगर्भं स-
मनुग्रहदृष्ट्या पश्यतीति विज्ञायते, कथमस्य विश्वाकारत्वं प्र-
तिरूपत्वेन संभवति । ‘मायां तु प्रकृतिं विद्यात्’† इति
यायाः प्रकृतित्वं श्रूयते । ‘तस्माद्विराडजायत, विराजो अ-
पुरुषः’‡ इति पुरुषस्य प्रकृतित्वमाज्ञायते । अतस्तयोरेव प्र-
कृतित्वेन जगदाकारत्वमुचितमित्यत आह—

साक्षाच्चोभयान्नानात् ॥ २५ ॥

साक्षात् प्रत्यक्षमेव वेदान्तभागेषु परमेश्वरस्य प्रकृतित्वे-
जगदाकारत्वं निमित्तत्वेन जगत्पतित्वं च श्रूयते । तथा
‘विश्वाधिको रुद्रः’† इत्यादिना यथा विश्वाधिकत्वमवगम्यते
तथा ‘सर्वो वै रुद्रः’‡ इत्यादिना प्रकृतित्वाद्विश्वरूपत्वमपि श्रूयते

* छां. ६-२-३.

† महाना. १०.

‡ श्वे. ४-१०.

§ तै. आ. ३-१२.

¶ महाना. १६.

शतद्वीये—‘नमो हिरण्यवाहवे’* इत्यारभ्य ‘कुलुञ्जानां पतये’* इत्यन्तेन विश्वाधिपत्यं ततश्च ‘नमः पर्ण्याय च पर्णशद्याय च’* इत्येतत्पर्यन्तेन जगदाकारत्वं च परमेश्वरस्य श्रूयते । प्रदेशान्तरे च ‘ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्...ब्रह्माध्यतिष्ठद्भवानि धारयत्’† इत्युभयश्रुतिः । अथर्वशिरसि प्रथमद्वितीयस्रग्द्वयोर्जगदाकारत्वं, तदुपरि जगदीश्वरत्वं च । ततः प्रत्यक्षमुभयाम्नानाजगच्च जगदीश्वरश्च प्रकृतिनिमित्तत्वेन परं ब्रह्म परमेश्वरः शिव इति युक्तमेव ॥

किंच प्रमाणान्तरमस्तीत्याह—

आत्मकृतेः ॥ २६ ॥

‘तदात्मानं स्वयमकुरुत’‡ इति स्वस्यैव जगदाकारत्वेन कृतिरवगम्यते परमेश्वरस्य । अतः स एवोपादानं निमित्तं च ॥

नन्वज्ञानविकारारूपदहेयप्रपञ्चरूपेण प्रकृतिभावेन कथं वर्तते निरस्तसमस्तदोषलवकलङ्को निस्सीममङ्गलगुणरत्नाकरो निरङ्कुशनित्यसिद्धचैम्भवः प्रपञ्चातीतः परमशिव इत्यत आह—

परिणामात् ॥ २७ ॥

नित्यशुद्धानन्दस्य निरतिशयमङ्गलस्वभावस्यापि निमित्तस्य परमशिवस्य प्रकृतित्वेन जगदाकारत्वं युक्तमेव, चिदचिदाकारेण परिणामात् । हन्त ! कारणविकाररूपो हि परिणामः, पूर्वरूपपरित्यागेन रूपान्तरापत्तिः परिणाम इति । कथं परमेश्वरोऽनर्थधर्मात् परिभूयत इति चेत्—सत्यं, यथा निमित्तस्य प्रकृतित्वेऽपि न विकारादिस्पर्शः तथा परिणामः संभवति । कोऽयमपूर्वः परिणामः ? कुतूहलिनो धयं तच्छ्रवणे, विविच्यतामिति चेत्, शृणु, विवेचयामः—

यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रि-

र्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।

तदक्षरं तत् सवितुर्वरेण्यं

प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥*

इति । यस्मिन् काले विगतचन्द्रसूर्यादितेजस्तया दिवापि
विभागशून्यं नामरूपविशेषराहित्येन स्थूलसूक्ष्मचेतनाचेतन-
सद्व्यक्तियवस्थारहितं सर्वमिदं तमोभूतमवर्तत, तदा हि
एवाद्वितीयः केवलः स्वाविभागापञ्चिदचिच्छक्तिः स
काशः परिशिष्टोऽभूत् । तदक्षरं तदेव तदानीं क्षररहितं त-
क्षररहितं परं वस्तु, तत् सवितुर्वरेण्यं तत् सवितुरादित-
पूर्वं तेजःप्रदत्वेन वरेण्यमन्तर्वर्ति तेजस्तदपि तदेव । तस्मात्
तादृशात् स्वविलीनस्वेतरनिखिलचिदचित्प्रपञ्चात् अद्वितीयं
पुराणी नित्यसिद्धा तत्कालतमोऽप्यनोदिनी महास्फुरणरूपा
मा प्रज्ञा ज्ञानशक्तिः प्रसृता प्रावर्तत । ततः 'सोऽकामस्य
बहु स्याम्'† इति नामरूपादेविभागरहितसूक्ष्मचिदचिद्वस्तु-
रक्तः कारणावस्थः परमेश्वरः संविभक्तनामरूपचिदचिद्वस्तु-
रक्तो भवेयमिति संकल्पमकरोत् । ततश्च 'इदं सर्वमसृज-
यदिदं किञ्च'‡ इति स्वशरीरभूतं सूक्ष्मचिदचिद्वस्तु स्वस्मात्
भज्य, 'तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत्'§ इति स्वतो विभक्ते चि-
द्वस्तुनी स्वयमात्मतया प्रविश्य 'सञ्च त्यञ्चाभवत्'¶ इत्यपि
सदसत्प्रपञ्चरूपेण बहुधा परिणतोऽभवदिति पुरुषस्य बाह्य-
युवत्वादिवत् ब्रह्मणो जगच्छरीरिणः कारणत्वं कार्यत्वं च ।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

तस्यावयवभूतेन व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥‡

इति श्रवणात्मायायाः सकलप्रकृतित्वं, तद्विशिष्टत्वं महेश्वरस्य, तदव्यवभूतेनांशभूतेन चिच्छक्तिशकलभूतेन भोक्तृत्वदशायां पुरुषसंज्ञकेन सकलजगद्व्याप्तिश्चावगम्यते । यथा केवलाच्छरीराहोमनखाद्युत्पत्तिर्न संभवति आत्मनश्च, तथा न केवलं मायाया जगदुत्पत्तिः महेश्वराच्च । किंतु मर्त्यशरीरेणः केशनखाद्युत्पत्तिवत् मायिनः परमेश्वरात् सकलचेतनाचेतनप्रकृतिः पुरुषोऽभिव्यक्तो भवति । तद्रूपादीश्वरादव्यक्तचतुर्मुखाद्युत्पत्तिः । तथा च श्रुतिरीश्वरस्य पुरुषरूपत्वमभिधत्ते 'पुरुषो वै रुद्रः'* इति । ततः समुचितं चिदचिद्विशिष्टः परमेश्वरः कारणं कार्यं च तत्तदवस्थाविशेषादिति ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २८ ॥

साक्षात्परमेश्वर एव भूतयोनिरित्युच्यते ।

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं

त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।

ज्ञात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं

समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥†

इति समस्तसाक्षिणः सर्वज्ञस्य तमसः परस्य विश्वोत्तीर्णस्य परमशक्त्या उमया साहितस्य विशिष्टस्य परमेश्वरस्यैव भूतयोनित्वं भूतप्रकृतित्वं च गीयते । ततश्चोपादानमपि निमित्तं परं ब्रह्मैव ॥

७. अधिकरणम्.

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥२९॥

‘जन्माद्यस्य यतः’* इत्यादिनैतदन्तेन वेदान्तवाक्यानां च
ख्यानेन ब्रह्मलिङ्गाभिधायिनो वेदान्तरूपाः कर्मकाण्डमध्यपात
पुरुषसूक्तशतरुद्रीयप्रभृतयो मन्त्रब्राह्मणभागाः स्मृतीतिहासपु
राणामियुक्तसूक्तिविशेषाश्च व्याख्याता इति । द्विशक्तिरप्य
समाप्त्यर्था ॥

अत्र कर्मप्रकरणपठितानां पुरुषसूक्तशतरुद्रीयदीनां स्मृ
तिहासपुराणादीनां च तात्पर्यलिङ्गसमन्वयेन ब्रह्मबोधकत्व
न वेति संशयः । संशयबीजं प्रकरणभेदादिकम् ॥

कर्मप्रकरणगतानां पुरुषसूक्तादीनामनुष्ठातृजीवपरत्वमेव
मीचीनम्, न नित्यमुक्तब्रह्मविषयत्वं, प्रयोजनाभावात् । स्मृ
तिपुराणादीनामपि नैकात्मपरत्वमस्ति, यतस्तेषु कतिचित्
ह्याणं परं ब्रह्मेत्याहुः, कतिचित् विष्णुं, कतिचित् रुद्रं, कति
चित् शक्तिमेव, कतिचिदाग्निं, कतिचित् सूर्यं, कतिचिद्
कतिचित् अन्यम्, एवमनवस्था भवतीत्यत एतेषां न ब्रह्म
बोधकत्वम् ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—पुरुषसूक्तादीनां ब्रह्मबोधकत्वमस्ति,
लिङ्गदर्शनात् ‘तस्माद्विराडजायत’† ‘आदित्यवर्णं तमसस्तु प्रा
‘तमेवं विद्वानमृत इह भवति’† इति सकलकारणत्वतम
त्वामृतहेतुत्वादीनां परमेश्वरलिङ्गानामत्र संबन्धो दृश्यते ।
ईश्वर एवात्र पुरुषशब्देन प्रतिपाद्यते । शतरुद्रीये च सा
परमेश्वरस्य जगदाधिपत्यं जगदात्मकत्वं नीलग्रीवत्वादित्य
च श्रूयते । अतः परमेश्वरस्य तद्बोध्यत्वं युक्तम् ॥

ननु परमेश्वरस्य मङ्गलगुणैकनिधानस्य शतरुद्रीयप्रति
धत्वमयुक्तमिव प्रतिभाति । प्रथममेवात्र ‘नमस्ते रुद्र मन्यवे’‡

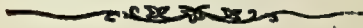
हेयगुणमन्युसंवन्धावगमात् इति चेत्—नैवं विचारणीयम्, मन्युशब्दस्यात्र ज्ञानवाचकत्वात् । अथवा क्रोधपर्यायत्वेऽपि मन्युशब्दस्य न दोषः, दुष्टनिग्रहार्थं स्वेच्छागृहीतप्रकृतिगुणत्वेनास्य परमेश्वरे संवन्धाभावात् ॥

पुराणादीनां च तात्पर्यलिङ्गवशेन ब्रह्मविष्णवादितत्तच्छब्दवाच्यं सर्वात्मकं सर्वज्ञं सर्वशक्तिं सर्वाधिकमसामान्यवैभवं ब्रह्मशब्दार्थविश्रान्तिपदं निखिलवेदान्तवाक्यसामरस्यसमन्वयतात्पर्यावसानविषयं शिवमुमासहितं परमेश्वरं प्रति बोधकत्वं युक्तमेव । यदुक्तं कर्मप्रकरणमिति, तत्र लिङ्गेन प्रकरणवाधो युक्तः । अनेनैव न्यायेन यत्रयत्र चेतनेऽचेतने वा जगत्कारणत्वादिकं श्रूयते वेदादिषु प्रमाणवचनेषु तत्रतत्र तदात्मा शिव एव वाच्यः । यत्रयत्र अपुरुषार्थविकाराक्षत्वादिको धर्मस्तत्रतत्र शिवस्य परब्रह्मणः शरीरं चिदचिद्वस्त्वेव बोध्यमिति निपुणतरं निरूप्यमिति सर्वं समञ्जसमेव ॥

इति श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचिते ब्रह्ममीमांसाभाष्ये

प्रथमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

समाप्तश्च प्रथमोऽध्यायः.



द्वितीयाध्यायः.

१. अधिकरणम्.

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

अतीतेऽध्याये सच्चिदानन्दस्वरूपे सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादिस्वरूपलक्षणे सकलजगज्जन्माद्युपलक्षणे सर्वविलक्षणे सत्त्वानि विरूपाक्षत्वकृष्णपिङ्गलत्वनीलकण्ठत्वादिविशिष्टलीलात्मरूपस्वभावे भवशिवमहादेवपरमेश्वरशब्दादिमुख्यवाच्ये परमार्थलक्षणे परब्रह्मणि शिवे निखिलवेदान्तवाक्यानां तदनुगुणस्मृत्यादीनां च तात्पर्येण समन्वयोऽभिहितः । इदानीमेतदध्यायेन तस्य समन्वयस्य वेदान्तविरुद्धस्मृतितर्कादिभिर्विरोधपरिह्रियते । प्रथमं साङ्ख्यस्मृतिविरोधः परिह्रियते ॥

अस्मिन् सर्वत्र पूर्वोक्तसमन्वयो विषयः ॥

इह वैदिकसमन्वयस्य साङ्ख्यस्मृत्या संकोचोक्तिरिति सन्देहः । कथम् ? ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं वेदोऽभिधत्ते, कस्मिन् स्मृतिः प्रधानस्य । कपिलो हि महातपस्वी, ततस्तद्वचनप्रमाणमेव । वेदोपि भगवानखिलप्रमाणसार्वभौमः, स च मान्यगन्धमपि न सहते । तदनयोः कस्य केन बाध इति चेन्न यग्राप्तिः ॥

तत्र साङ्ख्यस्मृतेरनवकाशत्वेन प्रबलत्वात् वेदस्यैवावकाशतया दुर्बलत्वादनवकाशया स्मृत्या वेदस्यैव संनियुक्त इति चेद्वदति पूर्वपक्षी । वयमपि नेति वदामः । अथम् ? अन्यासां वेदाविरोधिनीनां मन्वादिस्मृतीनां अनवकाशः ।

दोषप्रसङ्गात् । 'अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्'*
इत्यादिना 'हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्'† इत्यादिप्रत्यक्षश्रु-
तिसिद्धब्रह्मकारणत्ववादिन्या अनुमेयश्रुतिमूलायाः साङ्ख्यस्मृतेरेव
बाधः प्रामाणिकजनपरिग्राह्य इति ॥

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

इतरेषां च मन्वादीनां सर्वज्ञानां स्मृतिषु कपिलदृष्टस्य
प्रधानकारणत्वादेरनुपलब्धेः प्रधानस्मृतिरनागममूलैवेति वक्तुं
युक्तम् । अतः साङ्ख्यस्मृत्या समन्वयस्य न संकोचः ॥

२. अधिकरणम्.

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

योगाङ्गप्रतिपादिनी हिरण्यगर्भस्मृतिरपि प्रधानकारणत्वमेव
वदति । तथा च यथा प्रधानकारणत्ववादिन्या साङ्ख्यस्मृत्या
विरोधात् वैदिकसमन्वयस्य संकोचो नाभवत् तथाऽनयाऽपि ॥ स्मृ-
त्या संकोचो भवति न वा ॥

इति सन्देहे भवतीति वदामः । कथम्? श्वेताश्वतरोप-
निषदि ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुतया प्रपञ्चिता योगविद्या । तथा च
सांख्यस्मृतेरनुमेयश्रुतिमूलत्वेऽपि प्रत्यक्षश्रुतिमूलया हिरण्यगर्भस्मृ-
त्या प्रधानकारणवादिन्या ब्रह्मकारणवादिसमन्वयस्य संकोचो
युक्तः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—न योगस्मृत्या श्रुतिसमन्वयसंकोचः । तस्य
'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'‡ इत्यारभ्य वैदिकाष्टाङ्गयोगप्रतिपादनमात्रे

हि तात्पर्यं नावैदिके प्रधानकारणवादेऽपि । यदि तत्रापि तात्पर्यं साङ्ख्यस्मृतिवदस्यापि प्रत्याख्यानमेव न्याय्यम् । ततो हि ण्यगर्भस्सृत्याऽपि प्रधानकारणवादिन्या ब्रह्मकारणवादिश्रुतिसमन्वयस्य न संकोच इति युक्तमेव ॥

३. अधिकरणम्.

पुनरपि साङ्ख्यतर्कवाध्यतां समन्वयस्याशङ्क्य परिहरति—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥३॥

यथा साङ्ख्यस्मृत्या समन्वयस्य न बाधः तथा तर्कवाधोऽस्ति न वा—

इति संशये पूर्वपक्षः प्रवर्तते । सर्वथा तर्कवाध्योऽयं ब्रह्मकारणतावादः । कथम् ? ब्रह्मणः प्रपञ्चस्यान्योन्यविलक्षणत्वं न तत्कार्यत्वं सम्भवति । कुतो वैलक्षण्यमवगतमिति चेत् शब्दादेव । 'विज्ञानं चाविज्ञानं च'* इत्यादिशब्दो हि प्रपञ्चविकारास्पदत्वाज्ञत्वाद्यपुरुषार्थरूपत्वमभिधत्ते । अतः सत्त्वानन्दरूपात् ब्रह्मणोऽस्य वैलक्षण्यं सिद्धम् । कथमनयोर्गोचरिषयोरिव कार्यकारणभावः सम्भवति ?

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ ५ ॥

यद्यचेतनत्वेन चेतनात् ब्रह्मणो विलक्षणमिदं जगत् तत्तदधमस्मिन् 'तं पृथिव्यब्रवीत्'† 'आपो वा अकामयन्'‡ 'शृणोत ब्रावाणो विदुषः'§ इत्यादौ चेतनकार्यव्यपदेशः ।

* तै. २-६. † तै. सं. ५-५-२. ‡ तै. ब्रा. ३-१-५. § तै. सं. १-१-११.

स्मादिदं चेतनमेव सर्वं जगत् । अतो ब्रह्मप्रपञ्चयोश्चेतनाचेत-
नरूपतया न विलक्षण्यमिति शङ्क्यम् ; यतस्तथा सर्वत्र ज्ञान-
कार्यव्यपदेशस्तु तदभिमानिदेवताविषय एवेत्यवगम्यते, 'ह-
न्ताहमिमास्तिष्ठो देवताः'* इति देवताशब्दविशेषात् । 'अग्नि-
र्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्'† इत्यादिना अचिद्वस्त्वभिमानिदेव-
तानुगतेश्च । तस्मादचेतनत्वादिना विलक्षणमेव जगत् ब्रह्मणः ।
ततोऽस्य कार्यत्वं ब्रह्मणः कारणत्वं च युक्तिवाध्यमेव ॥

दृश्यते तु ॥ ६ ॥

सिद्धान्त उच्यते—विलक्षणयोरपि ब्रह्मप्रपञ्चयोः कार्यकार-
णभावः सम्भवति, अचेतनाद्रोमयात् चेतनवृश्चिकोत्पत्तिदर्श-
नात्, चेतनात्पुरुषात् अचेतनकेशाद्युत्पत्तिदर्शनाच्च । अतः
शुष्कतर्को न बाधकः श्रुतिसमन्वयस्येति निर्णयः ॥

पुनः शङ्कित्वा परिहरति—

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

एवं कार्यकारणयोर्विलक्षण्यात् कारणे कार्यमसदेव 'अस-
द्वा इदमग्र आसीत्'‡ इति श्रुतेरिति चेत्—नैवं वाच्यम् । साल-
क्षण्यनियमप्रतिषेधमात्रपरत्वाच्छ्रुतेः । अतः कार्यकारणयोः व-
स्त्वेकता न हीयत एव ॥

४. अधिकरणम्.

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

सत्कार्यवादेन कार्यकारणयोः जगद्ब्रह्मणोः वस्त्वेकत्वे सम-
न्वयस्य तर्कवाध्यत्वमस्ति न वा ॥

* छा. ६-३.

† ऐ. उ. १-२-४.

‡ तै. २-७.

इति सन्देहेऽस्तीति पूर्वः पक्षः । कुतः ? यत एव जगद्ब्रह्म
वस्त्वेकत्वमुक्तम् । तथा सति हि जगत इव ब्रह्मणोऽपि हि
काराज्ञानाद्यनिष्टप्रसङ्गः समुन्मिषति । ततो वेदान्तवाक्य
सामरस्यमसमञ्जसं भवति । अतः तर्केण समन्वयवाध इति ।

न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

नेति पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । 'यस्यात्मा शरीरम्'* 'यस्य
व्यक्तं शरीरम्'* इत्यादिश्रुत्या,

विग्रहं देवदेवस्य जगदेतच्चराचरम् ।

एतमर्थं न जानन्ति पशवः पाशगौरवात् ॥

इत्यादिपुराणोक्त्या च सिद्धचिदचिच्छरीरकस्य परब्रह्मणः शिव
कार्यतया कारणतया चावस्थाने गुणदोषव्यवस्थायां दृष्टान्त-
भावात् तत्र वेदान्तवाक्यसमन्वयसामरस्यं असमञ्जसं न भवति
कथम् ? यथा शरीरस्य मनुष्याद्यात्मनो बालत्वयुवत्वस्थिति-
त्वादिभावेऽपि बालत्वादयः शरीर एव, सुखादयस्त्वात्मनो
तद्वदत्रापि शरीरभूतचिदचिद्वस्तुगताज्ञानविकाराद्यनिष्ठानि भू-
तभूते चिदचिद्वस्तुन्येव तिष्ठन्ति । निरवद्यत्वाविकारत्वसाम-
सत्यसङ्कल्पत्वादय आत्मभूते परमेश्वर एव । तदेवं दृष्टान्त-
वाच्छ्रुत्यसामञ्जस्यं ब्रह्मणि नास्त्येव ॥

स्वपक्षदोषाञ्च ॥ १० ॥

केवलं तर्कावलम्बने स्वपक्ष एव प्रधानकारणवादिक
विकारपुरुषसन्निधिवशात् प्रकृतिप्रवृत्तौ सत्यामन्योन्यधर्माणां
दुरूपपादा भवन्ति । अन्यत्रान्यधर्मानुसन्धानरूपोऽध्यासो हि
कारस्य पुरुषस्य न सम्भवति । अचेतनायाः प्रकृतेश्चापुस्त

नरूपोऽध्यासो न सम्भवत्येव । अतः प्रधानकारणवाद एव तर्क-
वाध्यः ॥

तर्कप्रतिष्ठानात् ॥ ११ ॥

तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वात् प्रधानकारणवादस्य तन्मूलत्वात् तत्र
प्रतितर्कसम्भवात् तस्यैव त्याज्यत्वं न ब्रह्मकारणवादस्येति ॥

अन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्ष-

प्रसङ्गः ॥ १२ ॥

अन्यथा यथा प्रतितर्कपराहतिः न भवति तथा प्रकारान्त-
रेण प्रधानमनुमेयमिति वादोऽपि युक्तो न भवति । तत्राप्येवं
प्रतितर्ककलहसम्भावनया प्रतिष्ठितत्वाभावदोषादनिर्मोक्ष एव प्र-
सज्यते । ततः शुष्कतर्कमूलः प्रधानकारणवाद एव त्याज्यः ।
न तु प्रवलश्रुतिप्रमाणसिद्धो ब्रह्मकारणवाद इति युक्तम् ॥

५. अधिकरणम्.

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १३

यथेदं सांख्यदर्शनं तर्कमूलत्वेनाप्रतिष्ठितत्वादिना प्रत्या-
ख्यातं तथैव तेनैव हेतुना शिष्टानामपरिग्रहाः कणभक्षाक्षपादा-
दीनां पक्षा अपरिग्राह्या इति व्याख्याताः । एतदुक्तं भवति—
कणादादिमतसिद्धपरमाणुकारणवादोपि निराकृत इति ॥

६. अधिकरणम्.

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥ १४

यदुक्तं पूर्वत्र चिदचित्प्रपञ्चविशिष्टात्मा शिव एवापि
तीयः कारणं कार्यं च भवतीति विशिष्टशिवाद्वैतम्, तस्य
समन्वयसिद्धस्य युक्तिवाधापत्तिरस्ति न वेति संशयः ॥

एवं सति पूर्वपक्षः प्रवर्तते । यदि चिदचिच्छरीरक
मिष्यते परमेश्वरस्य तदा शरीरित्वमस्य सिद्धम् । तथा
जीववत् सशरीरत्वेन तस्यापि शरीरसम्बन्धप्रयुक्तसुखदुःख
कृतत्वापत्तेरस्मात् संसारिणो जीवात् तस्य परमेश्वरस्या
भागः प्राप्नोति । अतोऽयं जीवः अयमीश्वर इति विशेषण
पत्त्या जगद्विशिष्टत्ववादे परमेश्वरस्योपनिर्दोषस्वरूपासिद्धिर्भवति
इत्येवं पूर्वपक्षो मन्यते ॥

नात्र विरोध इति सिद्धान्तः । स्यादेव विभागो जीव
परमेश्वरस्य निष्कलङ्कनिखिलमङ्गलाकारत्वेन । न खलु शरीरित्व
प्रयुक्तमनिष्टभोक्तृत्वं, किन्तु पराधीनत्वप्रयुक्तमेव यथा ब्रह्म
राज्ञः सशरीरत्वेऽप्यनन्यवश्यस्य न स्वाज्ञाननुवृत्तिकृतानिष्टप्र
इति । भोक्तृत्वं नेतरसमानम् । 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ'
इति जीवेश्वरयोः स्वातन्त्र्यमस्वातन्त्र्यं च स्वतः सिद्धमेव
अतः स्वतन्त्रस्य परमेश्वरस्य जीवादस्वतन्त्राच्छरीरसम्बन्ध
मान्येन नाविभागप्राप्तिः । नातो विशिष्टाद्वैतहानिः ॥

७. अधिकरणम्.

यद्यपि स्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्यादिविरुद्धधर्मसम्बन्धेन जीव
ेश्वरयोर्विभाग उच्यते । तथाऽपि तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्व
अव्यतिरिक्तत्वं च सिद्धयत्येवेत्याह—

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १५ ॥

इह कार्यकारणयोः प्रपञ्चब्रह्मणोः समन्वयसिद्धमनन्यत्वं सन्दिह्यते युक्तं न वेति । सन्देहस्य चेतनाचेतनत्वपरस्परविरुद्धधर्मसम्बन्धवैलक्षण्यं कारणम् ॥

कथमनयोरनन्यत्वमुपपद्यते ? पूर्वाधिकरणे सर्वज्ञत्वादिमत्त्वेन परमेश्वरस्य भोक्तृत्वाक्षत्वादिना जीवस्य चोभयोर्विभागो निर्दिष्टः । अचिद्वस्तुनोऽप्यनेनात्यन्तविलक्षणत्वादनन्यत्वकथा दूरत एव । न हि कार्यकारणत्वमनन्यत्वसाधकं, गोमयवृश्चिकादौ सत्यपि तस्मिन् वैलक्षण्यदर्शनात् । घटमृत्पिण्डादिष्वप्यर्थक्रियादिव्यवहारभेदादभेदो नास्त्येव । अथवा—कार्यकारणयोरत्यन्ताभेदे प्रपञ्चब्रह्मणोरखण्डतया सर्वत्र कर्तृकर्मक्रियादिव्यवहारलोपः स्यात् इति ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—कारणात् ब्रह्मणः कार्यं जगदनन्यदेव । कथमवगम्यते ? आरम्भणशब्दादिभ्यः । यथा 'वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्...सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्...तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय.....पेतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकोतो'* 'विश्वं भूतं भुवनं चित्रं बहुधा जातं जायमानं च यत् । सर्वो ह्येष रुद्रः'† इत्यादिशब्देभ्यः ॥

यदुक्तं न हि कार्यकारणत्वमनन्यत्वसाधकमिति तत्राह—

भावे चोपलब्धेः ॥ १६ ॥

घटादिकार्यभावे च तदेव मृदूव्यं घट इत्युपलभ्यते । ततः कारणादनन्यदेव कार्यम् । तथा 'वाचांऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'* इति श्रुत्याऽपि प्रतिपाद्यते । विकारो

नामधेयं च वाचारम्भणं वाचायाः अभिलापार्थक्रियारूपव्यवहारस्य निष्पादकं भवति । मृद्व्यस्यैव घटाद्यवस्था यद्यपि नामधेयं चार्थक्रियाभिलापरूपव्यवहारनिष्पत्तये भवतीति क्वचित् । वस्तुतो घटादिकमपि मृत्तिकेत्येव सत्यं प्रामाणिकं मृद्व्यतिरेकेण घटभावाददर्शनात् । अथवा—‘वाचाऽऽरम्भणं विकाराद्विकारो घटो वाचारम्भणं घटोऽयमिति वाचाराम्भविपर्यवस्रम् । मृद्व्यमेव व्यवहारसिद्धयर्थं जायमानावस्थान्तरम्, न तु मृदो द्रव्यान्तरम् । ‘मृत्तिकेत्येव नामधेयं सत्यं’ यद्यपि मृत्तिकेति कृत्यैव तत्र सर्वं मृत्पिण्डादिनामधेयं सत्यं सत् प्रामाणिकेऽर्थे साधु, न तु द्रव्यान्तरमिति कृत्वा । यतो घटो मृदेवेति, अतः कारणादनन्यदेव कार्यम् । अर्थक्रियादिव्यवहारभेदस्तु मृद्वदयोः वस्तुवैक्येऽप्यवस्थाभेदात् भवत्येव । तं मृद्वदयोरिव ब्रह्मप्रपञ्चयोरपि व्याप्यव्यापकभावादनन्यत्वं तथा पुराणवाणी—

शक्त्यादि च पृथिव्यन्तं शिवतत्त्वसमुद्भवम् ।

तेनैकेन तु तद्व्याप्तं मृदा कुम्भादिकं यथा ॥ इति ।

मृदयं घट इत्यत्र यथा मृद्व्याप्तिर्घटे दृश्यते तथा ब्रह्मजगदिति ब्रह्मव्याप्तिर्न दृश्यत इति चेत्, सन् घटः सन् पटः सर्वत्र दृश्यत एव सद्रूपस्य ब्रह्मणो व्याप्तिः । सच्चिद्रूपेण विवेकेन यदि न व्याप्तं जगत् तदा सत्तास्फूर्तिभ्यां विवेकः कथमस्ति स्फुरतीति च दृश्येत ? अवस्त्वेव भवेत् । मृदा घटादिकमिव कारणेन शिवेन कार्यमिदं व्याप्तं तद्वत् भूतं चेति सिद्धम् ॥

सत्त्वाच्चापरस्य ॥ १७ ॥

कार्यस्य कारणे सत्त्वाच्च कारणादनन्यदेव कार्यम् ।
घटशरावादिकं पूर्वं सृदेवासीदिति हि घटादिकं सृदात्मनो-
पलभ्यते ॥

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्य-
शेषात् युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

‘इदं वा अग्रे नैव किञ्च नासीत्’* इति कार्यस्य पूर्व-
मसद्व्यपदेशात् कारणे कार्यमसदिति चेत्—न, स्थूलत्वविरोधि-
सूक्ष्मत्वरूपधर्मान्तरयोगादेवायमसद्व्यपदेशो नाभावादिति । कुतः?
‘तदसदेव सन्मनोऽकुरुत स्याम्’** इति वाक्यशेषात् । मनस्कारोपि
विद्यमानस्यैव भवति । युक्तिरपि तथा धर्मान्तरयोगनिमित्त-
तामसद्व्यपदेशस्यावगमयति । पिण्डत्वघटत्वकपालत्वरूपैः पर-
स्परविरोधिभिः भावरूपैः धर्मैः घटः प्राङ्नासीत्, इदानी-
मस्ति, तदानीं न भविष्यतीति सदा विद्यमानस्यैव सृद्ध्यस्य
असदादिव्यपदेशोपपत्तौ न तद्व्यतिरिक्तः कश्चिदभावो नाम
असद्व्यपदेशालम्बनं धर्मान्तरं कल्पनीयमिति । तथा शब्दा-
न्तरं च ‘तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपास्यां व्याक्रि-
यत’† इत्यादि ॥

अयमभिप्रायः—पूर्वं स्वाभिन्ननामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिद-
चिद्रूपपरशक्तिगर्भितो हि शिवः केवलो भवति । पुनः स्वा-
त्मिकां तादृशीं शक्तिं पूर्वदशाविरोधिस्थूलत्वयुक्तनामरूपविभा-
गार्हचिदचिद्रूपां बहिर्विस्तारयति । तत्र शक्तिमतः शिवस्य
संकोचावस्था प्रलयः । विकासावस्था सृष्टिरिति । तथा आप्त-
वचनमपि—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्वाहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥

इति । निरुपादानमिति अनपेक्षितोपादानान्तरं स्वययुपादानं
त्वेत्यर्थः । ततः परमकारणात् परब्रह्मणः शिवादभिन्नमेव
गत् कार्यमिति ॥

निदर्शनान्तरमुच्यते—

पटवच्च ॥ १९ ॥

यथा संकुचितः सूक्ष्मरूपः पटः प्रसारितो महापटः कुट्यं
रूपेण कार्यं भवति, तथा ब्रह्मापि संकुचितरूपं कारणं प्रसारितरूपं कार्यं भवति ॥

यथा च प्राणादिः ॥ २० ॥

यथा वायुरेक एव वृत्तिविशेषेण प्राणादिभेदं भजते, तथा
ब्रह्मापि शक्तिव्यापारभेदेन सदाशिवादिविश्वरूपभेदं भजते ।
ततो ब्रह्मणः कारणादनन्यदेव कार्यं जगदिति युक्तम् ॥

८. अधिकरणम्.

उक्तमर्थमाक्षिप्य समाधत्ते—

इतरव्यपदेशाद्विज्ञाताकरणादिदोषप्रसक्तिः २।

‘तत्त्वमसि’* ‘अयमात्मा ब्रह्म’† इत्यादिना कार्यभूतस्य
जीवस्य कारणभूतब्रह्मव्यपदेशात् अनन्यत्वमुपपादितम् । एवं सति
सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य सर्वगतस्य जगदकरणं स्वस्य हितरूपं

तत्करणमहितरूपं च प्रसज्यते । ततश्च सर्वज्ञः सत्यसंकल्प ईश्वरः स्वस्मादनन्यजीवस्य तापः स्वस्येति जानन् कथं संसारनिमित्तमहितं जगत्करणमनुवर्तते, हितं जगदकरणं च नानुवर्तते । ततश्च जीवानन्यत्वे सिद्धे परमेश्वरस्य सर्वज्ञस्यापि स्वहिताकरणे स्वाहितकरणे च विवेकशून्यत्वादिदोषप्रसक्तिः ॥

अतः कार्यकारणयोः जीवेश्वरयोरनन्यत्वमयुक्तमिति चेद्युक्तमित्युच्यते—

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

कार्यकारणयोरनन्यत्वेऽपि कार्यभूताच्चिदचित्प्रपञ्चात् कारणमत्राधिकमिति श्रूयते 'विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः'* इति । तथा भेदनिर्देशात्—जीवेश्वरयोर्भेदो निर्दिश्यते 'विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोम्यः'† 'क्षरात्मानावीशते देव एकः'‡ 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा'§ 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया'¶ 'द्वे-ब्रह्मणो वेदितव्ये परं चापरं च'*** 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ'†† 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'‡‡ 'अन्तः प्रविष्टश्चास्ता जनानाम्'§§ 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'¶¶ 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिन्श्चान्यो मायया सन्निरुद्धः'¶¶ 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्'**** 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः'††† 'येषामीशे पशुपतिः पशूनाम्'††† इत्यादिभिरनन्तश्रुतिभिः । अतो विश्वस्मादधिकमेव शिवापरनामधेयं ब्रह्म ॥

ननु 'तदनन्यत्वम्'§§§ इत्यभेदप्रतिपादनात् 'अधिकं तु'¶¶¶

*महाना. १०	† श्वे. ५-१.	‡ श्वे. १-१०.
§ श्वे. १-६.	¶ श्वे. ४-६.	***मैत्रा. ६-२२.
†† श्वे. १-९.	‡‡ श्वे. ६-१३.	§§ तै. आ. ३-११.
¶¶ श्वे. ४-९, १०.	****श्वे. ४-७.	††† श्वे. ६-१६.
††† तै. सं. ३-१-४.	§§§ ब्र. सू. २-१-१५.	¶¶¶ ब्र. सू. २-१-२२.

इति भेदप्रतिपादनात् प्रपञ्चब्रह्मणोः भेदाभेदः साधितो भवेत्
 तीति चेत्—न, भेदाभेदकल्पं विशिष्टाद्वैतं साधयामः । न कदाचिदपि
 ब्रह्मप्रपञ्चयोरत्यन्तमेव भेदवादिनः घटपटयोरिव तदनन्यत्वं
 रश्रुतिविरोधात् । न वाऽत्यन्ताभेदवादिनः शुक्तिरजतयोर्निमित्त-
 तरमिथ्यात्वेन, तत्स्वाभाविकगुणभेदपरश्रुतिविरोधात् । न च
 भेदाभेदवादिनः, वस्तुविरोधात् । किन्तु शरीरशरीरिणो-
 रिव गुणगुणिनोरिव च विशिष्टाद्वैतवादिनः । प्रपञ्चब्रह्मणो-
 रनन्यत्वं नाम मृद्घटयोरिव गुणगुणिनोरिव कार्यकारण-
 विशेषणविशेष्यत्वेन विनाभावरहितत्वम् । न हि मृदं हि
 घटो दृश्यते, नीलिमानं विना चोत्पलम् । तथा ब्रह्म हि
 न प्रपञ्चशक्तिस्थितिः, शक्तिव्यतिरेकेण न कदाचिदपि
 विज्ञायते, वह्निरिवौष्ण्यं विना । येन विना यन्न ज्ञायते
 तेन विशिष्टमेव । तत्त्वं च तस्य स्वभाव एव । अतः कदाचि-
 द्वा प्रपञ्चाविनाभूतं ब्रह्म तस्मादनन्यदित्युच्यते । भेदश्च त-
 भाविकः । ततश्च विश्वस्मादधिकमेव परं ब्रह्म । कार्यत्व-
 रणत्वव्यवस्था 'न तु दृष्टान्तभावात्'* इत्यत्र निरूपितं
 तस्माद्भेदाभेदश्रुतीनां अविरुद्ध एवायं मार्गः ॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

सर्वथा जीवेश्वरयोरभेद एव अभेदश्रुतिभिरिति चेत्—
 अनुपपत्तेः । अश्मकाष्ठतृणादेरचेतनस्येव जीवस्याप्यज्ञत्वानि-
 सर्वज्ञत्वादियुक्तादीश्वरात् अत्यन्तविजातीयत्वश्रवणात् तयो-
 भावानुपपत्तिः । तस्मादीश्वरो जीवादर्थान्तरभूत एव । त-
 चतनस्याप्यधिकगुणवैषम्यादीश्वरभावानुपपत्तिः, किमुतान-
 नस्य स्वरूपविलक्षणस्येति तात्पर्यम् । सर्वथा श्रुतिस्मृतिक-

कार्यत्वेन स्वानन्यभूतादपि चेतनाचेतनप्रपञ्चात् विश्वस्माद-
धिक एव सर्वज्ञः सर्वशक्तिः परमेश्वरः ॥

१. अधिकरणम्.

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥२४॥

‘एकमेवाद्वितीयम्’* ‘धावापृथिवी जनयन् देव एकः’† इत्या-
दिषु परमेश्वर एक एव जगतः कारणमवगम्यते । तस्यैकस्य
विचित्रजगत्कारणत्वं युक्तं न वा ॥

इति संशये न युक्तमिति वदामः । तदसम्भवात् । का-
र्यमेतदाकाशवाय्वग्निसलिलरूपं विचित्रम् । कथमेतत् कारण-
वैचित्र्यमन्तरेण सम्भवति । दृश्यते हि रथादिकार्येषु बहुकार-
कोपसंहारः । तस्मादेककारणत्वं न सम्भवतीति चेत्—

नैतद्युक्तम्—एकस्यापि कार्यरूपेण परिणामः सम्भवति,
यथा क्षीरस्यैकस्यैव दधिभावेन । तस्माद्ब्रह्मैककारणकं जगत्का-
र्यम् ॥

यदुक्तं कार्यवैचित्र्यं कारणवैचित्र्यापेक्षमिति, तदसत्,
चेतनादेकस्मात् पुरुषात् केशनखादिविचित्रकार्यनिष्पत्तिदर्शनात् ।
अतो विचित्रजगत्कार्यनिर्वाहे ब्रह्म न कारणान्तरापेक्षमिति ॥

शक्तिमतां सर्वं सम्भाव्यत एवेत्याह—

देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

देवादेः शास्त्रावगतशक्तेर्यथा स्वापेक्षितनानारूपादिभावः, एवं
शास्त्रावगतशक्तेः परमेश्वरस्य सर्वमुपपद्यते । ‘य इमान् लोका-

नीशत ईशानीभिः जननीभिः परमशक्तिभिः * इति परमेष्ठिनस्य अनन्तशक्तिमत्त्वं श्रूयते । तस्य किमसाध्यम् ॥

१०. अधिकरणम्.

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

अत्र ब्रह्मणो जगदाकारेण परिणामः पूर्वोक्तो युज्यते वेति संदेहः ॥

कथं युज्यते एकस्यैव जगदाकारेण परिणाम इत्युक्तम् । तस्य क्षीरस्यैव दधिरूपेण सर्वात्मना जगदाकारेण परिणामः कृत्स्नस्यापि कार्यत्वप्रसक्तिः, न ब्रह्म परिशिष्येत । केनचिदङ्गे चेत्तस्य निरवयवत्वश्रुतिकोपो वा भवति । तस्माद्ब्रह्मणः परिणामो न युक्तः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

ब्रह्मणो जगत्परिणामो युक्त एव, तच्छ्रुतेः । श्रुतिरेव प्रमाणम्, न प्रमाणान्तरम् । शब्दमूलत्वादेव तस्य सकलप्रमाणान्तरप्रमाणावगतवस्तुविजातीयत्वेन तत्रादृष्टशक्तियोगेन विरोधाभावात् । अतः परिपूर्णस्य तस्यैव कार्यत्वं कारणत्वं च सम्भवति । यथा जातिवादिनां जातेः खण्डमुण्डाद्यत्यन्तविक्षणेष्वनन्तेषु प्रत्येकमेकस्या एव परिसमाप्य वृत्तिः न तत्रैव वस्तुदृष्टान्तेन शङ्का चोद्या । तस्मात् ब्रह्मणः स्वरूपनिरूपणे शब्द एव मूलमिति न कश्चिद्विरोधः ॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

जीवात्मनि च अचिद्धर्मविरोधिचिद्धर्मयोगोऽपि विजातीय-
त्वादेव भवति । अग्निजलादयोऽप्याचिद्धिशेषा अन्योन्यविलक्ष-
णशक्तयो दृश्यन्ते विचित्रा एव । ततो ब्रह्मापि शब्दैकप्रमा-
णकं विचित्रानन्तशक्तिकमिति ततः सर्वाविरोधः ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥

कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोषा निरवयवेऽचित्सजातीये प्रधानादौ,
न ब्रह्मणि शास्त्रप्रमाणके ॥

सर्वशक्तिमत्त्वेन सर्वोपपत्तिमाह—

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥*

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

तस्यावयवभूतेन व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥†

इत्यादिदर्शनात् सर्वाऽपि शक्तिर्ब्रह्माश्रितेति विज्ञायते । अतः स-
र्वशक्तिमतः तस्य किं न सं भवति ॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

‘न तस्य कार्यं कारणं च विद्यते’ इति ब्रह्मणो विकर-
णत्वमुच्यते ततोऽस्य न कारणत्वमिति चेत्—न, तस्योत्तरं
शब्दमूलत्वादिति पूर्वमुक्तमेव । विचित्रानन्तशक्तिशवलमायापर-
मशक्तिविशिष्टः परमेश्वरः स्वशक्तिशकलेन प्रपञ्चाकारः स्वतः
प्रपञ्चातीतश्च भवतीत्यत्र

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतेन व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥*

इति श्रुतिरेव भगवन्ती प्रमाणम् । अत्र विषये पुराणं च-
विश्वोत्तरोत्तरविचित्रमनोरथस्य
यस्यैकशक्तिशकले सकलः समाप्तः ।

अध्वानमध्वपतिमध्वविदो वदन्ति

तस्मै नमः सकललोकविलक्षणाय ॥

इति । एवं सकलदोषकलङ्करहितशब्दप्रमाणैकसिद्धसर्वशक्तिसं-
द्विलासे परमेश्वरे शिवे परब्रह्मणि सम्भावनाऽसम्भावनाविचारः
सर्वोऽपि निरवकाश एव ॥

११. अधिकरणम्.

पुनरन्यथाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

शास्त्रावगतसर्वशक्तेः ब्रह्मणः सर्वेषु कार्येषु कारणसत्-
त्वर्यमस्तीति निर्णीतम् । तथाऽपि सर्वप्रवृत्तेः प्रयोजनवत्त्वात्
अवाप्तसकलकामस्य परमेश्वरस्य जगत्सृष्ट्यादिव्यापारः सम्-
भवति न चेति सन्दिह्यते ॥

अत्र कथं सम्भवति ? ‘आनन्दो ब्रह्म’† ‘विभुं चित्तं
नन्दमरूपमद्भुतम् । उमासहायम्’‡ इत्यादिभिः निरतिशयात्
स्वरूपो नित्यतृप्तो हि शिवः श्रूयते । कथमसौ सृष्ट्यादिव्याप-
रेषु प्रयोजनानिरपेक्षः प्रवर्तेत । यदि सप्रयोजनाऽस्य प्रवृत्ति-
नित्यतृप्तताहानिः स्यात् । अन्यथा जडादिवदनुचितकारिता स्यात्

इति प्राप्ते ब्रूमः—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

यदुक्तं नित्यवृत्तस्य प्रयोजनाभावादप्रयोजना जगत्सृष्ट्यादिप्रवृत्तिर्न सम्भवति इति, तन्न, सम्भवत्येव निष्प्रयोजनाऽपि प्रवृत्तिः केवललीलामात्रेण परमेश्वरस्य । यथा लोके प्रयोजनमन्तरेणापि केवलं लीलया कन्दुकताडनादिषु प्रवृत्तिः, तथा परमेश्वरस्य अवाप्तसकलकामस्यापि लीलया सृष्ट्यादिप्रवृत्तेरविरोध एव ॥

१२. अधिकरणम्.

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति ॥ ३४ ॥

प्रयोजनाभावेऽपि लीलया परमेश्वरस्य जगत्सृष्ट्यादिषु प्रवृत्तिरिति निरूपितम् । तत्र पुनः संदिह्यते सैषा सम्भवति न वेति ॥

लीलयाऽपि परमेश्वरस्य सृष्टिर्न सम्भवति, परिपूर्णतया सगद्वेषादिहीनत्वात् । सकलसाम्येन मध्यस्थ एव हि परमेश्वरः । तस्य केषांचित् सुखमयं देवादिशरीरं केषांचिदुःखोत्तरं मनुष्यादिशरीरं सृजतो वैषम्यं दुर्वारम् । किञ्च—सृष्टेः संहारपूर्वकत्वात् सकलं युगपत् संहृतः परमेश्वरस्य नैर्घृण्यं च भवेत् । तदेवमपुरुषार्थसम्बन्धापादिन्या जगत्सृष्ट्या किं परमेश्वरस्य ? ॥

इति प्राप्ते ब्रमः—सर्वथा जगत्सृजतः परमेश्वरस्य वैषम्यनैवृत्ते
न भवतः, कर्मसापेक्षत्वात् सृष्टिवैषम्यस्य । तथा हि दर्शयति
श्रुतिः—‘रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते कपूयचरणा
कपूयाम्’* इति ॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपन्न-
ते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३५ ॥

सृष्टेः प्राक् कर्म नास्ति क्षेत्रज्ञाभावात् । तदभावश्च ‘न
देव सोम्येदम्’† इत्यवधारणावगतादविभागात् इति चेत्—
‘ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ’‡ इत्यादिश्रुतेः यथा जीवानामनादित्वं
तथा तत्कर्मणामनादित्वम् । दृश्यते हि यतः कर्मप्रवाहसिद्धे-
यं संसारः । परमेश्वरो हि जीवानां विचित्रं कर्म सर्वज्ञतया
लोक्य स्वशक्त्या तत्तदनुगुणमेव भोगायतनं देवादिशरीरं
जति । ततः कर्ममूलमेव सृष्टिवैषम्यम् । संहारश्च जीवानां
सारव्यापाराखिन्नानां सुषुप्तिवद्विश्रान्तिहेतुतया परमेश्वरस्य
नैर्घृण्यापादकः ॥

ननु जीवानां सुखदुःखादौ कर्मण एव प्रयोजकत्वात्
मप्रयोजकेन परमेश्वरेणेति चेत्—न, कर्मणोऽपि तदधीनत्वात्
तस्य न स्वातन्त्र्यहानिः । पुनरपि घट्टकुटीप्रभातन्यायेन कर्म-
स्वातन्त्र्याभावे परमेश्वरस्य वैषम्यादिदोषापत्तिरिति न वाच्यम्
कर्मशक्तीनामनन्तानां मायागतानां संस्थापकमात्रत्वात् परमे-
श्वरस्य । कर्मणामेव स्वशक्तिवशात् सृष्टिवैषम्यहेतुत्वे तद्वत्
स्थापकमात्रस्य तस्य न वैषम्यम् ॥

ननु जीवानां शरीरसृष्टौ अचेतनस्य कर्मणश्चेतनानाधि-
तस्यासामर्थ्याच्चेतनत्वेन परमेश्वर एव प्रयोजक इति वक्तव्यम्

कथमसौ सृष्टेः प्राक् संहतभोगसाधनतया संसारकृशेरहितान्
सुखिनो जीवान् पुनरपि संसारहेतुना शरीरेण योजयति परम-
कारुणिकोऽपि सन्निति चेत्—

उच्यते—सर्वानुग्राहकः परमेश्वरो जीवानां कर्मपाकमन्त-
रेण ज्ञानानुदयात्, ज्ञानमन्तरेण निरतिशयानन्दमोक्षाभावात्,
कर्मपाकस्य च भोगमन्तरेणानुपपत्तेः, तत्कर्मफलभोगाय पुन-
रपि तेषां शरीरादिकं कल्पयति । एवं क्रमात् भोगेन पक्वे
स्वकर्मणि शुद्धान्तःकरणानां जीवानां स्वविषयं ज्ञानमुत्पाद्य
निरतिशयानन्दरूपां मोक्षलक्ष्मीं प्रकाशयति ॥

एवं शक्तिमान् परमेश्वरः परमकारुणिकः कथं वा युग-
पदेव सर्वजीवानां कर्म पाचयित्वा सममेव मोक्षानन्दं न प्र-
काशयतीति चेत्—सत्यम्, परमेश्वरेण सममेव सर्वेषामनुग्रहे
क्रियमाणेऽपि ये पक्वमलास्ते शुच्यन्ते, अपक्वमलाः कालक्रमादेव ।
यथा सवितृकिरणसन्दोहे सममेव सन्ततेऽपि पक्वान्येव पद्मानि
विकसन्ति, नापक्वानि । ततः पूर्णोऽपि परमेश्वरः परार्थमेव
सर्वा प्रवृत्तिं करोति । तथा पौराणिकी भणितिः परमेश्वर-
स्य सर्वानुग्राहकत्वप्रतिपादनमुख्येनोक्तं सकलमर्थं स्पष्टयति—

आदित्येन यथा हीनं तमोभूतामिदं जगत् ।
शिवेनापि विना तद्वत् तमोभूतामिदं जगत् ॥
वैद्यं विना निरानन्दाः क्लिश्यन्ते रोगिणो यथा ।
शिवं विना निरानन्दं क्लिश्यते हि जगत्तथा ॥
व्याधीनां भेषजं यद्वत् प्रतिपक्षं स्वभावतः ।
शिवस्संसारदोषाणां प्रतिपक्षः स्वभावतः ॥
यथाऽनादिप्रवृत्तोऽयं घोरः संसारमण्डलः ।
तथाऽनादिप्रवृत्तोऽयं शिवस्संसारमोचकः ॥

इत्यादिका । अतः परमेश्वरस्य सर्वानुग्रहप्रवृत्तेः जगत्सृष्ट्या
दिव्यापारः सम्भवत्येव ॥

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३६ ॥

किं बहुना? प्रधानपरमाणुकर्मकालादीनां ये धर्मा अनुग्रहा-
न्नास्ते सर्वे ब्रह्मण्युपपद्यन्ते । अतो ब्रह्मैव सर्वातिशायि जग-
त्सृष्ट्यादिकारणमिति समञ्जसम् ॥

इति श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचिते ब्रह्ममीमांसाभाष्ये
द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः.

१. अधिकरणम्.

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च ॥ १ ॥

पूर्वपादे साङ्ख्यादितर्काविरोधमाशङ्क्य स्वपक्षसाधनं कृतम् ।
पुनरिह तर्कावलम्बेन सांख्यादिपरपक्षदूषणं क्रियते । प्र-
सांख्यानां प्रधानकारणवादो युक्तो न वेति सन्देहः ॥

सन्देहबीजं सर्वत्र प्रसिद्धमूहनीयम् ।

प्रधानकारणवाद एव युक्त इत्यवगम्यते । प्रधानं हि तज-
स्सत्त्वतमोरूपम् । तदेव जगतः कारणं भवितुमर्हति, सर्व-
तत्कार्यसुखदुःखमोहान्वयदर्शनात् । पटादयो ह्युपलब्धाः प्रावरण-
दिहेतुतया सुखात्मका भवन्ति । अन्यापहृता दुःखात्मका भ-
वन्ति । कार्याभावादुपेक्षिता मोहात्मकाः । तदेवं सुखाद्यन्त-
यात् त्रिगुणमेव प्रधानं जगत्कारणम् ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—न प्रधानं जगत्कारणम्, अचेतन-
त्वात् । तथा हि—दार्ढ्यादेरचेतनस्य रथप्रासादादिषु तज्ज्ञानाधि-
ष्ठितस्य रचनानुपपत्तिर्दृश्यते । तज्ज्ञाधिष्ठितस्य रचनाप्रवृत्तिश्च
दृश्यते । अतश्चेतनानाधिष्ठितं प्रधानं जगत्कारणं भवितुं नार्हति ।
यदुक्तं सुखाद्यन्वयादिति, तदसत्, सुखादीनामान्तरत्वात्,
पटादीनां बाह्यत्वात् । अतः प्रधानकारणवादो न युक्तः ॥

आशङ्क्य परिहरति—

पयोऽम्बुवच्चेत् तत्रापि ॥ २ ॥

यथा पयोऽम्बु दध्यादिकरकादिभावेऽधिष्ठानानपेक्षं, तद्वत्
प्रधानमपीति चेत्—न, तत्राप्युक्त एव हेतुः, तस्याप्यचेतन-
त्वेन पक्षीकृतत्वात् ॥

किञ्च—

व्यतिरेकानवस्थितेश्वानपेक्षत्वात् ॥ ३ ॥

यदि प्राज्ञाधिष्ठानानपेक्षत्वमचेतनस्य प्रवृत्तौ तदा सर्वदा
सृष्टिप्रसङ्गेन तद्व्यतिरेकस्य प्रलयस्यानवस्थितिः प्रसज्येत । ततो
नाचेतनं जगत्कारणम् ॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ४ ॥

क्षीरायमाणधेनूपयुक्ततृणादिवदचेतनमपि प्रधानं न कारण-
मिति वक्तुं युक्तं ; अनडुहाद्युपयुक्ते केनाप्यनुपयुक्ते च तृणादौ
क्षीरपरिणामाभावात् तदपि प्राज्ञाधिष्ठितमेव ॥

पुरुषाश्मवादिति चेत् तथाऽपि ॥ ५ ॥

अचेतनमपि प्रधानं पुरुषः सन्निधानात् प्रवर्तयति, यथा
पङ्कुरन्धं, यथा चाऽयस्कान्तमणिरयः । ततो न प्राज्ञापेक्षेति चेत्—

तथाऽपि न प्रधानस्य प्रवृत्तिः संभवति; पुरुषस्याविकृतत्वात् ।
पङ्कशमादेर्मागोपदेशास्सन्निहितदेशान्तरप्राप्त्यादिः कश्चिद्विकारो
भवत्येव । तस्मादविकृतपुरुषसन्निधिः प्रधानप्रवृत्तौ न हेतुः ।

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ ६ ॥

गुणानामुत्कर्षापकर्षभावोऽङ्गाङ्गिभावः । ततो जगत्प्रवृत्ति-
रुच्यते सांख्यैः । प्रतिसर्गावस्थायां साम्यावस्थानां गुणानां
वैषम्याभावात् तत्कृताङ्गाङ्गिभावानुपपत्तिः । अतश्च जगदात्मनो
न युज्यते प्रधानकारणवादे ॥

अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञाशक्तिवियोगात् ॥ ७ ॥

उक्तप्रकारादन्यप्रकारेण प्रधानेऽनुमीयमानेऽपि ज्ञातृत्वशक्ति-
वियोगाद्रचनानुपपत्तिस्तदवस्थैव ॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ८ ॥

प्रधानस्याभ्युपगमे यदि प्रयोजनं, तदा यथा कथंकिं
भ्युपगच्छामः । न किमपि प्रयोजनमस्ति । यतः पुरुषस्य
निर्विकारत्वात् प्रधानदर्शनादिरूपविकारासंभवः, अत एव प्र-
तिधर्माध्यासनिमित्तो भोगः तद्विवेकानुसन्धानकृतं कैवल्यं चा-
संभवति । अतः प्रयोजनाभावात् प्रधानं न स्वीकार्यम् ॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ ९ ॥

पुरुषस्य द्रष्टृत्वभोक्तृत्वनिर्विकारत्वादिविरुद्धधर्मसह-
भ्युपगमश्च दृश्यते । अतोऽप्यसमञ्जसमेव कापिलं मतम् ॥

२. अधिकरणम्.

एवं प्रधानकारणवादो निष्प्रमाणक इति निरूपितम् । अतः
परमाणुकारणवादनिरसनायाधिकरणमारभ्यते—

महदीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥१०॥

अत्र वैशेषिकमतसिद्धः परमाणुकारणवादो युक्तो न वेति
सन्देहः ॥

प्रधानमते अधिष्ठातृपरमेश्वरानङ्गीकारात् तत्कारणवादे विरु-
द्धेऽपि परमाणुकारणवादो युज्यते । तथा हि—प्रलीने जगति
परमेश्वरस्य सिसृक्षायां सत्यां प्राणिनां कर्मवशाच्चिह्नलेषु पर-
माणुषु आद्यं कर्मोत्पद्यते । तस्मात् कर्मणः एकः परमाणुः
परमाण्वन्तरेण संयुज्यते । तस्माच्च संयोगाद्वचणुकमारभ्यते ।
तेभ्यस्त्रिभ्यो द्व्यणुकेभ्यस्त्र्यणुकम्, इत्यादिक्रमेण सर्वं जगदु-
त्पद्यते । अतः परमाणुकारणवादे न विरोधः ॥

इति पूर्वपक्षे सिद्धान्त उच्यते—ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां मह-
त्त्वदीर्घत्वयुक्तत्र्यणुकाणुत्वह्रस्वत्वयुक्तद्व्यणुकोत्पत्तिरुच्यते काणा-
दमते । कथमेतत् संभवति? तथा हि—परमाणवः परिमाण्ड-
ल्यपरिमाणयुक्ताः, न त्वणुपरिमाणयुक्ताः । द्वाभ्यां परमाणुभ्यां
त्र्यणुपरिमाणरहिताभ्यां अणुपरिमाणोपेतं द्व्यणुकमुत्पद्यत इत्य-
भ्युपगम्यते । तथा—ह्रस्वपरिमाणोपेताद्दीर्घपरिमाणरहितं द्व्यणु-
कम् । तादृशेभ्यस्त्रिभ्यो द्व्यणुकेभ्यो दीर्घपरिमाणोपेतमणुपरि-
माणरहितं त्र्यणुकमुत्पद्यत इत्यभ्युपगम्यते । इदं सर्वमसम-
ञ्जसमेव, तदभ्युपगतकारणगुणप्रक्रियाविरोधात् । अवयवाश्च
स्वीयैः षड्विः पार्श्वैः संयुज्यमानाः पृथुतरमवयविनमारभन्ते ।
परमाणूनां पार्श्वभावात् पृथुतरद्रव्यारम्भकास्ते न भवेयुः ।
अतः परमाणुकारणवादो न युक्तः ॥

पुनरनुपपत्तिमाह—

उभयथाऽपि न कर्मातिस्तदभावः ॥ ११ ॥

अणुगताद्यकर्माभावादेव तत्कृताणुगतसंयोगाभावः । ज्ञेय-
दृष्टानां विपाकानपेक्षत्वे प्रागप्यणुगता कर्मोत्पत्तिः स्यात् । त-
पेक्षत्वं न तत्कृतकादाचित्काणुगतकर्मसंभवं । विपाको नाम
दृष्टगतः कश्चिद्धर्मो न ज्ञायते । किंतु कर्मविधिना कालवि-
धनियतफलदातृत्वं यस्य कर्मणश्चोदितं तस्य तत्कालागम-
विपाकः, अनियतकालविशेषाणां कर्मणां प्रबलकर्मान्तरप्रति-
न्धाभावो वा विपाकः । अदृष्टानि तत्तत्कर्मानुगुणफलदान-
भावानि । अतोऽनन्तरात्मभिर्दिविधकालफलदायित्वेनानुष्ठित-
मेकदैकरूपविपाको न संभवति । अतः परमाणुकारणवादो
युक्त एव ॥

इयं चात्रानुपपत्तिरित्याह—

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ।

समवाय इति संवन्धोऽभ्युपगम्यते । अत एवासमञ्जस-
तत् । कथम् ? समवायस्यापि जातिगुणादेरिवापृथक्सत्त-
त्वपेक्षासाम्यादनवस्थानात् । अतः काणादमतमसमञ्जसम् ॥

नित्यमेव च भावात् ॥ १३ ॥

समवायस्य नित्यत्वाङ्गीकारात् संवन्धिनित्यत्वमन्तरेण त-
नुपपत्तेरवयवावयविनोरापि नित्यत्वप्रसङ्गादसमञ्जसमेव तत् ।

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥ १४ ॥

परमाणूनामत्र रूपादिमत्त्वमङ्गीक्रियते । ततस्तन्नित्यत्वनि-
विपर्ययः, तथा घटादिषु दर्शनात् । तस्मादप्यसमञ्जसम् ।

उभयथा च दोषात् ॥ १५ ॥

अनित्यत्वादिपरिहाराय रूपादिशून्यत्वाङ्गीकारे कारणगु-
णपूर्वकत्वासिद्धिः । एतत्सिद्धये पुनरपि रूपादिमत्त्वाङ्गीकारे च
अनित्यत्वाद्यनर्थापत्तिरित्युभयथाऽपि दोषादसमञ्जसमेव कणाद-
मतम् ॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १६ ॥

साङ्ख्यपक्षस्य श्रुतिन्यायविरुद्धस्यापि सत्कार्यवादादौ क्व-
चिदंशे वैदिकपरिग्रहोऽस्ति । कणादपक्षस्य तु केनाप्यंशेनाप-
रिग्रहादत्यन्तमनपेक्षैव निश्चेयसार्थिभिः कार्या ॥

३. अधिकरणम्.

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ १७ ॥

वैदिकैकदेशिनां मतं निराकृतम् । इदानीं वेदवाह्यानां मतं
निरस्यते । प्रथममिह बौद्धसिद्धान्तसिद्धः समुदायकारणवादो
युक्तो न वेति संदेहः ॥

युक्त इति पूर्वः पक्षः । तथा ह्यामनन्ति—द्वौ समुदायौ
वाह्याभ्यन्तरौ । वाह्यः पृथिव्यादिः । आन्तरश्चित्तचैत्तात्मकः ।
समुदायद्वयमेव सर्वं जगत् । तथा हि—वाह्यसमुदायस्य पर-
माणवः कारणम् । ते च चतुर्विधाः । पार्थिवाप्यतैजसवाय-
वीयाः । तेभ्यो युगपत् पुञ्जीभूतेभ्यः समुदायो बाह्यो जायते ।
आन्तरस्य समुदायस्य स्कन्धपञ्चकं कारणम् । रूपवेदनावि-
ज्ञानसंज्ञासंस्काररूपाः पञ्च स्कन्धाश्चित्तेन निरूप्यमाणाः । शब्द-
स्पर्शरूपादयो रूपस्कन्धः । तदभिव्यक्तिर्विज्ञानस्कन्धः । तज्जन्यं

दुःखं वेदनास्कन्धः । देवदत्तादिनाम संज्ञास्कन्धः । तेषां
वासना संस्कारस्कन्धः । तेष्यः पुञ्जीभूतेभ्य आन्तरः समु-
दायो जायते । अतः समुदायद्वयकारणवादे न कोऽपि
विरोध इति ॥

एवं प्राप्ते निरूप्यते—न युक्तः समुदायद्वयकारणवाद इति ।
ते हि क्षणिकत्ववादिनः । कथमेतेषां समुदायः संभवति ?
कारणानां क्षणिकत्वेन तदानीमेव नष्टत्वात् कार्योत्पादनासम्-
र्थत्वात् ॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न संघात-

भावानिमित्तत्वात् ॥ १८ ॥

अस्थिरेषु स्थिरत्वबुद्धिरूपाया अविद्याया रागादीनां च
न्योन्यकारणत्वात् संघातभावादिकमुपपन्नमिति चेत्—न, अवि-
द्यायाः संघातभावानिमित्तत्वात् । न हि शुक्तिकादिषु रजत-
दिबुद्धिरूपाविद्यया शुक्तिकादिर्वस्तुतो रजतादिकार्यं करोति ।
विदुपस्तदानीमेव तत्र नष्टत्वात् तन्निमित्तरागादयोऽपि
संभवन्ति । तस्माद्युक्तः समुदायकारणवादः ॥

युक्त्यन्तरमाह—

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ १९ ॥

उत्तरघटक्षणोत्पत्तौ पूर्वघटक्षणस्य नष्टत्वात् अभावस्यैव
त्पादकत्वाविशेषात् सर्वदा सर्वत्र सर्वोत्पत्तिरपि स्यात् ॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥

असति हेतावुत्पत्तौ अधिपतिसहकार्यादीनां ज्ञानहेतुत्व-
तिज्ञाविरोधः स्यात् । तस्यापि स्थित्यभ्युपगमे युगपत् प्रत्य-
योपलब्धिप्रसक्तिः । अस्थितौ संप्रयोगज्ञानादेः यौगपद्यम् ॥

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छे-
दात् ॥ २१ ॥

निरोधो निरन्वयविनाशः । स स्थूलः सूक्ष्मश्च न संभ-
वति, कपालादिभावरूपावस्थाप्राप्तेरेव विनाशशब्दवाच्यत्वात्
सतो द्रव्यस्याविच्छेदात् । ततो न क्षणिकत्वसिद्धिः ॥

उभयथा च दोषात् ॥ २२ ॥

उत्पन्नस्य तुच्छतापत्तौ तुच्छादुत्पत्तौ चाभावादुत्पत्त्यसंभ-
वात्, अभावात्मककार्योत्पत्तिरूपादोषादसमञ्जसमिदं दर्शनम् ॥

आकाशे चाविशेषात् ॥ २३ ॥

आकाशे च न तुच्छत्वमुपपद्यते ; अबाधप्रतीतिसिद्धत्वा-
दस्य श्येनादिपतनहेतुत्वेन ॥

अनुस्मृतेश्च ॥ २४ ॥

प्रत्यभिज्ञानादपि न क्षणिकत्वसिद्धिः । तदेवेदमिति सा-
मानाधिकरण्येनातीतवर्तमानकालविशिष्टं वस्त्वेकमिति हि वि-
ज्ञायते । सामग्री च तस्याः पूर्वानुभवजनितसंस्कारवतः पुरु-
षस्येन्द्रियसंयोगः । ततः क्षणिकत्वाद्यनुपपन्नार्थाभिधानात् अ-
संबद्ध एव समुदायकारणवादः ॥

४. अधिकरणम्.

वाह्यार्थास्तित्ववादिषु गोघटादीनां प्रत्यक्षत्ववादिनो बौद्धा
निरस्ताः । ज्ञानानुमेयत्ववादिनो निरस्यन्ते—

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २५ ॥

इह बौद्धैकदेशिनो ज्ञानानुमेयत्ववादो युक्तो न वा ॥

इति संशये पूर्वपक्षप्रसङ्गः—ज्ञाने स्याकारं समर्थं विनष्टमर्थं ज्ञानाकारवैचित्र्येणानुमिनोति ज्ञाता, ततो ज्ञानवैचित्र्येण बाह्यार्थवैचित्र्यमनुमीयत इति ॥

तदेतन्न संभवति, अर्थस्य क्षणिकत्वादसतो विनष्टस्य धर्मिणो धर्मसंक्रमणस्यादृष्टत्वात् ॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २६ ॥

क्षणिकत्वाभ्युपगमादन्य एवानुष्ठाताऽन्य एव फलस्यापि । अतो निष्प्रयत्नानामपि सर्वार्थसिद्धिः स्यादिति दुरूपपादोपवाद इति ॥

५. अधिकरणम्.

नाभाव उपलब्धेः ॥ २७ ॥

इह बौद्धानां केवलविज्ञानवादो युक्तो न वा ॥

इति संशये युक्त इति पूर्वः पक्षः । तथा हि—साक्षात् विज्ञानमेव तत्त्वमान्तरम्, न बाह्याः पदार्थाः, स्वप्ने बाह्यपदार्थाननपेक्ष्य केवलया बुद्ध्या व्यवहारदर्शनात् । तद्वत् अग्रद्वयव्यवहारस्यापि व्यवस्था युज्यते । ततो विज्ञानमात्रं तत्त्वमिति ॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—घटं जानामीति कर्तुः कर्मतयाऽर्थस्त उपलब्धेस्तदभावो न शक्यते वक्तुम् । पुरुषस्यार्थविशेषत्वक हाराणुगुण्यापादनमेव हि ज्ञानस्याकारः ॥

यदुक्तम्, स्वप्नदृष्टान्तेन जाग्रद्व्यवहारस्यापि शून्यत्वम्,
तत्राह—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २८ ॥

कारणदोषवाधराहित्यरूपवैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवज्जागरित-
ज्ञानस्य मिथ्यात्वम् । अतो न विज्ञानमात्रं तत्त्वम् ॥

युक्त्यन्तरमाह—

न भावोऽनुपलब्धेः ॥ २९ ॥

अर्थशून्यस्य ज्ञानस्य सद्भावो न संभवति, तस्य कुत्राप्य-
नुपलम्भात् । स्वप्नज्ञानस्याप्यर्थवत्ता संभवत्येव । ततो विज्ञानमा-
त्रवादोऽनुपपन्न एव ॥

६. अधिकरणम्.

सर्वथाऽनुपपत्तेश्च ॥ ३० ॥

इहाधिकरणे सर्वशून्यवादो युक्तो न वेति संदेहः ॥

युक्त इति पूर्वः पक्षः । तथा हि—सर्वं जगन्न सत्, वा-
धितत्वात् । नासत्, प्रतीयमानत्वात् । नोभयात्मकम्, विरो-
धात् । नानुभयात्मकम्, असंभवात् । किंतु चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं
सर्वं शून्यमेव । प्रत्यक्षावभासस्तु संवृतिबूलः । तस्माच्छून्य-
वादः समीचीन इति ॥

एवं प्राप्ते सिद्धान्त उच्यते—न संभवति सर्वशून्यवादः ।
कुतः ? सदिति प्रतिज्ञायामिव असदिति प्रतिज्ञायामन्यथा प्रति-
ज्ञायां च तुच्छत्वानुपपत्तेः सदसद्बुद्धितच्छब्दानां वस्तुगतान्यो-

न्यविरुद्धभावाभावरूपावस्थाविशेषविषयत्वात् । यत्तु संवृतिपु-
लः प्रत्यक्षावभास इति, तदप्यपहास्यम् । सर्वस्य शून्ये-
कः संवृतेराश्रयः ? यस्यैवमवभासः । ततः सर्वशून्यवादः सर्व-
विरुद्ध एव ॥

७. अधिकरणम्.

गता हि बौद्धाः । जैनमतं निरस्यते—

नैकस्मिन्नसंभवात् ॥ ३१ ॥

जैना हि सप्तभङ्गीन्यायेनैकस्मिन्नपि वस्तुनि नानाभावमु-
पादयन्ति । तदेतेषां मतं युक्तं न वेति विचारः ॥

एवं तेषां प्राक्रिया—जीवोऽजीवश्चेति द्वौ पदार्थौ । जीव-
श्चेतनः शरीरपरिमाणः सावयवः । अजीवः पण्डितः । वन-
हीधरादिरेकः । आस्रवसंवरनिर्जरवन्धमोक्षाख्याः पञ्च । आस्र-
त्यनेन जीवो विषयेष्वित्यास्रव इन्द्रियसंघातः । संवृणोति किं-
कमित्यविवेकादिः संवरः । निश्शेषं जीर्यत्यनेन कामक्रोधादि-
रिति केशोल्लुञ्छनतप्तशिलारोहणादि तपो निर्जरः । कर्माहं-
नापादिता जन्मपरंपरा वन्धः । चत्वारि घातिकर्माणि पाप-
पाणि । चत्वार्यघातिकर्माणि पुण्यरूपाणि । तेभ्यो मुक्तस्य ज-
वस्य सततोर्ध्वगमनं मोक्षः । एते सप्त पदार्थाः सप्तभङ्गीन्या-
येन व्यवस्थाप्याः । स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च
नास्ति च, स्यादवक्तव्यम्, स्यादस्ति चावक्तव्यं, स्यान्नास्ति
चावक्तव्यं, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं, इति सप्तभङ्गीन्या-
यः । स्याच्छब्द ईषदर्थः । अतः सप्तभङ्गीन्यायात् सप्तपदार्था-
द्विरिति ॥

एतदयुक्तम् । कुतः ? एकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वासत्त्वनित्य-
त्वानित्यत्वभेदाभेदादीनामसंभवात् । पर्यायभाविनश्च द्रव्यस्या-
स्तित्वनास्तित्वादिशब्दबुद्धिविषयाः परस्परविरुद्धाः पिण्डत्वघट-
त्वकपालत्वाद्यवस्थाः युगपन्न संभवन्ति । अतो विरुद्ध एव
जैनवादः ॥

एवं चात्माकात्स्न्यम् ॥ ३२ ॥

एवं च आत्माकात्स्न्यं चानुपपन्नम् । आत्मनः शरीरप-
रिमाणत्वे बृहत्तदशरीरादल्पीयसि प्रविशतो विकलत्वं प्रसज्येत ।
अत आत्मनः शरीरपरिमाणत्वमयुक्तमेव ॥

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥

तथाविधाल्पत्वावस्थान्तरयोगादप्यविरोधो न संभवति ;
घटादिवद्विकारादिदोषप्रसङ्गात् ॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥

अन्त्यस्य मोक्षदशापरिमाणस्यैकरूपावस्थितेस्तस्य स्वाभा-
विकत्वेनात्मतत्परिमाणयोरुभयोरपि नित्यतया पूर्वावस्थायामप्य-
विशेषः । विविधदेहपरिमाणत्वे हि वैकल्यं भवेदेव । अत एक-
स्मिन् सत्त्वासत्त्वादिवादात् आत्मनः शरीरपरिमाणवादाच्च जैन-
मतमपि विरुद्धमेव ॥

८. अधिकरणम्.

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३५ ॥

पत्युः परमेश्वरस्य श्रुतिसिद्धजगदुभयकारणत्वस्यापि तदा-
गमनिष्ठास्तन्मताभिप्रायानभिज्ञा एकदेशिनस्तान्त्रिकाः केवलनि-
मित्तत्वं वदन्ति । तद्युक्तं न वेति संदेहः ॥

तत्रैवं पूर्वः पक्षः—कुलालादिरनुपादानभूत एव दण्डादिकं
नियच्छन् कर्ता भवति । तथा तद्वस्थ ईश्वरोऽपि निमित्तमा-
त्रम् । माया उपादानम् । शक्तयः करणम् । अन्यथा सृष्ट-
दिवदीश्वरस्योपादानत्वे विकारादिप्रसक्तिः । अतो निमित्तमेव
परमेश्वर इति ॥

अत्रोच्यते—पत्युरीश्वरस्य केवलनिमित्तत्वमपि न युक्तम्,
श्रुतिन्यायविरोधेनासामञ्जस्यात् ॥

न्यायविरोधमाह—

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३६ ॥

अशरीरस्य परमेश्वरस्य मायोपादानाधिष्ठानं नोपपन्नम् ।
लोके शरीरेण एव कुलालादेर्मृत्पिण्डाद्युपादानाधिष्ठानं दृश्यम् ।
अतः कुलालादिदृष्टान्तो विरुद्धः । अनधिष्ठाने मायादेः ईश्वर-
स्यानङ्गीकारात् सांख्यमतमेव युक्तम्, ईश्वरेण प्रयोजनाभावात् ।
अतः परमेश्वरस्य निमित्तत्वं न संभवति ॥

आशङ्क्याह—

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ३७ ॥

अधिष्ठाने शरीरापेक्षा नास्ति । यथा करणमिन्द्रियमश-
रीरमपि शरीरमधितिष्ठति तद्वत् प्रधानमपीश्वर इति चेत्—
तद्वतानर्थभोगादिभ्यः । यथाऽऽत्मनोऽशरीरस्य शरीराधिष्ठाने शरी-
रगतसुखदुःखभोगादिः तथा परमेश्वरस्यापि तदधिष्ठाने तद्वत्
भोगादिप्रसक्तिः । अतो न निमित्तमात्रमीश्वरः ॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ३८ ॥

वाशब्दश्चार्थे । सशरीर एव परमेश्वरः कुलाल इव मृ-
 त्युण्डं पार्थक्येनोपादानमधितिष्ठतीति चेत्—न, तथा सति पत्यु-
 रीश्वरस्य संसारिण इवान्तवत्त्वमसर्वज्ञत्वं च भवति । अतो
 भोगादिप्रसक्तेः प्रधानाधिष्ठानमीश्वरस्य न संभवति । प्रधा-
 नाधिष्ठातृत्वेऽपि परमेश्वरस्य ‘अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति’*
 इति श्रुतेस्तत्फलभोगादिप्रसक्तिर्न भवतीति चेत्—तथा
 सति तर्कबलमपहाय श्रुतिरेवावलम्बनीयेति ‘तदात्मानं स्वयं-
 मकुरुत’† ‘बहु स्यां प्रजायेय’‡ ‘सर्वो वै रुद्रः’§ इत्या-
 दिश्रुतिभिरुपादानमपि परमेश्वर इत्यभ्युपेयम् । जगदुपादा-
 ननिमित्तभूतस्यापि परमेश्वरस्य ‘निष्कलं निष्क्रियम्’¶ इत्या-
 दिश्रुतिभिर्निर्विकारत्वमप्युपपद्यते ॥

शक्तिः प्रथमसंभूता शान्त्यतीतपदोत्तरा ।

ततो माया ततोऽव्यक्तं शिवाच्छक्तिमतः प्रभोः ॥

शान्त्यतीतपदं जज्ञे ततः शान्तिपदं क्रमात् ।

इत्यादिना मायादिप्रपञ्चे शक्तिमतः शिवस्यैवोपादानत्वमवगम्यते
 वायुसंहितायाम् । पुनश्च—

शक्त्यादि च पृथिव्यन्तं शिवतत्त्वसमुद्भवम् ।

तेनैकेन तु तत् व्याप्तं मृदा कुम्भादिकं यथा ॥

इत्यादिना तत्रैव शिवेनोपादानभूतेन जगद्व्याप्तं मृद्वटादिन्याये-
 नावगम्यते ॥

*मु. ३-१.

† तै. २-७.

‡ छा. ६-२.

§ महाना. १६.

¶ श्वे. ६-१९.

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः ।

योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥

इत्याद्यागमप्रामाण्याच्च परमेश्वरस्य जगदुभयकारणत्वमित्यनवस-
मिति ॥

शिवागमैकदेशे शिवस्य परब्रह्मणः केवलनिमित्तत्वमुप-
दितम् । तत्परिहारार्थमिदमधिकरणमिति पूर्वाचार्याणां व्याख्या ।
वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः । वेदेऽपि शिवागम इति
व्ययहारो युक्तः, तस्य तत्कर्तृकत्वात् । अतः शिवागमे
द्विविधः त्रैवर्णिकविषयस्सर्वविषयश्चेति । वेदः त्रैवर्णिकवि-
यः । सर्वविषयश्चान्यः । उभयोरेक एव शिवः कर्ता । 'इ-
नः सर्वविद्यानाम्'* 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्'
इत्यादिश्रुत्या,

अष्टादशानामेतासां विद्यानां भिन्नवर्त्मनाम् ।

आदिकर्ता कविः साक्षाच्छूलपाणिरिति श्रुतिः ॥

इति स्मृत्या च वेदे तस्य कर्तृत्वमवगतम् । अन्यत्रापि त-
स्यैव परमेश्वरस्य । अतः कर्तृसामान्यादुभयमप्येकार्थपरं प्र-
माणमेव । यद्वा—ब्रह्मप्रणवपञ्चाक्षरीप्रासादादिमन्त्राणां पशुपति-
पाशादिवस्तुव्यवहाराणां भस्मोद्धूलनत्रिपुण्ड्रधारणालिङ्गार्चनछा-
क्षधारणादिपरधर्माणामन्येषां च सर्वेषां व्यवहाराणामुभयत्रापि
सममेव दर्शनादुभावपि प्रमाणभूतौ वेदागमौ । कर्तृसामा-
न्यादेकार्थपरत्वेन च विरोधाभावादिदमधिकरणं केवलेश्वरस्यै-
व निमित्तत्ववादिहिरण्यगर्भोक्तयोगस्मृतिविषयमिति वयं वदामः ।
अतो हिरण्यगर्भागमनिरसनपरमिदमाधिकरणमिति युक्तम् ॥

अथवा वियदाद्युत्पत्तिशङ्कापरिहारवदवान्तरशङ्कापरिहारप्रवृत्तौ
न दोष इति कश्चित् । सर्वथा न केवलमीश्वरो निमित्तमित्य-
स्माकं राद्धान्तः ॥

१. अधिकरणम्.

उत्पत्त्यसंभवात् ॥ ३९ ॥

पञ्चरात्रमतं वासुदेवोक्तम् । तत्र जीवोत्पत्त्यादिकमुच्यते ।
तत् संभवति न वेति संदेहः ॥

संभवतीति पूर्वः पक्षः । कुतः ? भगवता वासुदेवेन प्रो-
क्तस्य प्रमाणत्वात् । तथा ह्यत्र प्रक्रिया—भगवानेको वासुदेवः
परमात्मा । तस्मात् संकर्षणाख्यो जीवो जायते । जीवाच्च
प्रद्युम्नाख्यं मनः । मनसश्चानिरुद्धाख्योऽहंकारः । एते चत्वारो
व्यूहा सर्वात्मान इति । अतो वासुदेवस्य हिरण्यगर्भादिभ्योऽपि
परत्वेन तदुक्तस्य प्रामाण्यादिदं सर्वमुपपन्नम् ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः । जीवोत्पत्त्यभिधायकमिदं शास्त्रमप्रमा-
णम् ; कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गेत जीवोत्पत्त्यसंभवात् । एक-
स्मिन् किञ्चित् पुण्यापुण्यात्मकं कर्म कृत्वा प्रलये नष्टे तदन्यः
कश्चिज्जीवः प्राप्नोतीत्यकृताभ्यागमः । पूर्वस्य कृतस्य नाश
इत्यादिदोषः । ततो जीवोत्पत्त्यभिधायकं शास्त्रमप्रमाणम् ॥

इयं चान्याऽनुपपत्तिरित्याह—

नच कर्तुः करणम् ॥ ४० ॥

संकर्षणाख्याजीवात् प्रद्युम्नाख्यं मनोऽजायत इत्युच्यते ।
कर्तुर्जीवाच्च करणोत्पत्तिर्न संभवति, तस्य प्रकृतिकार्यत्वेन
चेतनकार्यत्वानुपपत्तेः ॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४१ ॥

विज्ञानशब्दो जीववाचकः । अत्र जीवादीनामुत्पत्तिर्नामि-
धीयते । किंतु संकर्षणादीनां जीवादिभाव उच्यते । जीव-
द्यधिष्ठातृत्वं जीवादिभाव इति ततस्तच्छास्त्रप्रामाण्यप्रतिषेधो
मा भूदिति शङ्कार्थः ॥

विप्रतिषेधाच्च ॥ ४२ ॥

एवं जीवोत्पत्त्यभिधाने परिहृतेऽपि पाञ्चरात्रमतस्य नाम्नु-
पगमः, श्रुतिविरुद्धेश्वरकारणवादमुक्तिहेतुत्वतस्तमुद्राधारणादि-
धर्मपरत्वादिना विप्रतिषेधात् । अतः पाञ्चरात्रमतमसमञ्जसम् ।

पाञ्चरात्रे च बौद्धे च तथा कालामुखेऽपि च ।

श्रद्धया दीक्षिता यूयं भवत ब्राह्मणाधमाः ॥

इत्यादिषु च विशेषेणास्य प्रतिषेधो दृश्यते । अतो विप्रतिषेध-
अप्रमाणं पाञ्चरात्रं मतम् ॥

ननु 'पुरुषो वै रुद्रः'* इत्यादिश्रुत्या परमेश्वर एव पुरु-
षो वासुदेवः, तज्ज्ञानाराधनादिकमपि क्रमेण परमेश्वरपदप्राप्ति-
साधनमिति श्रूयते । तदाराधनप्रतिपादकस्य पाञ्चरात्रस्याप्र-
माण्ये तस्यानाराध्यत्वप्रसङ्ग इति चेत्—न, श्रुतिविरोधात् पाञ्च-
रात्रस्याप्रामाण्येऽपि तस्य का हानिः, श्रुतिप्रसिद्धमार्गेण तस्य
राधनसंभवात् । अतो न विरोधः ॥

इति श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचिते ब्रह्ममीमांसाभाष्ये

द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः.

अथ द्वितीये तृतीयः पादः.

१. अधिकरणम्.

निरस्तः समस्तो विरुद्धेतरदर्शनन्यायः । अध्यायशेषेण
पुनः अवान्तरविरोधपरिहारः क्रियते—

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥

निरवयत्वेनाकार्यत्वभ्रमादाकाशस्योत्पत्तिः संभवति न वेति
संदिह्यते ॥

वियदोत्पद्यत इति प्राप्तम् । कुतः ? अश्रुतेः । तथा हि—
छान्दोग्ये 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'* इत्यारभ्य 'तत् तेजो-
सृजत'* इति तेजःप्रभृति भूतसृष्टिरभिधीयते । तत्र नाकाश-
स्योत्पत्तिः श्रूयते । या तु 'आत्मन आकाशः संभूतः'† इति
श्रुतिस्तैत्तिरीये, सा गौणी भवितुमर्हति, आकाशोत्पादकसम-
वाय्यादिनिरूपणासंभवात् ॥

अतो जीववदाकाशोऽपि नोत्पद्यत इति प्राप्ते ब्रूमः—

अस्ति तु ॥ २ ॥

वियत उत्पत्तिरस्त्येव, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः
संभूतः'‡ इत्यादिश्रुतेः । आत्मनस्तु 'न जायते म्रियते वा वि-
पश्चित्'§ इति प्रतिषेधादनुत्पत्तिः । वियदुत्पत्तिप्रतिषेधश्रुतिर्ना-
स्ति । अतो वियदुत्पद्यत एव ॥ २ ॥

यदुक्तमुत्पत्तिश्रुतिर्गौणीति, तत्राह—

गौण्यसंभवाच्छब्दाच्च ॥ ३ ॥

‘तत् तेजोऽसृजत’* इति तेजसः प्रथमं सृष्टिवचनात्
 ‘आकाशः संभूतः’† इति श्रुतिर्गौणी, तस्य निरवयवस्योत्प-
 त्त्यसंभवात्, ‘वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्’‡ इति नित्यत्वश-
 ब्दाच्च ॥

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ४ ॥

एकस्य संभूतशब्दस्याकाशे गौणत्वमन्यत्र मुख्यत्वमुत्प-
 ङ्गेऽपि श्रवणावृत्ताविव संभवत्येव । यथैकस्य ब्रह्मशब्दस्य
 ‘तस्मादेतत् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते’§ इति प्रकृतौ गौण-
 त्वम्, ‘तपसा चीयते ब्रह्म’§ इति मुख्यत्वं आवृत्तौ, तद्वद्व-
 षि । तस्मादाकाशोत्पत्तिरयुक्तेति ॥

अथ परिहार उच्यते—

प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकात् ॥ ५ ॥

‘येनाश्रुतं श्रुतं भवति’¶ इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया
 अहानिर्वियदादेर्ब्रह्मकार्यत्वेन तदव्यतिरेकादेव भवति । अ-
 न संभूतशब्दस्य गौणत्वम्, प्रतिज्ञाहान्याद्यापत्तेः । यथा प्रति-
 ज्ञाहानिर्न भवति तथा योजनीयम् ॥

शब्देभ्यः ॥ ६ ॥

‘आत्मन आकाशः संभूतः’† इत्यादिशब्देभ्योऽवगतां वि-
 दुत्पत्तिं ‘तत् तेजोऽसृजत’* इत्यज्ञाकाशावचनावगतं तेज-
 म्यं न निवारयितुं क्षमते ॥

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

‘हेतदात्म्यमिदं सर्वम्’* इत्याकाशादेरपि विकारत्वावगमात् तेजःप्रभृतिविकारवचनं यावद्विकारजातं तस्य सर्वस्यापि प्रदर्शनार्थमिति विभाव्यते । यथा लोके दश मे पुत्रा इत्युक्त्वा तेषु केषां चिदुत्पत्तिकथनं, तथाऽत्रापि । तस्माद्वियदुत्पद्यत इति युक्तमेव ॥

२. अधिकरणम्.

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥

‘तेजोऽतः’† इति वक्ष्यति । तदर्थं पृथगुपादानम् ॥

आकाशवद्वायोरुत्पत्तिरस्ति न वा ?

इति संशये वायुः नोत्पद्यत इत्युच्यते, छान्दोग्ये तेजःप्राथम्याद्वायूत्पत्तेरश्रुतेः, बृहदारण्यके ‘सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः’‡ इति तज्जन्मनिषेधाच्च । सर्वथा वायुर्नोत्पद्यते ॥

इति प्राप्ते सिद्धान्त उच्यते—छान्दोग्ये वायोर्जन्माश्रवणेऽपि गुणोपसंहारन्यायेन ‘आकाशाद्वायुः’§ इति तैत्तिरीयवाक्यस्योपसंहारे सति श्रुतमेव छान्दोग्येऽपि वायोर्जन्म । ‘सैषाऽनस्तमिता’¶ इति श्रुतिः स्तुतिपरा, उपासनप्रकरणात् । तस्माद्वायुरपि जायत एव ॥

३. अधिकरणम्.

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥

‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’|| इति सद्रूपाद्ब्रह्मण आका-

*छा. ६-८.

†तै. २-१.

‡त्र. सू. २-३-१०.

§बृह. ३-५-२२.

¶छा. ६-२.

शादीनामुत्पत्तिरिति निरूपितम् । तदिह सर्वकारणस्य सतोऽपि
ब्रह्मणः कुतश्चित् कारणादुत्पत्तिरस्ति न वा ॥

इति संदेहे सति ब्रह्मणोऽप्युत्पत्तिरस्तीत्युच्यते, यथा
कारणत्वेऽप्याकाशस्य । किंतु 'अग्र आसीत्'* इति श्रवणात्
सर्वविकारेभ्यः पूर्वमस्योत्पत्तिः । किमस्य कारणमिति चेत्,
असदेव, 'असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत'[†]
इति श्रवणात् । ततः सद्रूपं ब्रह्मापि जायत इति पूर्वः पक्षः ।

सिद्धान्तस्तु—न जायते ब्रह्मेति । कुतः? 'सदेव सोमं
दमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'* 'यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रि-
र्न सन्न चासच्छिव एव केवलः'[‡] इति शिवस्य ब्रह्मण एवा-
धारणात् तस्यासंभव एव निषेधात् । तदन्यस्य तु अनुप-
पत्तेः संभव इति । यथा ब्रह्म कारणत्वेन श्रूयते सर्वं
तथा तस्यापि किञ्चित्कारणान्तरं श्रूयते 'असद्वा इदमग्र
आसीत् । ततो वै सदजायत'[†] इति सतः कारणमसदिति
चेत्, तदसत्—'कथमसतः सज्जायेत'* इति निषेधात् सत एव
सदुत्पत्तावात्माश्रयापत्तेः । ततः सतो ब्रह्मण एवासंभवोऽनुत्पत्ति-
तदन्यस्य सर्वस्य सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानुपपत्तेः संभव उत्पत्तिरिति ।

४. अधिकरणम्.

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥ १० ॥

अत्र वाग्वदि कार्यं साक्षाद्ब्रह्मण उत्पद्यते स्वस्वपूर्वकार-
णाद्वा ॥

इति संदेहे सति स्वस्वपूर्वकारणादिति पूर्वः पक्षः । तथा हि—‘आकाशाद्वायुः’* इति श्रुतेर्वायुराकाशादेवोत्पद्यते, न साक्षाद्ब्रह्मणः । तेजोऽपि तथा वायोरेव । तथा ‘वायोरग्निः’* इत्याह श्रुतिः ॥

आपः ॥ ११ ॥

‘अग्नेरापः’* इति श्रुतेरापोऽप्यग्नेरेवेति ॥

पृथिवी ॥ १२ ॥

‘अद्भ्यः पृथिवी’* इति श्रुतेरद्भ्य एव पृथिवी । अतो ब्रह्मण एव साक्षान्नोत्पद्यन्ते भूतानि ॥

अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १३ ॥

छान्दोग्येऽपि ‘ता अन्नमसृजन्त’^१ इत्यन्नशब्देन पृथिव्येवोच्यते; भूतसृष्ट्यधिकारात्, ‘यत् कृष्णं तदन्नस्य’^१ इति रूपविधानाच्च, ‘अद्भ्यः पृथिवी’* इति शब्दाच्च । अतः पृथिव्येवाद्भ्य उत्पद्यते । तदेवंन्यायेन ब्रह्म न सर्वेषां साक्षात् कारणं, किंतु परंपर्येति ॥

सिद्धान्त उच्यते—

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः ॥ १४ ॥

ब्रह्मण एव तु साक्षात् सर्वभूतोत्पत्तिः । तथा हि, ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः’* इत्यारभ्य वाय्वादीनां पृथिव्यन्तानां न पूर्वपूर्वकारणादुत्पत्तिरुच्यते, किंतु पूर्वपूर्वकार-

णाकाशादिविशिष्टाब्रह्मण एव उत्तरोत्तरवाग्व्यादिकार्योत्पत्तिरुच्यते
इति परमात्मा शिव एव साक्षात् सर्वभूतोत्पादकः, 'तदे-
क्षत ब्रुहु स्यां प्रजायेय'* इतिवत् 'तत् तेज ऐक्षत ब्रुहु स्यां
प्रजायेय'* इति 'ता आप ऐक्षन्त ब्रह्मचः स्याम प्रजायेमहि'[†]
इति तदभिध्यानात् तल्लिङ्गात् ॥

सदाशिवः शब्दमूर्तिः स्पर्शमूर्तिरथेश्वरः ।

रुद्रस्तेजोमयः साक्षाद्रसमूर्तिर्जनार्दनः ॥

गन्धमूर्तिश्चतुर्वक्त्र इत्येताः पञ्चमूर्तयः ।

इति वचनात् सदाशिवादिरूपाच्छब्दाद्यात्मन एव ब्रह्मणो वा-
ग्व्यादिसंभवः । एते हि सदाशिवादयः पञ्चब्रह्मसंज्ञकाः पञ्च-
भूतात्मानः परब्रह्मणः शरीरम् । पञ्चब्रह्मशरीरादेव परब्रह्मण-
प्रपञ्चस्य सृष्ट्यादयः प्रवर्तन्ते । पञ्चभूतापन्नाश्चैते सदाशिवा-
दयः परमात्मन उत्पद्यन्ते ॥

ननु भूतानामेवात्रोत्पत्तिरुच्यते, 'आकाशः संभूतः'[†] इ-
त्यादिना, सदाशिवादीनां न साक्षात् सृष्टिरुच्यत इति चेत्-
उच्यत एव ; श्रुत्यन्तराध्याहारात् । तथाऽथर्वशिखायाम्-
'ध्यायीतेशानं प्रध्यायितव्यं सर्वमिदं ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सं-
प्रसूयन्ते सर्वाणि चेन्द्रियाणि सह भूतैर्न कारणं कारणानां
ध्याता कारणं तु ध्येयः सर्वैश्वर्यसंपन्नः सर्वेश्वरश्च शम्भुः
काशमध्यगः' इति ब्रह्मादीनामिन्द्रियाणां च भूतैः सहोत्पत्ति-
श्च्यते । कारणानामपि कारणत्वेन स शम्भुः परमाकाशमध्ये संके-
तश्च्यते । ततः साक्षादेव ब्रह्मणस्तत्तत्कारणरूपात् तत्तत्कार्योत्प-
त्तिरिति निर्णयः ॥

५. अधिकरणम्.

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥१५॥

इह पूर्वाधिकरणे निरूपितसृष्टिक्रम उपपद्यते न वेति संदेहः ॥

नोपपद्यत इति पूर्वः पक्षः । तथा हि—मुण्डकोपनिषदि

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

खं वायुर्ज्योतिरापः प्रथिवी विश्वस्य धारिणी ॥*

इति प्राणादीनां वियदादिभ्यः पूर्वमुत्पत्तिः श्रूयते । अथर्वशि-
खायां च ‘ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते संप्रसूयन्ते सर्वाणि चेन्द्रि-
याणि सह भूतैः’ इति सहोत्पत्तिर्ब्रह्मादीनां भूतेन्द्रियाणां चा-
स्मायते । अत आकाशादेः पूर्वोक्तसृष्टिक्रमो नोपपद्यत इत्यु-
च्यते ॥

सिद्धान्तस्तु—उपपन्नः पूर्वोक्तसृष्टिक्रमः । ‘अन्नमयं हि सो-
म्य मन आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक्’[†] इति प्राणा-
दीनां भौतिकत्वश्रवणात् भूतेष्वन्तर्भावाच्च पृथक्क्रमापेक्षा ।
ब्रह्मादीनां सहोत्पत्तिस्तु भूतैस्तद्रूपत्वात् तेष्वन्तर्भावात् । ततः
पूर्वोक्तक्रमे न विरोधः ॥

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति

चेन्नाविशेषात् ॥ १६ ॥

प्राणभूतानामिन्द्रियब्राममनसी क्रमेणान्तरा उत्पद्येते
इति हीदं वाक्यं प्रतिपादयति, ‘खं वायुर्ज्योतिः’* इत्यादौ

श्रुत्यन्तरसिद्धक्रमप्रत्यभिज्ञानरूपाह्लिङ्गात् । तत इदमपि पारं-
पर्यक्रमपरमिति चेत्—न, 'एतस्माज्जायते' * इत्यस्य प्राणादि-
पृथिव्यन्तेषु सर्वेषु प्रत्येकमन्वयाविशेषात् । अतः सर्वेषामीश्वर
एव कारणम् । तथा च पौराणिको फणितिः—

शक्त्यादि च पृथिव्यन्तं शिवतत्त्वसमुद्भवम् ।

तेनैकेन तु तद्व्याप्तं मृदा कुम्भादिकं यथा ॥

इति । क्रमसद्भावोऽपि सर्वस्य शिवतत्त्वादुत्पत्तिमभिधत्ते । अतः
सर्वकारणं ब्रह्मेति समीचीनम् ॥

६. अधिकरणम्.

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशोऽभा-

क्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १७ ॥

पूर्वत्राकाशादिशब्दवाच्यत्वं ब्रह्मणः प्रतिपादितम् । तद्वि-
विचार्यते ॥

चेतनाचेतनचराचरवस्तुसंबन्धी तद्वाचिशब्दो ब्रह्म-
मुख्यो न वा ?

इति संदेहे न मुख्य इति वदामः—अन्यवाचकशब्दस्त-
मुख्यतयाऽन्यत्र वृत्त्यभावात् । तथा हि—'आदित्यो यूषः'† यजु-
नः प्रस्तरः‡ इत्यादिषु यूपादेरादित्यादिशब्दवाच्यत्वं सार्व-
दिगुणसंबन्धादेव दृश्यते, न मुख्यत्वेन । अत्रापि 'तत् तेषां
पेक्षतः'§ इत्यादिषु तेजःप्रभृतीनामचेतनानां चेतनधर्मैक्षित्वात्

गात् तच्छब्दैस्तदाश्रितं चेतनं ब्रह्म लक्ष्यते, मञ्चाः क्रोशन्ती-
त्यादिवत् । तस्मादाकाशादिशब्दवाच्यत्वं ब्रह्मणि तदाश्रये
नौणमिति ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—चराचरवस्तुसंयन्धो तद्व्यपदेशशब्दो ब्र-
ह्मणि न भाक्तः, किंतु मुख्य एव । ‘तेषां खल्वेषां भूतानां
त्रीण्येव बीजानि भवन्ति । अण्डजं जीवजमुद्भिजमिति । से-
यं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनु-
प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि’* इति सर्वस्य वस्तुनो नामरू-
पविभागाय तत्तदात्मतया ब्रह्मणोऽनुप्रवेशभावभावितत्वात् ।
यूपादीनामादित्यादिशब्दवाच्यत्वमनुपपत्त्या न मुख्यम् । मञ्चा-
दिषु पुरुषाणामवस्थातृमात्रत्वात् तेषामपि तच्छब्दवाच्यत्वं न
मुख्यम् । इहात्मतया प्रपञ्चानुप्रवेशाद्ब्रह्मणस्तच्छब्दवाच्यत्वं
मुख्यमेव, यथाऽऽत्मनो ब्राह्मणादिशरीरानुपविष्टस्य ब्राह्मणादि-
शब्दवाच्यत्वं मुख्यम्; अन्यथा ‘अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत’
इत्यादिपूषनयनसंस्कारादेः शरीरमात्रपर्यवसानादात्मनः संस्का-
र्यत्वाभावप्रसङ्गात् । ततो ‘यस्यैते चत्वारिंशत् संस्कारा अ-
ष्टौ चात्मगुणाः स ब्रह्मणः सायुज्यम्’† इत्यादिरात्मनः संस्कारवतः
फलश्रुतिरपार्था भवेत् । ‘ब्राह्मणो यजेत’ इत्यादिविधिवैयर्थ्यं च
भवेत् । तस्मात् सकलचराचरवस्तुशरीरप्रविष्टस्य ब्रह्मणस्त-
च्छब्दवाच्यत्वं मुख्यमेव ॥

७. अधिकरणम्.

नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १८ ॥

पूर्वत्राकाशादीनां ब्रह्मणः साक्षादुत्पत्तिरभिहिता । जीवोऽपि
तन्नचायेन ब्रह्मणः समुत्पद्यते न वेति संदेहः ॥

समुत्पद्यत इति पूर्वः पक्षः । 'यदा तमस्तन्नदिक्ष
न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः'* 'एकमेवाद्विती-
यम्'† इत्यादिश्रुतेः प्राक् सृष्टेर्वह्नैकत्वावधारणात्, सदसतोर्वि-
पेधाच्च । अतः सृष्टिकाले ब्रह्मण उत्पद्यत एव जीवः । विस्फुलिङ्ग-
दृष्टान्तोऽपि जीवोत्पत्त्यनुगुणः श्रूयते 'यथाऽग्नेः शुद्रा विस्फु-
लिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवैतस्मदात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः
सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्वे एवात्मनो व्युच्चरन्ति'‡ इति ।
तस्माद्यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गा जायन्ते, तथा ब्रह्मण आत्मानो जायन्ते ।

इति पाप्ते ब्रूमः—आत्मा न जायते; 'न जायते विद्यते
वा विपश्चित्'§ इति श्रुतेः । 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतन-
नाम्'§ 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ'¶ इत्यादिश्रुतिभ्यः नित्यत्वा-
गतेश्च । सृष्टेः प्राग्ब्रह्मणोऽवधारणं तदाकृतिभूतस्य तस्य चा-
चिद्वस्तुनश्च नामरूपव्यवहाराभावात्, न जीवादिस्वरूपासत्तया ।
विस्फुलिङ्गश्रुतिश्च तेषां नामरूपसमुन्मेषाभिप्राया, न जन्मपर-
अन्यथा कृतनाशादिदोषप्रसङ्गात् । तस्माद्ब्रह्मणो न जायते
एव जीवः ॥

*श्वे. ४-१८.

†छा. ६-२.

‡बृह. ४-१-२०.

§कठ. २-१८, ५-१३.

¶श्वे. १-९.

८. अधिकरणम्.

ज्ञोऽत एव ॥ ११ ॥

पूर्वत्र नित्यतया जीवः सिद्धः । पुनरत्रास्य स्वाभाविकं ज्ञानमस्ति न वेति सन्दिह्यते ॥

एवं सति पूर्वपक्षः—जीवस्य स्वाभाविकं ज्ञानधर्मित्वं नास्तीति । 'ज्ञाज्ञौ द्वौ'* इति जीवस्याज्ञत्वमेव हि श्रूयते । तस्मादज्ञ एवासौ चैतन्यमात्ररूपः, किंतु मायाशक्त्यवच्छेदादवाप्तशरीरकरणादिरयं घटोऽयं पटोऽयं मनुष्योऽहं देवोऽहमिति कल्पिताहंकारबद्धः संसरतीति संसारदशायां ज्ञानात् जीवस्य स्वतो ज्ञातृत्वं नात्स्येव, अन्यथाऽस्य कुतो मुक्तिरिति ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—ज्ञातैवायमात्मा । 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा...मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके'† 'मनोऽस्य दैवं चक्षुः'‡ इत्यादिश्रुतेर्धर्मभूतं ज्ञानमेवास्य मनः । अतः स्वत एवायं ज्ञाता । यदुक्तं मायाशक्तिसंबन्धात् संसारदशायां ज्ञातृत्वमस्येति, तत्सत्यम् । मायाशक्तिकवलितस्वाभाविकज्ञानशक्तिविलासोऽयं प्राकृतमनःसंबन्धात् भोक्ता सुखदुःखयोर्ज्ञाता शरीराहंकारमात्रविश्रान्तः संसरति हि जीवः । यदा पुनरस्य ब्रह्मज्ञानोपासनाभ्यासात् मलत्रयसंबन्धोऽपैति, तदाऽसौ ब्रह्मसदृशोऽभिव्यक्तनैजनिरतिशयज्ञानधर्मो मुक्त इत्युच्यते ॥

किंच—'प्राणारामं मनआनन्दम्'§ इति ब्रह्मणो निरतिशयात्मानन्दविषयं मनः स्वाभाविकं करणमवगम्यते । तत्सह-

शगुणत्वादपगतसंसारस्य जीवस्य स्वरूपानन्दानुभवसाधनं मनोरूपमन्तःकरणमनपेक्षितबाह्यकरणमस्तीति गम्यते । 'ज्ञाज्ञौ' इति जीवस्याज्ञत्वं किञ्चिज्ज्ञत्वमेव । असंसारिणः परमेश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वमुच्यते । अतः संसारे किञ्चिज्ज्ञत्वं मुक्तौ सर्वज्ञत्वमिति ज्ञातैवात्मा ॥

१. अधिकरणम्.

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ २० ॥

पूर्वत्र ज्ञातृत्वेन सिद्धस्यात्मन उत्क्रान्त्यादिदर्शनात् अणुत्वमवगम्यते । तद्युज्यते न वेति संदेहः ॥

नास्याणुत्वमुपपद्यते । 'स वा एष महानज आत्मा' इति जीवस्य विभुत्वावगमात् 'अहं विश्वं भुवनमभ्यभवम्' इति तस्य व्याप्त्या सकलभुवनाभिभावित्वावगमाच्च सर्वथाऽयमात्मा विभुः ॥

इति प्राप्ते निरूप्यते—अणुरेवायमात्मा, उत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रुतेः । 'तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति'† इति ह्युत्क्रान्तिः श्रूयते । 'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते गच्छन्ति'§ इति गतिः । 'तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे'‡ इत्यागतिः । विभुत्वे जीवस्यैता उत्क्रान्तिगत्यागतयो नोपपद्येरन् ॥

यद्यपि शरीरवियोगरूपोत्क्रान्तिर्विभुत्वेऽप्यात्मनः स्यात् तथाऽपि गत्यागती नैवमित्याह—

* श्वे. १-९.

† बृह. ६-४.

‡ तै. ३-१०.

§ कौ. १-२.

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २१ ॥

उत्तरयोर्गत्यागत्योः स्वात्मनैव संपाद्यत्वादणुरयमात्मा । यदुक्तं 'महानज आत्मा'* इति तदीश्वरप्रकरणान्नैतद्विषयमिति वक्ष्यति । व्याप्त्या विश्वभुवनाभिभावित्वं यदुक्तं, तत्तु मलतिरोधानापगमप्रकटितशक्तिमरीचिव्याप्तमुक्तजीवविषयम् । तस्मादणुरेवात्मा ॥

आशङ्क्य परिहरति—

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २२ ॥

'स वा एष महानज आत्मा'* इति श्रुतेर्नाणुर्जीव इति चेत्—न, 'यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा'* इति परमेश्वराधिकारात् ॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥ २३ ॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो

यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश ॥†

इति श्रुतावणुशब्दात्, 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः'‡ इत्युन्मानाच्च अणुरात्मा । अणुसदृशं वस्तूदाहृत्य तन्मानत्वप्रदर्शनमुन्मानम् ॥

अणुत्वेऽस्य सकलदेहव्यापिवेदनानुभवः कुत इत्यत आह—

अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २४ ॥

यथा चन्दनबिन्दुरेकदेशस्थोऽपि सकलदेहव्यापि सुखं जनयति, तद्वदविरोधः ॥

पुनराशङ्क्य परिहरति—

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्
दि हि ॥ २५ ॥

देशविशेषस्थितिश्चन्दनस्यास्तीति चेत्—न, आत्मनोऽपि
तदभ्युपगमात्, 'हृदि ह्येष आत्मा'* 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु
हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः'† इति श्रुतेः । इति मतान्तरम् ॥

स्वमतमाह—

गुणाद्वाऽऽलोकवत् ॥ २६ ॥

आत्मा स्वगुणेन ज्ञानेन सकलदेहं व्याप्यानुभवति । य-
था मणिः स्वकीयेन तेजसा सन्निहितं व्याप्य प्रकाशयति ।
तस्मादविरोधः ॥

ज्ञानात्मनोर्व्यतिरेको नास्तीत्यत्राह—

व्यतिरेको गन्धवत् तथा हि दर्शयति ॥

गन्धवती पृथिवीतिवत्, जानामीति गुणत्वेनोपलभ्ये-
र्ज्ञानात्मनोः व्यतिरेकोऽस्ति । दर्शयति च श्रुतिर्व्यतिरेकं
'जानालेवायं पुरुषः'‡ इति ॥

पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

आत्मनः पृथगुपदिश्यते ज्ञानम् । 'न, विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरि-
लोपो विद्यते'§ इति ॥

एवं नित्यज्ञानगुणक आत्मा सिद्धः । एवं ज्ञानगुणकत्वेऽ-
 व्यात्मनः कथं ज्ञानमात्रत्वव्यपदेश इत्यत आह—

तद्गुणसारत्वाच्च तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥

ज्ञानगुणसारत्वादात्मनो ज्ञानव्यपदेशः, न ज्ञानमात्रत्वात् ।
 यथा प्राज्ञस्य विपश्चितोऽपि सत्यं ज्ञानमिति । ततो ज्ञा-
 नमात्रत्वव्यपदेशे दोषो न भवत्यात्मन इति ॥

पुनरुपपत्तिमाह—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥

आत्मस्वरूपानुबन्धित्वात् ज्ञानस्य, तेन व्यपदेशे न दोषः ।
 स्वरूपानुबन्धिधर्मत्वेन गोत्वादिना खण्डादेर्गौरित्यादिव्यपदेशो
 दृश्यते । अतः स्वरूपानुबन्धित्वाज्ज्ञानधर्मस्य तद्व्यपदेशः ॥

सुषुप्त्यादिष्वसतो ज्ञानस्य यावदात्मभावित्वं कथमित्यत
 आह—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥

सुषुप्त्यादिषु सतो ज्ञानस्यानभिव्यक्तस्यापि जागरितादाव-
 भिव्यक्तिसंभवात् स्वरूपानुबन्ध्येव ज्ञानम्, यथा पुंस्त्वा-
 साधारणसप्तमधातोर्बाल्येऽपि सतो युवत्वेऽभिव्यक्तिः । ततो
 ज्ञानस्यात्मस्वरूपानुबन्धित्वे न दोषः ॥

आत्मनो ज्ञानतृत्वाणुत्वप्रतिपादनप्रयोजनमाह—

नित्योप^लब्ध्वनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो
 वाऽन्यथा ॥ ३२ ॥

अन्यथा ज्ञप्तिमात्रसर्वगतात्मपक्षे तावन्नित्यत्वात् सर्वदोष-
लब्धिः स्यात्, संकोचाभावात्, विद्यमानाया अनुपलब्धेर-
स एव हेतुरिति साऽपि सर्वदा स्यात् । आगन्तुकज्ञानसर्व-
तात्मपक्षेऽपि स एव दोषः, सर्वात्मनां सर्वगतत्वेन ज्ञानहेतु-
मनस्संयोगादीनां सर्वसाधारणत्वात् । अदृष्टहेतूनामपि तथा-
त्वात् तेनापि न नियमः । अथोपलब्द्धचनुपलब्ध्योर्विरोधादुपलब्धे-
रेव हेतवः स्युः, अनुपलब्धेरेव वा । तथा सति अन्य-
नियमः स्यात् । अतः पूर्वोक्तमेव समीचीनम् ॥

१०. अधिकरणम्.

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥

ज्ञातृत्वमणुत्वं च निरूपितमात्मनः । कर्तृत्वमस्ति न
वेति संदेहः । कूटस्थस्यात्मनः कर्तृत्वं न संभवति । बुद्धेः
कर्तृत्वमुचितं, प्रकृतेर्वा । तदध्यासात् स्वस्मिन्नारोप्य कर्तृ-
प्रतिभाति । तस्मादात्मनः कर्तृत्वमनुपपन्नमिति पूर्वः पक्षः ।

सिद्धान्तस्तु—आत्मा कर्तैव, शास्त्रार्थवत्त्वात् । अन्य-
कुर्यान्न कुर्यादिति शास्त्रस्य वैयर्थ्यं स्यात् ॥

उपादानाद्विहारोपदेशाच्च ॥ ३४ ॥

‘एवमेवैष एतान् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं
परिवर्तते’* इत्युपादानविहारोपदेशाभ्यां चायं कर्तैव ॥

यदुक्तं बुद्धिप्रकृत्योरेव कर्तृत्वमिति तत्र बुद्धेः कर्तृ-
पक्षं दूषयति—

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥

‘विज्ञानं यज्ञं तनुते’* इत्यादिना यज्ञादौ कर्तृत्वव्यपदेशाच्चालैव कर्ता । विज्ञानशब्देन बुद्धेः व्यपदेशः, नात्मन इति चेत्-
न, तथा सति ‘विज्ञानेन’ इति निर्देशविपर्ययः स्यात् । अ-
न्यत्र हि बुद्धिविवक्षायां विज्ञानशब्दस्य करणविभक्तिनि-
र्देशो दृश्यते ‘तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय’†
इति । अतो बुद्धेः करणत्वात् कर्तृत्वं नास्तीति ॥

प्रकृतेः कर्तृत्वपक्षं दूषयति—

उपलब्धिवदनियमः ॥ ३६ ॥

प्रकृतेः कर्तृत्वे तस्याः सर्वसाधारणत्वेन पूर्वोक्तोपलब्ध-
नियमवत् फलानियमः स्यात् ॥

शक्तिविपर्ययात् ॥ ३७ ॥

प्रकृतेः कर्तृत्वे कर्तुरेव भोक्तृत्वमिति सैव भोक्त्री
स्यात् । ततश्चात्मनो भोक्तृत्वशक्तेर्विपर्ययो हानिः स्यात् ॥

समाध्यभावाच्च ॥ ३८ ॥

किंच—प्रकृतेरेव कर्तृत्वे प्रकृतेरन्योऽस्मीति समाध्यभाव-
प्रसङ्गाच्च कर्ताऽऽत्मा ॥

यथा च तक्षोभयथा ॥ ३९ ॥

आत्मनः कर्तृत्वे इच्छायां करोति अन्यदा न करोत्या-
त्मेति व्यवस्था, यथा तक्षा स्वकार्ये तथेति । बुद्धेरेवाच्छा-

संभवान्नाव्यवस्थेति चेत्—न, चेतनधर्मत्वादिच्छायाः । तस्मात्
दात्मनः कर्तृत्वं, न बुद्धेर्नापि ^{प्रवृत्ते} रिति निर्णयः ॥

११. अधिकरणम्.

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४० ॥

ज्ञातृत्वं कर्तृत्वं च प्रतिपादितमात्मनः । तत् कर्तृत्वं स्वा-
यत्तमीश्वरायत्तं वेति संदेहः ॥

स्वायत्तमिति प्राप्तम् । अन्यथा कर्मस्विष्टानिष्टरूपेषु व्याप-
रयन् जीवमीश्वरो वैषम्यादिदोषभाजनं स्यात् । किंच—जीव-
स्य प्रवृत्तेरीश्वरायत्तत्वे तस्य कर्तृत्वाभावाद्विधिप्रतिषेधवैयर्थ्य-
स्यात् । तस्माज्जीवस्य स्वायत्ता प्रवृत्तिः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वरायत्तमेव जीवस्य कर्तृत्वं,
स्वायत्तम्, 'य आत्मानमन्तरो यमयति'* इति श्रुतेः ॥

यदुक्तमीश्वरस्य जीवं प्रवर्तयतो वैषम्यादिकम्, नत-
च विधिप्रतिषेधवैयर्थ्यमिति, तत्राह—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्या-
दिभ्यः ॥ ४१ ॥

जीवः स्वेच्छया प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुं करोति स्वकर्मणा-
वशेन, जीवकृतप्रयत्नं प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुमवेक्ष्य तदनुमतिर्वा-
परः प्रवर्तयतीति विधिनिषेधावैयर्थ्यनिग्रहानुग्रहादिभ्योऽप्रा-
प्तम् ॥

म्यते । यथा गुरुतरदावीदिहरणं बालः प्रबलसहायः कुर्वन्नपि स्वप्रयत्ने विधिनिषेधयोग्यो भवति, एवं जीवः परमेश्वरसहायः प्रवर्तमानोऽपि स्वयं विधिनिषेधयोग्यो भवति । अतो जीवकृतप्रयत्नापेक्षत्वात् कर्मसु जीवस्य प्रवर्तक ईश्वरो न वैषम्यभाक्, तस्यापि स्वाधीनप्रवृत्तिसद्भावात् । विधिनिषेधादिवैयर्थ्यं च न संभवतीति सिद्धम् ॥

१२. अधिकरणम्.

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाश-
कितवादित्वमधीयत एके ॥ ४२ ॥

नित्यो ज्ञाताऽणुः कर्ता परमेश्वरसाहाय्यापेक्षप्रवृत्तिर्जीव इति पूर्वत्र निरूपितम् । स इह परमेश्वर एव? किं वा तदंशभूतः? ॥

इति संशये परमेश्वर इति पूर्वः पक्षः । परमेश्वर एव बहुविधोपाधिवशाज्जीवभावमुपगतो दृश्यते, यथैकमाकाशं घटाद्युपाधिवशान्नाकाशं दृश्यते परिच्छिन्नं च । तथा हि श्रुतिः—‘अयमात्मा ब्रह्म’* इति वदति । तस्मादीश्वर एवाज्ञानाज्जीवभावमुपगत इति ॥

सिद्धान्तस्तु—जीवात्मा परमेश्वरस्यांशो मूल्येकदेश एव । ‘अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि’† ‘य आत्मनि तिष्ठन्’ ‡ ‘पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा’§

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतेन व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥*

इत्यादिषु नानाव्यपदेशात् । यदुक्तं 'अयमात्मा ब्रह्म'† इत्यादिना ब्रह्मण एव जीवत्वमिति, तत्राह—अन्यथा 'तत् तमसि'‡ 'अयमात्मा ब्रह्म'† इत्यादिकाद्व्यपदेशात् तयोर्जीवब्रह्मणोर्व्याप्यव्यापकभावेनानन्यत्वम् । अपि च तथैवानन्यत्वमधीक्ष्य एके—'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मेमे कितवा उत' इत्यादिना ब्रह्मणोऽशत्वेऽपि जीवस्य तद्व्याप्ततया तद्व्यपदेशो युक्तः, यथा वह्निना व्याप्तस्य काष्ठादेर्वह्निव्यपदेशः । तथाऽपि हि तयोर्व्याप्यव्यापकयोर्नाभेदः । तस्माज्जीवो ब्रह्मणोऽशभूत एव तत्त्वज्ञानं प्रतिपद्यते । ब्रह्मण एवाज्ञानाज्जीवभावकल्पने बहुश्रुतिविरोधादिदोषप्रसक्तिर्दुर्वारा ॥

मन्त्रवर्णात् ॥ ४३ ॥

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'§ इति मन्त्रवर्णाच्च ब्रह्मणोऽश एव जीवः ।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतेन व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥*

इति श्रुतिः प्रकृतित्वं मायायास्तद्विशिष्टत्वं महेश्वरस्य तदवयवभूतत्वं सर्वस्य जगतः प्रकटयति । ततो मायिनः महेश्वरस्यावयवत्वलेखः पुरुषः ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ४४ ॥

आत्मा तस्याष्टमी मूर्तिः शिवस्य परमात्मनः ।

व्यापिकेतरमूर्तीनां विश्वं तस्माच्छिवात्मकम् ॥

इति स्मरणाच्च शिवस्य मूर्त्येकदेश आत्मा ॥

प्रकाशादिवत्तु नैवंपरः ॥ ४५ ॥

ब्रह्मणोऽशत्वेऽपि जीवस्य जीवो यत्स्वरूपो यत्स्वभावश्च नैवं परमेश्वरः, किंतु सर्वज्ञत्वादियुक्त एव । कथम्? प्रकाशादिवत् । प्रकाशविशिष्टानां मणिप्रभृतीनां प्रकाशो विशिष्टैकदेशो यथाऽशः तद्वज्जीवशरीरतया जीवविशिष्टस्य ब्रह्मणोऽशो जीवः । आदिशब्दाद्विशेषणतैकस्वभावा जातिगुणादयो गृह्यन्ते । विशेषणानां विशिष्टैकदेशतया तदंशत्वेऽपि स्वरूपभेदो न सिद्धः, 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतेः ॥

स्मरन्ति च ॥ ४६ ॥

विग्रहं देवदेवस्य जगदेतच्चराचरम् ।

एतमर्थं न जानन्ति पशवः पाशगौरवात् ॥

इत्यादि । ततो ब्रह्मणोऽश एव जीवः । तद्विशिष्टतया स्वरूपभेदश्च सिद्धः ॥

अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धाज्ज्योतिरादिवत्

सर्वेषां जीवानां ब्रह्मांशत्वेऽपि कथं कस्यचिद्वेदादिष्वनुज्ञा, कस्यचित् परिहार इति चेत्—ब्राह्मणदेहादिसंबन्धात् तदुपपत्तिः, यथाऽग्नाद्यदेः श्रोत्रियागारश्मशानादिसंबन्धात्तद्वत् ॥

असंततेश्चाव्यतिरेकः ॥ ४७ ॥

असंततिरव्याप्तिः । प्रतिशरीरं भिन्नत्वात् तत्रतत्राणुत्वे
 नावच्छिन्नत्वादसंततेरव्याप्त्या च स्थूलोऽहं कृशोऽहं सुख्यहं दुः-
 ख्यहं ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहमिति देहाभिमानिनां ज्ञानसुखाद्य-
 व्यतिरेको भवति । किमुक्तं भवति ? देहाभिमानिनां व्या-
 प्त्यभावस्य समानत्वात् परिच्छिन्नज्ञानसुखादिकं सांसारिकं एक-
 प्रकारकमेवासंकीर्णं भवतीति । अनेन परब्रह्मज्ञानविशेषेण विगच्छित-
 देहाभिमानानां महाव्याप्त्या पराहंभावमुपगतानां मुक्तात्मनो
 निरतिशयत्वेन नित्यत्वेन च ज्ञानादीनां स्वाभाविकानां सांसा-
 रिकज्ञानादितो व्यतिरेक इति सिद्धम् ॥

अज्ञानोपाधिभ्यां ब्रह्मैव संबध्यत इति यदुक्तं, तत्र न
 व्यवस्थेत्याह—

आभास एव च ॥ ४९ ॥

सत्यमिथ्योपाधिभ्यां बद्धस्य ब्रह्मण एव जीवभाव इति
 पक्षद्वयेऽपि युक्तय आभासा एव ॥

तथा हि—

अदृष्टानियमात् ॥ ५० ॥

सत्यमिथ्योपाधिकृतत्वे ह्यात्मनां ब्रह्मण एवाज्ञानमुपाधिभेदे
 तत्कृतेनादृष्टेनापि न नियमः ॥

किंच—

अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ॥ ५१ ॥

अदृष्टहेतुभूताभिसंध्यादिषु चैवमेव नियमाभावः ॥

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ ५२ ॥

उपाधिसंवन्धिब्रह्मप्रदेशभेदात् व्यवस्थेति चेत्—न, उपाधिषु
गच्छत्सु सर्वप्रदेशानां तदन्तर्भावात् । तस्मात् सत्यमिथ्योपा-
धिपरिच्छिन्नब्रह्मजीवत्वपक्षद्वयेऽपि न व्यवस्था संभवति । ततो
ब्रह्मणोऽशभूतो जीवस्तद्विशेषणैकस्वभाव इति युक्तमेव ॥

इति श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचिते ब्रह्ममीमांसाभाष्ये
द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः.

अथ द्वितीये चतुर्थः पादः.

१. अधिकरणम्.

तथा प्राणाः ॥ १ ॥

पूर्वत्र भूतानि ब्रह्मण उत्पद्यत इति निरूपितम्, जीवो
नित्य इति । इह भूतानामिवेन्द्रियाणां ब्रह्मण उत्पत्तिः, उत
जीववन्नित्यत्वमिति विचार्यते । यथा नित्यत्वान्न जीवः समु-
त्पद्यते तथेन्द्रियाण्यपि, जीववदमीषामपि नित्यत्वे श्रुतिसं-
भवात् । तथा हि, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' * 'ऋषयो चाव ते
अग्रे सदासन् । तदाहुः । के ते ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः' †
इति प्रलयकाले प्राणानां स्थितिरास्मायते । प्राणास्ततो ब्रह्म-
णो नोत्पद्यन्ते ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—

गौण्यसंभवात् तत्प्राक् श्रुतेश्च ॥ २ ॥

न प्राणानां सृष्टेः प्रागवस्थितिः, किंतु परमेश्वरस्यैव
'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'* इति श्रुतेः । ऋषिशब्दः प्रा-
णशब्दश्च परमेश्वर एव वर्तते । तस्य बहुत्वासंभवात् बहु-
वचनश्रुतिस्तत्र गौणी । ततो ब्रह्मण एव प्रागवस्थितिनैन्द्रि-
याणाम् ॥

युक्त्यन्तरमाह—

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ३ ॥

परमेश्वरसृष्टिपूर्वकत्वादितरेषां नामरूपयोगस्य । तदानीं
प्राणशब्दो नेन्द्रियविषयः । ततो ब्रह्मैव पूर्वभावि ॥

२. अधिकरणम्.

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ४ ॥

पूर्वत्र ब्रह्मकार्यतया सिद्धानीन्द्रियाणि कियत्संख्यानीति
संदेहे सप्तेति पूर्वः पक्षः । कुतः ?

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ॥†

इति सप्तानामेवावगतेः, 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति'‡ इत्यादिश्रुते
सप्तेति विशेषितत्वाच्च ॥

इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ५ ॥

न सप्तैवेन्द्रियाणि । हस्तादयोऽपीन्द्रियाणि, जीवे देहा-
न्तःस्थिते उपकरणत्वाविशेषात् । अपि त्वेकादश । 'दशमे पुरु-
षे प्राणा आत्मैकादशः'* 'इन्द्रियाणि दशैकं च'† इति श्रुति-
स्मृतिम्याम् । बुद्ध्यादीनां न पृथगिन्द्रियत्वम्, किंतु ते मनो-
वृत्तिभेदा एव । सप्तानां गतिश्रवणं विशेषणं च तेषां प्राधा-
न्यात् । अतो न सप्तेन्द्रियाणि, किं त्वेकादश ॥

३. अधिकरणम्.

अणवश्च ॥ ६ ॥

तानीन्द्रियाणि विभूनि किमणूनीति संदेहे चक्षुरादीनां दू-
रगतवस्तुग्रहणसामर्थ्याद्विभूनीति प्राप्तेऽणूनीत्युच्यन्ते—कथम् ?
'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति'‡ इति श्रवणात् । न वि-
भूनि । विभुत्वे हि तेषां न गतिः संभवति । चक्षुरादेर्दूरगतवस्तुग्रह-
णसामर्थ्यं न विभुत्वेन, किंतु तेजोरूपत्वादणुत्वाच्च शीघ्रगामि-
त्वात् । तस्मादिन्द्रियाण्यणून्येव ॥

४. अधिकरणम्.

श्रेष्ठश्च ॥ ७ ॥

'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति'‡ इति सर्वप्रा-
णश्रेष्ठतया श्रूयमाणः पञ्चवृत्त्यात्मा प्राणवायुर्ब्रह्मण उत्पद्यते ?
न वा ? ॥

इति संशये न जायते प्राणवायुः, नासदासीये सूक्ते 'आनीद-
वातम्'* इति सृष्टेः प्रागपि प्राणचेष्टाश्रवणात् ॥

इति प्राप्ते वदामः—प्राणवायुरपि जायत एव । आनीच्छ-
ब्दो न प्राणव्यापारं वक्ति, अवातमिति तन्निषेधात् । किं
ब्रह्मसत्त्वमेव ब्रूते । अतो न प्राणानादित्वं संभवति ॥

भवति त्वयं प्राणवायुरुत्पत्तिमान् । स तु 'सामान्य-
करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च'† इति तन्त्रान्तरोक्तरीत्येन्द्रि-
यवृत्तिभ्यः 'योऽयं प्राणः स वायुः'‡ इति श्रुत्या भूतवायो-
र्वा न पृथग्भूत इत्यत आह—

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ८ ॥

पञ्चवृत्तिः प्राणोऽयं न वायुः । न चेन्द्रियवृत्तिः,

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥§

इति श्रुत्या पृथगुपदेशात् । ततो वायुरेन्द्रियवृत्तिभ्यश्चान्न
एव प्राणः ॥

वायोरन्यत्वेऽपि न तस्य भूतान्तरत्वमित्याह—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥ ९ ॥

वायोः पृथग्भूतोऽप्ययं नाग्न्यादिवत् भूतान्तरम्, किं
वायुरेव देहधारणयोग्यतामापद्यते स्वयं परमेश्वराधारः । *
तां सन् प्रियमाणो विभर्ति । एको देवो बहुधा निविष्टः†
'त्वमेकोऽसि बहून्ननुप्रविष्टः'‡ 'प्राणानां ग्रन्थिरसि रुद्रो मा ति-

* तै. ब्रा. २-८-९.

† साङ्ख्यका. २९.

‡ मृद. ५-१-५.

§ मु. २-१-३.

¶ तै. आ. ३. १४.

शान्तकः* इत्यादिश्रुतेः । किंच—अयं चक्षुरादिवजीवोप-
करणम्, प्राणसंवादादिषु चक्षुरादिभिः सहोपदेशात् तत्तुल्यो-
पकारमुच्यत्वादिभ्यश्च ॥

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥

अकरणमक्रिया । न जीवोपकारक्रियाराहितत्वात् दोषः ।
यतः श्रुतिरेव देहेन्द्रियाद्यशैथिल्यकरणं वायुरिति दर्शयति
प्राणसंवादे 'यस्मिन्नुत्क्रान्ते इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते
स वः श्रेष्ठः†' इति प्रजापतिवचनानन्तरं, वागाद्युत्क्रमणेऽपि
देहस्येन्द्रियाणां च स्थितिं दर्शयित्वा प्राणोत्क्रमणे देहे-
न्द्रियशैथिल्याभिधानात् ॥

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥ ११ ॥

प्राण एक एव स्ववृत्तिभिः पञ्चभिः प्राणापानादिसंज्ञामेदमा-
मवति, यथा कामादिभिर्मन एकमेव । अतः प्राण एक एव
मूतवाय्विन्द्रियवृत्तिव्यतिरिक्तो जीवोपकारक इति सिद्धम् ॥

५. अधिकरणम्.

अणुश्च ॥ १२ ॥

पञ्चवृत्तिरयं प्राणवायुरिन्द्रियवदणुर्विभुर्वेति संदेहे सति ना-
णुरयम् । 'समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम
पमिस्त्रिमिलोकैः समोऽनेन सर्वेण†' 'प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्'§

*महाना. ३५.

†छा. ५-१-७.

‡बृह. ३-३-२२.

§प्रश्न. २-६.

‘सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्’ इति श्रुतेः सर्वाधारकतया व्यापी प्राणः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—अणुरेवं प्राणवायुः, ‘प्राणमनूत्कामन्तम्’* इति तस्य गतिश्रवणात् । आधिदैविकस्य हिरण्यगर्भ-प्राणस्य समष्टिरूपस्य विभुत्वं, न व्यष्टिरूपस्येति न विरोधः । तस्मादणुरेव प्राणः पञ्चवृत्तिरिति ॥

६. अधिकरणम्.

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् प्राण-
वता शब्दात् ॥ १३ ॥

इह ‘आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्’† इत्यादिश्रुत्या चक्षुरादीनामादित्याद्यधिष्ठानं श्रूयते । जीवस्य च रूपादिग्रहणत् तदधिष्ठानमुपदिश्यते ‘एवमेवैष एतान् प्राणान् गृहीत्वा स्ते शरीरे यथाकामं परिवर्तते’‡ इति । तदिदं जीवेन सहेन्द्रिय-धिष्ठानमादित्यादीनां परमेश्वरायत्तमुत स्वतन्त्रम् ॥

इति संशये ‘आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्’† इत्यदिषु स्वातन्त्र्यश्रवणादादित्याद्यधिष्ठानं न परमेश्वरायत्तमिति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु—परमेश्वरायत्तमिन्द्रियाद्यधिष्ठानमादित्यादीनाम् । कुतः ? ‘य आदित्यमन्तरो यमयति’§ ‘य आत्मानमन्तरो यमयति’§ इत्यादिश्रवणात्, परमेश्वरसंकल्पपूर्वकत्वाच्च सर्वत्र

* बृह. ६-४-२. † ऐ. १-२-३. ‡ बृ. उ. ४-१-१८. § बृह. ५-४-५.

वृत्तीनाम् । तस्मादिन्द्रियाद्यधिष्ठानं जीवस्यादित्यादीनां च परमेश्वरायत्तमेव ॥

तस्य च नित्यत्वात् ॥ १४ ॥

सर्वस्य च परमेश्वरनियम्यत्वं नित्यमेव । अतोऽपि परमेश्वरसंकल्पायत्तमेवैषामधिष्ठातृत्वम् ॥

७. अधिकरणम्.

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥

इह पूर्वोक्तानि वागादीनीन्द्रियाणि प्राणवृत्तिभ्यो भिन्नानि न वा ॥

इति संशये तानि मुख्यप्राणवृत्तय एव, 'एतस्यैव सर्वे रूपमवन्'* इत्यादिना तेषां प्राणरूपत्वश्रवणात्, वागादीनामुपरमरूपे मरणे प्राणो गत इति व्यवहारसामान्याच्च । तस्मात् प्राणादनन्यानीन्द्रियाणि ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—मुख्यप्राणादन्यान्येवेन्द्रियाणि, श्रेष्ठादन्ये ये प्राणास्त इन्द्रियाणीति चक्षुरादिष्वेव 'इन्द्रियाणि दशैकं च'† इत्यादिष्विन्द्रियव्यपदेशात् ॥

भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च ॥ १६ ॥

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'‡ इति प्राणेन्द्रियाणां भेदेनोत्पत्तिः श्रूयते । इन्द्रियाद्युपरमेऽपि प्राण-

वृत्त्यनुपरमरूपं वैलक्षण्यं च दृश्यते । अतोऽपि प्राणवृत्ति-
भ्यो मिश्रानीन्द्रियाणीति ॥

८. अधिकरणम्.

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्॥

पूर्वमाकाशादीनां भूतानां सह सदाशिवादिभिरधिष्ठातृभिः
परमेश्वरादुत्पत्तिरभिहिता । तदेवं तेषु जातेषु ततो देवानां
नामरूपादिक्लृप्तिस्तस्मादेव मूलकारणात् उत्तान्यस्मादिति संदेशः

एवं सति 'तत् तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति । त-
दपोऽसृजत'* इति श्रुतेस्तेजोऽभिमानी रुद्रोऽपः सृजति, तासु
च स्ववीर्यं क्षिपति, तासु सत्त्वसाहितो विष्णुरभिवर्तते इति ।
'आपो नारा नरो रुद्रः' इति श्रुतिदर्शनाद्रुद्रसंभूतासत्त्वायत्त-
त्वेन विष्णोर्नारायणसंज्ञता । 'ता आप ऐक्षन्त...ता अन्नमसृजन्त'
इति श्रुतेस्तदभिमानी नारायणोऽन्नशब्दवाच्यां पृथिवीमुत्पाद-
यति । तत्र पृथिवीतत्त्वरूपे अण्डे हिरण्यगर्भः संवर्तते । तथा हि
श्रूयते—'अण्डं हिरण्यमयं मध्येसमुद्रं रुद्रस्य वीर्यात् प्रथमं सं-
भूव । तस्मिन् ब्रह्मा विष्णुर्जातो जातवेदाः' इति ॥

अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत् ।

तदण्डमभवद्भैरवं सहस्रांशुसमप्रभम् ॥

तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ॥

अयनं तस्य ता यस्मात् ततो नारायणः स्मृतः ।

नारायणः परोऽव्यक्तोऽव्यक्तादण्डसमुद्भवः ॥

अण्डस्यान्तस्त्वमे लोकास्सप्तद्वीपा च मेदिनी ।*

इति मनुस्मृतिः । पुराणं च—

रुद्रसंज्ञस्य देवस्य रूपे मूर्तिः प्रजायते ।

तेन क्षिप्तं रसे वीर्यं परं मूर्त्यभिमानिना ॥

तदण्डमभवद्वीर्यं सहस्रकिरणप्रभम् ।

विष्णुस्तत् प्राविशत् साक्षान्मम शक्तेस्तु वैभवात् ॥

पुनर्नारायणाख्यां मे नियोगात् प्राप्तवानसौ ।

इमं चोदाहरन्त्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति ॥

आपः सूक्ष्मो रसो ज्ञेयो रसो नारः प्रकीर्तितः ।

नरजातस्ततो ब्रह्मा नरः साक्षाच्छिवः स्मृतः ॥

नारमस्यायनं प्रोक्तं तेन नारायणः स्मृतः ।

ब्रह्मापि नरशार्दूल गन्धमूर्तिं समाविशत् ॥

इत्यादि । एवं च 'वेदेन रूपे व्यकरोत् । सतासती प्रजा-
पतिः'† इत्यादिश्रुतेः अण्डान्तर्वर्ती हिरण्यगर्भो वा । 'अद्भ्यः
संभूतः पृथिव्यै रसाच्च'‡ इत्यादिश्रुतेर्नारायणो वा देवादीनाम-
ण्डान्तर्वर्तिनां नामरूपकर्ता भवितुमर्हति, न ब्रह्माण्डादेरुत्तीर्णः
परमेश्वर इति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु—न युक्तः प्रतिपादितसृष्टिक्रमः । किंतु 'सदे-
व सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्...तदैक्षत बहु स्यां प्रजाये-
येति तत्तेजोऽसृजत'§ इत्यादिश्रुतेः सच्छब्दवाच्यं ब्रह्मैव पञ्चभू-
तकारणम् । तेजःप्राथम्यं परिहृतम् । ततश्चाकाशादि पृथिव्य-
न्तं सदाशिवादिसंज्ञया पूर्वपूर्वकारणरूपं ब्रह्म उत्तरोत्तरं का-
र्यं सृजतीति, 'तदैक्षत...तत् तेज पेक्षत...ता आप पेक्षन्त'§ इति

*मनु. १.८-११. †तै. ब्रा. २-६-२. ‡तै. आ. ३-१३. §छा. ६-२.

श्रुत्याऽवगम्यते । 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्म-
नाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति तासां त्रिवृतं त्रिवृ-
तमेकैकां करवाणि'* इति त्रिवृत्कुर्वत एव परमेश्वरस्य वाय्वा-
दिरूपस्य तिस्रो देवतास्तेजोऽवन्नात्मिकाः ब्रह्माविष्णुरुद्ररूपजी-
वात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपकलृप्तिरवगम्यते । अतस्त्रिवृत्कुर्वत एव
चतुर्मुखाद्यात्मनः सकलनामरूपकलृप्तिरिति युक्तम् । त्रिवृत्कारणं
तु केवलं चतुर्मुखस्य न संभवति । त्रिवृत्कृतैर्हि तेजोऽप्यै-
ण्डमुत्पद्यते । तत्र पश्चाच्चतुर्मुखसृष्टिः, 'अण्डं हिरण्यं मण्ये-
समुद्रं रुद्रस्य वीर्यात् प्रथमं संवभूव, तत्र ब्रह्मा विष्णुर्जातो
जातवेदाः' इति श्रुतेः ॥

ननु त्रिवृत्करणस्य केवलं चतुर्मुखकर्तृत्वं संभवति । अण-
सृष्ट्युत्तरकालं चतुर्मुखसृष्ट्यजीवेषु त्रिवृत्करणप्रकार उपदिश्यते
'यथा खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रि-
देकैका भवति तन्मे विजानीहीति अन्नमशितं त्रेधा वि-
धीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति यो मत्त-
मस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः'† इत्यादिना इत्याशङ्क्य पारहरति-

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥१८॥

'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते'† इत्यादौ प्राङ्गिरूपितात् त्रि-
वृत्करणादर्थान्तरभूत एवाण्डान्तर्वर्तिपुरुषोपभुक्तान्नादीनां परिण-
मप्रकार उच्यते, न तु त्रिवृत्करणम् । अन्यथा हि मांसमन्-
सोः पुरीषादणीयस्त्वेनाप्यतैजसत्वप्रसङ्गः । तथा सति 'अ-
न्नमशितं त्रेधा'† इति भूमेरेव त्रैविध्योपक्रमः 'अन्नमयं हि स्तो-
म्य मनः'† इति मनसो भौमत्वं च विरुध्येत । तथेतरयोस्तै-
जसोऽत्रैविध्यं विरुध्येत । तदिदमाह—मांसादि भौमं यथाश-

नमितरयोश्चेति । पुरीषवन्मांसमनसी अपि भौमे दृष्येते । तथा
सूत्रबल्लोहितप्राणावाप्यौ, तथाऽस्थिवत् मज्जावाचौ तैजस्ये ॥

तनु पूर्वमेव त्रिवृतकृतं चेत् त्रयात्मकं यस्तु कथमन्ना-
पस्तेज इत्युच्यत इत्यत आह—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ ११ ॥

अन्नादिभूयस्त्वेन वैशेष्यादन्नवाद इति । तस्मात्त्रिवृतकुर्वतः
परमेश्वरस्य चतुर्मुखाद्यात्मना सकलनामरूपसृष्टिरिति युक्तमेव ॥

इति श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचिते ब्रह्ममीमांसाभाष्ये
द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः
समाप्तश्च द्वितीयोऽध्यायः.

अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः

१. अधिकरणम्.

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्न-
निरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥

अतीते अध्याये प्रथमाध्यायसिद्धस्य ब्रह्मकारणवादसमन्व-
यस्य विरोधः परिहृतः । तथा हि—प्रथमे पादे सांख्यादितर्क-
विरोधः परिहृतः । द्वितीये प्रधानकारणवादादिषु तर्कविरोधः
प्रदर्शितः । तृतीये भूतसृष्टयवान्तरविरोधपरिहारपूर्वकं जीवश्च
नित्यत्वादिधर्मैर्निरूपितः । चतुर्थे प्राणेन्द्रियाणां स्वरूपं ब्रह्मणः
संकाशात् तेषामुत्पत्तिमप्यभिधाय सर्वेषां नामरूपव्याकरणं च

निरूपितम् । अत्र तृतीये प्रथमपादे नित्यत्वादियुक्तस्य जीव-
स्य गत्यागतिनिरूपणं क्रियते । द्वितीये तदवस्थानिरूपणपूर्व-
कमीश्वरस्य स्वरूपलक्षणमुच्यते । तृतीये तदुपासनाविशेषाणां
गुणोपसंहारः । चतुर्थे तु आश्रमादिधर्म इति विवेकः ॥

अत्र प्रथमाधिकरणे जीवः परलोकगतागतेषु देहान्तरप्रा-
प्तये भूतसूक्ष्मैर्वेष्टितो याति उतावेष्टित इति संशयः ॥

जीवो देहान्निर्गच्छन् भूतसूक्ष्मैर्भाविशरीरवीजैरपरिष्वक्त-
एव यातीत्युच्यते, भूतानां सर्वत्र सुलभत्वेनापार्थक्यत्वादाय-
सस्य ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—जीवो देहान्तरप्राप्तये भूतसूक्ष्मैः परिष्वक्तो
यातीति पञ्चाशिविद्यायां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामवगम्यते । कथम् ?
'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' * इति प्रश्नः
'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' * इति प्रति-
वचनम् । तत्र चायमर्थः संपिण्डितः—ब्राह्मणादिदेहस्थो जीवः
स्वाहादानादि कर्म कृत्वा तत्फलभोगायास्मादेहावुत्थाय गच्छ-
न्नेतदेहस्थाभिरङ्गिर्भूतान्तरसंसृष्टाभिः सूक्ष्माभिः परिष्वक्तः अस्मि-
त्वेन निरूपितं द्युलोकं प्राप्य ताभिरेवामृतमयदेहाकारेण परि-
णताभिरङ्गिः परिष्वक्तो देवानां शेषभावमुपगम्य तैः सह तत्र
भोगविशेषाननुभूय भुक्तावशिष्टेन ब्राह्मणादिदेहप्रापकेन कर्मण
सह पुनरिमं लोकमागत्य कर्म कर्तुं ताभिरेव परिष्वक्तोऽस्मित्वेन
निरूपितं पर्जन्यं प्राप्य वर्षधाराभिः सह अस्मित्वेन निरूपितं
पृथिवीमुपगम्य व्रीह्यादिसस्येन अन्नाकारपरिणतेन सह अस्मि-
त्वेन निरूपितं पुरुषं प्राप्य तत्र शुक्लाकारपरिणताभिस्ताभिरङ्गि-
परिष्वक्तोऽस्मित्वेन निरूपितां योषितं प्राप्य तत्र देहाकारपरिण-

तमिः पुरुषशब्दाभिलापनीयाभिरङ्गिः परिष्वक्तः कर्मानुरूपघ्रा-
हणादिदेहेन जायत इति । तदेतत् सर्वमुत्तरत्रामिव्यज्यत ।
तस्मात् पुरुषो भूतसूक्ष्मैर्वैष्टित एव देहान्तरं प्राप्नोतीति ॥

त्रयात्मकत्वात् भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

सर्वस्य त्रिवृत्करणेन त्रयात्मकत्वाद्भूतान्तरसंसृष्टा एवाप्रो
भूयस्त्वादप्लब्धेनोच्यन्ते । अतः 'पञ्चम्यामाहुतावापः'* इति
केवलाप्लब्धग्रहणेऽपि न विरोधः ॥

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति'† इति जीवेन
सहेन्द्रियगतेस्तदाश्रयत्वेन देहगमनमपि प्रतीयते । अतोऽपि
भूतसूक्ष्मदेहवैष्टित एव यातीति ॥

आशङ्क्य परिहरति—

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षु-
रादित्यम्'‡ इत्यादाविन्द्रियाणामग्न्याद्यभिगमः श्रूयते । ततो जीवे-
नेन्द्रियाणां न सह गमनमिति चेत्—न, वागाद्यभिमानिदेवतासु
वागादिशब्दानां भाक्तत्वात्, 'ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् के-
शाः'§ इत्यनपियद्भिर्लोमादिभिः सह पाठात् ॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥

प्रथमे द्युलोकाग्नावपामश्रवणात् नापो गच्छन्ति 'एतस्मि-
न्मौ देवाः श्रद्धां जुह्वति'§ इति श्रद्धैव श्रूयते इति चेत्—

* छा. ५-९.

† बृ. ६-४-२.

‡ बृ. ५-२-१३.

§ छा. ५-४.

न, आप एव श्रद्धाशब्देनोच्यन्ते । कथम्? अप्सु सृष्टुं तदुत्तरोपपत्तेः । श्रद्धाशब्दश्चाप्सु युज्यते, 'श्रद्धा वा आपः' इति श्रुतेः ॥

पुनराशङ्क्य परिहरति—

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतिः ॥

अत्र प्रश्नप्रतिवचनयोराप एव प्रतीयन्ते, न तत्परिष्वक्तं जीव इति चेत्—न, उत्तरत्र 'अथ य इमे ग्रामे इष्टान् दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्राग्निं रात्रेरपरपक्ष्ममपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणैति मासांस्तान् नैते संवत्सरमभिप्रास्यन्ति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसमेतौ सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति तस्मिन् यावत्सं पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निर्वर्तन्ते, यथेतमाकाशमाकाशं द्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽग्नौ भवति अग्नौ भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते अतो वै खलु दुर्निष्पन्नतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति' इति वाक्ये द्युलोके सोमराजशब्दोक्तमृतमयदेहवैषिष्टेयन पुण्यफलं भूय पुण्यकर्मावसाने पुनरिहागत्य गर्भे प्राप्तवतामिष्टादिकारिणां प्रतीतिस्तेषामेव 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' इत्यत्र सोमराजशब्देन प्रत्यक्षज्ञानात् । तस्मात् प्रश्नप्रतिवचनयोरप्याग्निः परिष्वक्तस्तच्छरीरको जीव एवाप इत्युच्यन्त इति गम्यते । अतो विरोधः ॥

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात् तथा हि दर्शयति॥

‘एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति’* इति सोमराजभाषापन्नस्यैव देवैर्भक्ष्यमाणत्वश्रवणाद्भासौ जीव इति चेत्—तत् भाक्तमेव भक्ष्यमाणत्वं अनात्मवित्त्वेन देवोपकरणभावमिप्रायम् । तथा हि ‘यथा पशुरेवं स देवानाम्’† इति श्रुतिरनात्मविदां पशुवद्देवोपकरणत्वं दर्शयति । तस्मादात्मविदां परमेश्वरोपकरणत्ववत् अनात्मविदां देवोपकरणत्वमिति मन्तव्यम् । अतः सर्वथा जीवो देहान्तरप्राप्तौ भूतसूक्ष्मवेष्टित एव यातीति सिद्धम् ॥

२. अधिकरणम्.

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेत-
मनेवं च ॥ ८ ॥

पूर्वत्र भूतसूक्ष्मशरीरयुक्त एव जीवः स्वर्गादिकमुपेत्य देवादिशरीरे निजकर्मानुगुणं भोगं प्राप्नोतीति सिद्धम् । तदिह भोगानन्तरं स जीवः पुनरिमं लोकं संकर्मशेषोऽवतरति, निशेषभुक्तकर्मा वेति संशयः ॥

तथा सति पुरुषो निरनुशय एव स्वर्गादिमं लोकमवरोहतीति युक्तम् । अनुशयो नाम कर्मशेषो, जीवमनुशेत इति । न स्वर्गादवरोहतोऽनुशयः संभवति, अनुशयफलस्य तत्र भुक्त-

त्वात् । 'यावत्संपातमुषित्वा अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' इति श्रुतिस्तद्विषया । अत्र संपातः कर्मसमूहः । संपातमनतिद्वि-
म्येति यावत्संपातमित्युच्यते । ततो निःशेषं कर्मफलं मुक्त्वा
कर्मरहित एव स्वर्गादवरोहति जीव इति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु—स्वर्गात् सुकृतक्षये पुनरिमं लोकमवरोहन्
सकर्मशेष एवागच्छति । कथमवगम्यते ? श्रुतिस्मृतिभ्यामेव ।
यथा 'रमणीयचरणा अभ्याशोहयत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्
ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा अथ य इह कपूय-
चरणाः अभ्याशोहयत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं सुकृ-
योनिं वा चण्डालयोनिं वा' इति श्रुतिः । 'जायन्ते पुन-
कर्मणा' इत्यादिका स्मृतिः । अन्यथा सद्यः समुत्पन्नस्य क-
लस्य धर्माधर्माद्यभावात् सुखदुःखभोगो न स्यात् । तस्माद-
नुशयवानेव यथेतमनेवं च समागच्छति । आकाशावरोहणादपि
हप्रकारेण वाय्वादिप्राप्तेः पितृलोकाद्यप्राप्तेश्च प्रकारान्तरेण न
पुनर्निवर्तन्त इत्यर्थः ॥

पुनराशङ्क्य मतान्तरेण परिहरति—

चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कारणा-

जिनिः ॥ ९ ॥

'रमणीयचरणाः, कपूयचरणाः' इति चरणशब्दान्नानुश-
सिद्धिः । चरणशब्दस्य स्मार्ताचरणविषयत्वादिति चेत्—
अनुशयोपलक्षणार्था हि चरणश्रुतिः, तस्यैव सुखादिसाध-
कत्वात् ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥१०॥

एवं सति स्मार्ताचरणस्यानुपयोगादानर्थक्यं स्यादिति चेत्—न, तदपेक्षत्वादेव सर्वस्य पुण्यकर्मणः,

संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु ।

यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभागमवेत् ॥

इत्यादिवचनात् । इति कार्ष्णाजिनिमतम् ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु वादरिः ॥ ११ ॥

वादरिस्तु 'रमणीयचरणाः, कपूयचरणाः'* इति चरणशब्देन सुकृतदुष्कृते एवोच्येते, पुण्यं कर्माचरतीति प्रसिद्धेः इति मन्यते । एतदेव सूत्रकारस्य मतम् । यदा चरणशब्दः सुकृतदुष्कृतयोर्वाचकः, न तु लक्षकः, इति वादरेर्मतम्, स्मार्ताचारापेक्षं कर्मेति तु स्वीकृतमेव । अतः सुकृतदुष्कृतानुशयवानेव स्वर्गादवरोहति जीव इति सिद्धम् ॥

३. अधिकरणम्.

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥

इह यथेष्टापूर्तादिकारिणां चन्द्रगमनम्, तथाऽन्येषामप्यस्ति न वेति संशयः ॥

तथा सतीष्टापूर्ताद्यकुर्वतामपि चन्द्रगमनमस्त्येव, 'य एवैके चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति'†

इत्यविशेषेण सर्वेषां चन्द्रगमनश्रवणात् । यद्यपि तत्र पापिनां भोगो नास्ति, तथाऽपि पुनरागत्य शरीरग्रहणार्थं पञ्चमाहुतिलाभाय स्वर्गगतिरपेक्ष्या । तस्मादिष्टापूर्ताद्यकुर्वतामपि चन्द्रगमनं युक्तम् ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद-
तिदर्शनात् ॥ १३ ॥

इष्टापूर्ताद्यकुर्वतां चन्द्रगमनं नास्ति, किंतु यमसदं कर्मफलमनुभूय प्रत्यवरोहणम् । एवंभूतावेव तेषामारोहावरोहौ, 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्'* इति तद्वतिदर्शनात् । श्रेयार्थमेव हि स्वर्गगमनम्, न पञ्चमाहुतिलाभाय, द्रोणादीनां योषिदाहुतेरभावेन व्यभिचारात् । अतो यमलोकप्राप्तिरेव फलपिनामिति युक्तम् ॥

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

अस्मिन्नर्थे स्मरन्ति च, 'सर्वे चैते वशं यान्ति यस्य भगवन् किल'† इत्यादि ॥ १४ ॥

अपि च सप्त ॥ १५ ॥

सप्त रौरवादीनपि पापिनो महानरकान् स्मरन्ति ॥

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥

तत्रापि चित्रगुप्ताद्यधिष्ठितेषु नरकेष्वपि तेषां प्रेरकत्वं यमस्य तदधिष्ठातृत्वव्यापारसत्त्वात् यमवश्यताया विरोधाभावात् ।

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥

विद्याकर्मणोः फलभोगाद्यर्थं ब्रह्मगमनं चन्द्रगमनं च कथम्? 'तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेष्विषमभिसंभवन्ति.....अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तामित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति'* इति ब्रह्मगमने चन्द्रगमने च विद्याकर्मणोरेव प्रकृतत्वात् । अतो न पापिनां तद्वतिप्रसङ्गः ॥

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

न च पापिनामपि पञ्चमाहुतिप्राप्तिमूलत्वाद्देहारम्भस्य तदर्थं द्यलोकापेक्षा, तेषां द्यलोकगमनाभावोपलब्धेः 'अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि श्रुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत् तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते'* इति न तृतीयं स्थानं इति न पापकर्माण उच्यन्ते । अतः पापिनां न स्वर्गगमनम् ॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ १९ ॥

लोके द्रौपद्यादीनां पुण्यकर्मणामपि पञ्चमाहुत्यनपेक्षा देहारम्भाय स्मर्यते ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

किंच श्रुतिदर्शनं च भवति 'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रौण्येव बीजानि भवन्ति अण्डज जीवजमुद्भिज्जमिति'† । तत्र स्वेदजोद्भिज्जयोस्तदनपेक्षत्वं दृश्यते ॥

ननु 'जीवजमुद्भिज्जमिति'* श्रुतौ स्वेदजग्रहणं नास्ती-
त्यत आह—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥

संशोकजस्य स्वेदजस्यापि तृतीयेनोद्भिज्जशब्देन संशयो-
स्तीत्यर्थः । ततः पापिनां न स्वर्गगमनमिति निर्णयः ॥

४. अधिकरणम्.

तत्स्वाभाव्यापत्तिरूपपत्तेः ॥ २२ ॥

पूर्वत्र फलभोगानन्तरं स्वर्गात् सानुशय एव जीवोऽस्त-
तीति निरूपितम् । तस्यावरोहत आकाशादिभावः धूमो
अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वा-
भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति अभ्रं भूत्वा मेघो भवति
मेघो भूत्वा प्रवर्षति'† इति । तत्र जीवस्याकाशादिरूपताऽऽ-
पत्तिः तत्सादृश्यापत्तिर्वेति संशयः ॥

तत्र भूत्वेति शब्दादाकाशादिरूपत्वं जीवस्य ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—नावरोहतो जीवस्याकाशादिरूपताऽऽपत्ति-
किंतु तत्सादृश्यापत्तिः, तत्र सुखदुःखानुभवाभावात् । तद-
भवार्थं हि तत्तच्छरीरसंबन्धः । अन्यस्यान्यत्वानुपपत्तेः
तस्मात् तत्सादृश्यापत्तिरवरोहत इत्येवोपपद्यत इति निर्णयः ।

५. अधिकरणम्.

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

अत्रावरोहन् जीवो विलम्बते न वेत्यनियमः, उत न विलम्बत एव इति संशयः ॥

तत्र प्रवर्षणानन्तरं ब्रीह्यादिभावः श्रूयते 'त इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा जायन्ते'* इति । प्रागेतस्मात् ब्रीहियवादिभावादाकाशादौ विलम्बत्वरयोर्न नियमः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—ब्रीह्यादिप्राप्तेः प्रागाकाशादिषु नातिचिरं तिष्ठति जीवः । कथम् ? ब्रीह्यादिभावानन्तरं 'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्'* इति ब्रीह्यादिभावाभिर्गमनं दुश्शकमिति हि श्रूयते । अतो ब्रीह्यादौ विलम्बात् अन्यत्र त्वरेत्यवगमादाकाशादौ न विलम्बते जीव इति ॥

६. अधिकरणम्.

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥

इह ब्रीह्यादावपि जीवस्य संश्लेषमात्रम्, उत जन्म ? ॥

इति संशये ब्रीह्यादिरूपेण 'जायन्ते'* इति श्रवणात् तस्य ब्रीह्यादिजन्म ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—अन्यजीवाधिष्ठिते ब्रीह्यादौ जीवस्य संश्लेषमात्रम् । आकाशादाविवावरोहतस्तत्र जननहेतुसंकीर्तनविरहि-

ताभिलापात् 'जायन्ते'* इति श्रुतिगौणी । यत्र ब्राह्मणादि
जन्मास्ति तत्र 'रमणीयचरणाः, कपूयचरणाः'* इति हेतुमि-
लप्यते । अतो ब्राह्मणादावेवास्य जन्माभिलापादन्यत्रास्य सं-
न्धमात्रमिति निर्णयः ॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

अवरोहतः पुरुषस्य पूर्वानुष्ठितयागादिष्वग्नीषोमीयादिहिं-
सामिश्रत्वादशुद्धं कर्मेति तत्फलभोगाय ब्रीह्यादिष्वप्युत्पत्तिरस्ति-
ति चेत्—न, श्रूयते हि 'हिरण्यशरीर ऊर्ध्वं स्वर्गं लोकमेति'
'न वा उ वेतन्म्रियसे नरिष्यसि' । इति पशुहिंसाया अहिंसात्वम् ।
ततो न तत्प्राप्तिरस्ति ॥

उपपत्त्यन्तरमाह—

रेतस्सिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥

'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति'
इत्यनेन रेतस्सिच्चा योगमात्रमस्यानन्तरमुच्यते । अतः पूर्वं
मपि ब्रीह्यादिषु योगमात्रमेव ॥

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

यदा योनिप्राप्तिस्तस्य तदैव शरीरमुत्पद्यते । अतः पूर्वं
तु संश्लेषमात्रमिति भावः ॥

इति श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचिते ब्रह्ममीमांसाभाष्ये
तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः.

अथ द्वितीयः पादः.

१. अधिकरणम्.

संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

पूर्वत्र जीवस्य गत्यागतिनिरूपणं कृतम् । इह तदवस्था विचार्यते । सन्ध्ये स्वप्ने 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते'* इत्यादिना सृष्टिरभिधीयते । सैषा जीवकृता परमेश्वरकृता चेति संशयः ॥

एवं सति जीवकृतेत्यवगम्यते । 'अथ वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्ता'* इति स्वप्नदृशं जीवमेव कर्तारमाह हि श्रुतिः ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामंकामं पुरुषो निर्मिमाणः'† इति जीवमेव स्वप्ने कामानां निर्मातारमेके शाखिनोऽधीयते । ततः कामशब्दनिर्दिष्टाः काम्यमानाः पुत्रादयः, पूर्वत्र 'सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व'‡ इत्युक्त्वा 'शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व'‡ इति विवृतत्वात् । ततश्च जीवकृतैव स्वप्नसृष्टिः ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—

मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूप-
त्वात् ॥ ३ ॥

*बृह. ६-३-१०.

† कठ. ५-८.

‡ कठ. १-२६, २४.

स्वप्ने यद्रथादि सृष्टमर्थजातं, तदिदं मायामात्रमीश्वरकृतं,
न जीवकृतं स्वप्नदृशैकेनानुभाव्यं तत्कालमात्रावसायीति ।
आश्चर्यतया मायामात्रमित्युक्तम् । जीवस्य सत्यसंकल्पत्वादिकं
तिरोहितमिति तस्य रथादिसृष्टिसामर्थ्यं न संभवति । अतः
'पुरुषो निर्मिमाणः'* इति न जीवविषयम् । किंतु,

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।

तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन**

इति वाक्यशेषादीश्वरविषयम् । तदैकार्थ्यात् 'स हि कर्ता'† इत्यादि
तद्विषयमेव । अतः परमेश्वरकृता स्वप्नसृष्टिरिति ॥ ३ ॥

जीवस्वरूपानभिर्व्यक्तिहेतुमाह—

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्ध-
विपर्ययौ ॥ ४ ॥

जीवस्यानाद्यपचारप्रवाहेण पराभिध्यानात् परमेश्वरसं-
ल्पात् तस्य सत्यसंकल्पत्वादिकं तिरोहितम् । तदपचारतदनु-
वृत्तिकृतात् तस्मादेव परमेश्वरसंकल्पादस्य बन्धमोक्षौ भवतः ।
तथाहि श्रुतिः 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदरमन्तरं कुरुते । अथ त-
स्य भयं भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुद्धेऽ-
निलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति'‡ इति ।

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ५ ॥

जीवस्य स्वरूपतिरोधानभावोऽपि देवमनुष्यादिदेहाकार-
विद्योगाद्भवति सृष्टिसमये, प्रलये पुनर्नामरूपविभागानर्हस्यमा-

काराचिद्योगादित्येवं तस्य तिरोहितसत्यसंकल्पत्वादिकस्य ता-
त्कालिकविचित्रसृष्टिसामर्थ्यं स्वप्ने न संभवति ॥

उपपत्त्यन्तरमाह—

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ६ ॥

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ।

समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ॥*

‘अथ स्वप्नाः पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति’
इत्यादिश्रुतेः शुभाशुभसूचकश्च हि स्वप्नः । स्वप्नाध्यायविदश्च
शुभाशुभसूचकान् स्वप्नाविशेषानाचक्षते । अतो न जीवसृष्टाः
स्वप्नार्थाः, जीवसृष्टत्वे तदशुभसूचकानां सृष्ट्यभावप्रसङ्गात् ।
तस्मात् परमेश्वरकृता स्वप्नसृष्टिरिति युक्तमेव ॥

२. अधिकरणम्.

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥

स्वप्नाभावः सुषुप्तिः । ‘तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सं-
प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति, आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति’[†]
इति ‘अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्य चन वेद हिता नामना-
दयो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततमभि प्रतिष्ठन्ते तामिः
प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते’[‡] इति । ‘यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति

* छा. ५-२-९.

† छा. ८-६-३.

‡ बृह. ४-१-१९.

नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति'* इति च श्रुतिमिदं
वस्य सुषुप्तौ नाडीषु पुरीतति ब्रह्मणि च शयनमवगम्यते।
ज्वस्य विकल्पः समुच्चयो वेति संशयः ॥

नाड्यादीनि स्थानानि विकल्पितानि भवितुमर्हन्ति, एव
प्रयोजनत्वात् । यथा 'ब्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत' इत्यत्र पु-
रोडाशनिष्पादनप्रयोजनस्यैकत्वेन विकल्पः स्वीक्रियते, तथा
सुषुप्तिप्रयोजनस्यैकत्वात् कदाचित् पुरीतति शेते कदाचिन्नाडीषु
कदाचित् ब्रह्मणीति विकल्प एवात्र समुचित इति पूर्वः पक्षः ।

समुच्चय इति सिद्धान्तः । कुतः ? नैकप्रयोजनत्वात् । तत्र
हि—जीवस्य हृदयनिष्ठब्रह्मगमनमार्गतया नाडीनां साधनत्वं पु-
रीतति ब्रह्मणि च प्रासादपर्यङ्कवदविरोधः । अतो नाडीष्वि-
पसृप्य पुरीतति ब्रह्मणि जीवः शेते इत्युपकारमेदात् समुच्च-
य एव ॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे'† इति ब्रह्म-
सकाशादस्य प्रबोधं श्रुतिराह । अतः समुच्चयः । विकल्पो-
क्तीकृते ह्यष्टदोषप्रसङ्गः । यदा जीवो नाडीषु शेते तदा पुन-
रिदं ब्रह्मवाक्ययोः प्रामाण्यं प्राप्तं परित्यज्येत । अप्राप्तं चाप्र-
माण्यं स्वीक्रियेत । यदा पुरितब्रह्मणोः शेते तदा पुरितद-
ब्रह्मवाक्ययोः पूर्वं त्यक्तं प्रामाण्यं स्वीक्रियेत । पूर्वं स्वीकृतं च
प्रामाण्यं परित्यज्येत । इति प्राप्तपरित्यागोऽप्राप्तस्वीकारः परित्य-
क्तस्वीकारः स्वीकृतपरित्यागश्चेति दोषचतुष्टयं पुरीत-
ब्रह्मवाक्यकोटौ । तथा नाडीवाक्यकोटौ च दोषचतुष्टये योजि-

सत्यष्टौ दोषा भवन्ति । ततो न विकल्पः समुच्चयोपपत्ताविति समाधिः ॥

३. अधिकरणम्.

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥९॥

अत्र 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति'* इति विषयः ॥

पूर्वत्र जीवस्य सुषुप्त्यवस्था निरूपिता । तत्र ब्रह्मणि सुप्त एव प्रतिबुध्यते, उतान्य इति संशयः ॥

इहान्य इति प्राप्तम्, ब्रह्मप्राप्तस्यावृत्तेरनुचितत्वात् । निरतिशयानन्दे ब्रह्मणि साम्यं प्राप्तस्य जीवस्य पुनर्न दुःखम-
यसंसारवृत्तिरुपपद्यते । सता संपन्नः कथमुत्तिष्ठेत्, को वाऽत्र विभागः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—सता संपन्नोऽपि सुप्त एव प्रतिबुद्ध उ-
त्तिष्ठति, ज्ञानवैधुर्येण कृतस्य कर्मणस्तेनानुभाव्यत्वात्, पूर्वा-
नुभूतप्रत्यभिज्ञानाच्च, 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा
वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्य-
द्भवन्ति तदाभवन्ति'* इति तद्भावश्रुतेश्च, मोक्षोपायविधिवा-
क्यानर्थक्यप्रसङ्गाच्च । 'सत आगम्य न विदुः'* इति संपन्नस्य
ब्रह्मानन्दज्ञानाभावोक्तेर्मुक्ताविव न तल्लयः । अतः सुप्त एव
पुनः समुत्तिष्ठतीति युक्तम् ॥

४. अधिकरणम्.

मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

मूर्छितः पुरुष इति व्यवहारान्मूर्छेति काचिदवस्थाऽनुभूयते ।
सैषा सुषुप्त्यादिभ्यो भिन्ना न वेति संदेहः ॥

जागरस्वप्नसुषुप्तिभ्यो भिन्नाया अवस्थाया अप्रसिद्धत्वा-
न्मूर्छा जागरादिष्वन्तर्भूता ॥

इति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते—मूर्छिते पुरुषे चाऽवस्था सा
मरणार्धसंपत्तिः इति परिशेषात् भिन्ना सुषुप्त्यादेः । प्रपञ्चप्रती-
तेरभावाच्च जागरस्वप्नयोरन्तर्भावः । सुषुप्तेः प्रसन्नवदनादिलक्ष-
णाया विवृतमुख्यादिलक्षणाया अस्याश्च विशेषात् ततोऽप्यन्या-
वस्था मूर्छेति सिद्धम् ॥

५. अधिकरणम्.

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥

पूर्वेष्वधिकरणेषु त्वंपदार्थस्य जीवस्य स्वरूपधर्मगत्यागत्य-
स्थाविशेषनिरूपणं कृतम् । अतः परं तत्पदार्थस्य परमेश्वरस्य
स्वरूपधर्मादिकं निरूप्यते । 'सोऽन्तरादन्तरं प्राविशत् दि-
शश्चान्तरं स प्राविशत्'* 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्'† इत्यादिषु
परमेश्वरस्य सर्वात्मकतयाऽनुप्रवेशः श्रूयते । तस्य सर्वावस्थानु
सर्वान्तर्यामितयाऽवस्थितौ तत्तद्दोषकलङ्कः प्रसज्यते न वा ।

इति संशये प्रसज्यत इति पूर्वः पक्षः । तथा हि—‘अ-
स्थूलमनण्वहस्वम्’* ‘निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवयं निरञ्ज-
नम्’† इत्यादिना च परमेश्वरस्य रूपादिकं निषिध्यते । तद्दोष-
स्पर्शभयादेव ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’‡ इति च तस्यापरिच्छि-
न्नसत्यज्ञानमात्ररूपत्वमुच्यते । यदि प्रकृतिविकारसंबन्धोऽप्य-
स्याभ्युपगम्येत, जीववदसावपि सकलविकारदोषास्पदं भवे-
दिति ॥

नैति सिद्धान्तः । सर्वावस्थासु सर्वान्तर्यामितया स्थिति-
मतोपि परमेश्वरस्य न कश्चिद्दोषकलङ्कप्रसङ्गः । कुतः ? सर्वत्र
श्रुतिषु चास्य निरस्तदोषकलङ्कत्वं निरतिशयमङ्गलाकरत्वं चे-
त्युभयं लिङ्गं हि प्रसिद्धम् ‘एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो वि-
मृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः’§

अस्ति कश्चिदपर्यन्तरमणीयगुणाश्रयः ।

सर्वलोकविनिर्माता पशुपाशविलक्षणः ॥

इत्यादिषु । अतः पृथिव्यादिष्वन्तर्यामितयाऽवस्थानतोऽपि न दोषः ॥

भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥१२॥

यथा जीवस्य स्वतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणस्यापि देवादिश-
रीरसंबन्धित्वावस्थाभेदादुक्तदोषवत्त्वं तथा परमेश्वरस्यापि ‘यस्य
पृथिवी शरीरम्’¶ इति शरीरसंबन्धित्वावस्थाभेदात्तद्दोषाः स्युः
इति चेत्—न, प्रत्येकं प्रतिपर्यायमतद्वचनात् दोषासंबन्धित्व-
वचनात् । ‘यस्य पृथिवी शरीरम्’¶ इत्यादिषु ‘एष त आ-
त्माऽन्तर्याम्यमृतः’¶ इत्यन्तर्यामिणो हि निर्दोषत्वमुच्यते । जीवस्य
तु परामिध्यानात् तत्स्वरूपं तिरोहितमित्युक्तम् ॥

अपि चैवमेके ॥ १३ ॥

अपि च—एकस्मिन् शरीरे शरीरेत्वेनावस्थितयोरपि जी-
वेश्वरयोर्दोषसंबन्धित्वतद्विपरीतत्वलक्षणो विशेषो यथा प्रति-
द्वयत्वेवमेके स्वशब्देनाधीयते—

द्रांसुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं पीरपस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्व-
त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥*

अतो न जीवधदीश्वरे दोषप्रसङ्गः ॥

जीवेश्वरयोः शरीरस्थितिसाम्येऽपि स्थितिवैषम्यमाह—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

तद्ब्रह्म परमेश्वरो देवादिशरीरेषु शरीरितया स्थितावपि
रूपरहितवस्तुवदेव वर्तते । कुतः ? नामरूपानिर्वोदृत्वप्रधानत्वात् ।
तथा हि श्रुतिः ‘आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते
यदन्तरा तद्ब्रह्म’† इति । नामरूपयोरन्तराले तत्कार्यस्पर्शरहित
एवं वर्तते । मध्य इति स्वातन्त्र्यमुक्तम् । कर्मफलभोगार्थं हि
जीवस्य शरीरे स्थितिः । अत उभयोर्वैषम्यम् ॥

प्रकाशवच्चैवैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

यथा ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’‡ इति वाक्यावैयर्थ्यात् स्व-
प्रकाशरूपतया ज्ञानरूपं ब्रह्म तथा ‘निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्’§

‘अपहतपाप्मा’* ‘सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम्’† ‘यः सर्वज्ञः सर्ववित्’‡ ‘प्रधानक्षेत्रज्ञपातिर्गुणेशः’§ ‘पराऽस्य शक्तिर्विचित्रैव श्रूयते’|| ‘अथ कस्मादुच्यते महादेवो यः सर्वान् भावान् परित्यज्यात्मज्ञानयोगैश्वर्ये महति ग्रहीयते तस्मादुच्यते महादेवः’*** इत्यादीनां परदशतानां वाक्यानामवैयर्थ्यात् निरवयं कल्याणगुणारूपदं च ब्रह्म इत्युभयलिङ्गमेव ॥

आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’†† इति श्रुतिरनवच्छिन्नज्ञानरूपतामात्रं ब्रह्मण आह । नान्यं निवारयति, विशेषाभावादविरोधाच्च । यथा स्वर्णरूपं किरीटमित्येतत् स्वर्णरूपतामात्रकथनपरं, न तत्सचितरत्नादिनिषेधपरं, तद्वदिति । अत्र हि ‘सत्यं ज्ञानमनन्तम्’†† इति स्वत एव महाप्रकाशरूपतया परब्रह्मणः परमज्ञानाकारमात्रमभिदधती श्रुतिरनन्तरमुच्यमानं ब्रह्मणो विपश्चित्त्वं सर्वज्ञत्वं निवारयितुं कथं क्षमते । विविधं वस्तुजातं पश्यन्ती विमृशन्ती चिद्यस्य स विपश्चित् । अतो न विरोधः ॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

हेयगुणराहित्येन कल्याणगुणसाहित्येन चोभयलिङ्गं ब्रह्म दर्शयति सर्वत्र श्रुतिरेव भगवती । ‘आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम् । शान्तिसमृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोग्योपास्त्व’†† इति । आ काशत इत्याकाशः प्रकाशस्तद्रूपं चिदम्बररूपम् । सत्यात्म सत्तारूपम् । प्राणारामं प्राणे आत्मन्येवारा मो न बहिरस्येति । मनस्येवानन्दोऽस्य न बाह्य-

*छा. ८-१-५.

§ श्वे. ६-१६.

† तै. १-६.

|| श्वे. ६-८.

†† तै. २-१.

‡ मु. १-१-१०.

*** अथर्वशिरः.

करणेष्विति मनआनन्दम् । मन इति ज्ञानमन्तःकरणमुच्यते,
 येनानपेक्षितबाह्यकरणेनापरोक्षितसकलबाह्यवस्तुविलासेन निस्-
 निष्कलङ्केन प्रमाविशेषेण सर्वज्ञं ब्रह्मोच्यते । तेनापरिमितस्-
 रूपानन्दमनुभवतीति मनआनन्दम् । शान्तिसमृद्धं रागद्वेष-
 दीनां हेयगुणानामत्यन्तराहित्यं शान्तिः तत्समृद्धं निरवशेष-
 निर्धूतनिखिलदोषकलङ्कम् । अमृतमनादिमुक्तमिति सत्यज्ञानरू-
 पं सर्वज्ञं निरतिशयात्मानन्दशक्तिविलासं निरस्तसमस्वदोषं परं
 ब्रह्मेत्युभयलिङ्गमिति दर्शयति । तथा 'निष्कलं निष्क्रियं शा-
 न्तम्' * 'धर्मावहं पापनुदं भगेशम्' ** तमीश्वराणां परमं पर-
 मेश्वरम्' * इत्यादिश्रुतिश्रोभयलिङ्गं ब्रह्माह—

अनादिमलसंश्लेषप्रागभावाद्विशेषतः ।

अत्यन्तपरिशुद्धात्मा शिव इत्युच्यते विभुः ॥

अनन्तानन्दकल्याणगुणैकघन ईश्वरः ।

शिव इत्युच्यते सद्भिः शिवतत्त्वार्थवेदिभिः ॥

इति स्मर्यते च शिवशब्दवाच्यं ब्रह्मोभयलिङ्गमिति । परमवि-
 शुद्धिमङ्गलगुणवाचकेन शिवशब्देन निरस्तनिखिलदोषकलङ्कं नि-
 रतिशयपुरुषार्थं गुणपरिपूर्णं ब्रह्माभिधीयत इति । ब्रह्मणः शि-
 वशब्दवाच्यतया चोभयलिङ्गसिद्धिः ॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

यतः पृथिव्यादिषु सर्वत्र स्थितस्यापि परमेश्वरस्य नि-
 दोषत्वं कल्याणगुणाकरत्वं च अत एव शास्त्रेषु जलसूर्य-
 दिवादित्यस्योपमा क्रियते ।

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत् ।

तथाऽऽत्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान् ॥

इति । अत्र वस्तुतः स्थितमाकाशं वस्तुतोऽनवस्थितं च सूर्यमुपमानमुपादत्ते अनेनाभिप्रायेण—यथैकमेवाकाशं घटादिषु पृथक्पृथगेव वस्तुतः स्थितं, तथैक एव परमेश्वरः पृथिव्यादिषु पृथक्पृथगात्मतया वस्तुत एव तिष्ठतीति परमेश्वरस्यैकस्यापि बहुषु वस्तुतः स्थितिरुपपद्यते इत्याकाशोपमानम् । जलाधारेषु वस्तुतोऽनवस्थितस्य सूर्यस्य यथा न तद्विकारादिदोषस्पर्शः तथा पृथिव्यादिषु वस्तुतः स्थितस्यापि परमेश्वरस्य न तद्विकारादिदोषस्पर्श इति सर्वान्तर्यामिणः परमेश्वरस्य निर्दोषत्वं स्वरूपगुणाहानिश्चेति सूर्योपमानम् । अत आकाशाद्युपमयाऽपि सर्वात्मनः परमेश्वरस्य सिद्धमुभयलिङ्गत्वम् ॥

अत्राशङ्कते—

अम्बुवदग्रहणात् न तथात्वम् ॥ १९ ॥

अम्बुनि यथा सूर्योऽपरमार्थो गृह्यते, न तथा परमेश्वरः पृथिव्यादौ । किंतु परमार्थतस्तत्र स्थित एव गृह्यते । अतः कथमस्य निर्दोषत्वम् ? ॥

इति शङ्कायाः परिहार उच्यते—

वृद्धिहासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवं दर्शनाच्च ॥ २० ॥

नेत्युच्यते । वस्तुतः पृथिव्यादिष्वन्तर्भावादपि परमेश्वरस्य तद्वत्तद्वृद्धिहासभाक्त्वं न संभवति । पूर्वोक्तोभयदृष्टान्तग्रह-

णसामञ्जस्यादेवमवगम्यते । उक्तं हि वस्तुतोऽनवस्थितस्य सूर्यस्य स्थितस्य चाकाशस्योपमानत्वेन ग्रहणं सर्वत्रावस्थितस्यापि परमेश्वरस्यानवस्थितस्येव न तद्दोषस्पर्श इति ज्ञापितुमिति । तथा हि दृश्यते विवक्षितधर्मसाम्यज्ञापनमात्रेण चन्द्रवन्मुखमिति दृष्टान्तः । तस्मादुभयलिङ्गसिद्धिरीश्वरस्य पारमार्थ्यात् पृथिव्यादिषु स्थितस्यापि । अथवा—श्रुतावपि दृश्यते विवक्षितधर्मसाम्येन दृष्टान्तः 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्'* इत्यादौ । अतो विवक्षितधर्मसाम्येनोभयदृष्टान्तसाध्यस्यादुभयलिङ्गमेव ब्रह्मेति सिद्धम् ॥

६. अधिकरणम्.

उभयलिङ्गासंभवमाशङ्क्याह—

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति
च भूयः ॥ २१ ॥

पूर्वत्र ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वं साधितम् । तद्वाधोऽस्ति चेति संदिह्यते ॥

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्ते चामूर्ते च'† इति पृथिव्ये जोवाय्वाकाशात्मकमूर्तामूर्तप्रपञ्चरूपत्वं ब्रह्मण उक्त्वा, 'अथात आदेशो नेतिनेति'‡ इति श्रूयते । अत्रेतिशब्दस्य पूर्वकृतपरामर्शित्वात् ब्रह्मणः पूर्वप्रतिपादितं मूर्तामूर्तप्रपञ्चरूपं निषिध्यते ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—‘नेति नेति’* इति पूर्वसिद्धं ब्रह्मणः
 प्रपञ्चरूपत्वं न निषिध्यते, अप्रज्ञातत्वेन विहितस्यास्य प्रति
 पेद्यायोगात् । किंतु, प्रकृतैतावन्मात्रं ब्रह्म न भवतीति प्रकृते-
 यत्तामेव ‘नेति नेति’* इति प्रतिषेधतीति युक्तम् । यतश्च प-
 ज्ञात् पूर्वं अनुक्तं भूयो गुणजातं ब्रवीति । ‘न ह्येतस्मादिति
 नेत्यन्यत् परमस्ति अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै
 सत्यं तेषामेष सत्यम्’* इत्यादिना । अत्र ‘न ह्येतस्मात्’* इति
 वाक्येन ‘नेति नेति’* इति निर्दिष्टात् ब्रह्मणोऽन्यन्नास्त्युक्तघ-
 मित्युच्यते । अथ नामधेयमुच्यते—सत्यस्य सत्यमिति ।
 तदर्थेनेर्वचनं तु—“प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्”* इति । प्राणा
 जीवात्मानः सत्यं वियदादिवदुत्पत्त्यभावात् । तेभ्यः सत्येभ्यो
 ह्येष सत्यम्; तद्वत् ज्ञानसंकोचाद्यभावात् । अतः प्रकृत-
 धर्मैयत्ताप्रतिषेधपरत्वात् ‘नेति नेति’* इति वाक्यस्य ब्रह्मणः
 पूर्वसिद्धमुभयालिङ्गत्वं न हीयत एव ॥

ननु सन् घटः सन् पट इत्यादिष्वनुवृत्तं सद्रूपं ब्रह्म स-
 त्यम् । अन्यत् व्यावर्तमानं घटादिकं ‘नेति नेति’* इति प्रतिषे-
 धति श्रुतिरित्यत आह ॥

तदव्यक्तमाह हि ॥ २२ ॥

ब्रह्मस्वरूपं प्रत्यक्षादिना प्रमाणान्तरेण नाभिव्यज्यते । ‘न
 संशये तिष्ठति रूपमस्य । न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् । हृदा’†
 इत्यादिना यतः श्रुतिराह अतः प्रत्यक्षादिना सिद्धा सत्ता
 न ब्रह्मेति ॥

ब्रह्मस्वरूपग्रहणे हेतुमाह—

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥

अपि तु ध्यानरूपज्ञानेन सम्यगाराधने ब्रह्मस्वरूपं गृह्यते ।
ये ब्रह्मभाविता ब्रह्मोपासते, तेषां ब्रह्मस्वरूपं ग्रहणयोग्यं भव-
तीति श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्यते—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः

तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥* इति ।

‘ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः’+ इत्यादिका श्रुतिः ।
स्मृतिरपि—‘नासौ प्रत्यक्षविषयः’ इत्यादिका ॥

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशाश्च कर्मण्य-
भ्यासात् ॥ २४ ॥

अविच्छिन्नानुध्यानसंराधनेन येषां ब्रह्म प्रकाशते तेषां तेन ब्रह्म
दर्शनेन विषयीकरणे तज्ज्ञानानन्दादेर्जगदैश्वर्यस्य च वैशेष्यं नास्ति
तथा हि दृश्यते । ‘अहं मनुरभवं सूर्यश्च’† ‘तं मामायुरस्मृतमित्यु-
स्स्व’§ इत्यादिषु ब्रह्मोपासकानां तेन भावनैक्येन तदसाधारण्य-
णप्राप्तिः । ‘दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्’॥ इति
दिषु हि कृष्णादीनां तदैक्यभावनया तदैश्वर्यप्रकाशनं दृश्यते
ब्रह्मभावनाभ्यासेन च विश्वामित्रागस्त्यादीनां स्वर्गान्तरकरणज-
धिकबलनादिसामर्थ्यम् । लोके च मन्त्रिणां गरुडभावना

*कठ. १-२३.

§कौषी. ३-२,

†मु. ३-१-८.

‡वृ. ३-४-४०.

॥गी. ११-८.

गुह्यसाधारणधर्मप्राप्तिः । तस्मात् ब्रह्माहन्तायाः प्रौढभावे स-
ति ब्रह्मासाधारणधर्माश्चैशिष्ट्यनुपालकानामसाधारणमित्यनव-
द्यम् । अतो वाद्यदिव्यनुवृत्तं सन्मानं प्रत्यक्षं ब्रह्मेति विरुद्ध-
मेव । तस्मात् साक्षात्कारहेतूनां निधिध्यासनादीनां वैयर्थ्यप्र-
सङ्गात्, अप्रत्यक्षेऽपि तादृशि तल्लिङ्गादर्शनाच्च, अतः सन्मा-
नं प्रत्यक्षं ब्रह्म तदन्यत् सर्वं निषेधति नेति नेतीति न
युक्तमेव ॥

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २५ ॥

यतो ब्रह्मोपासीनानामपि तदसाधारणज्ञानानन्दपरमैश्वर्या-
दिकं प्रकाशते, अतो 'हे वाच ब्रह्मणो रूपे'* इत्यादिनाऽभिहिते-
नानन्तेन कल्याणगुणेन योगो ब्रह्मणः सिद्ध एव । तस्मादु-
भयलिङ्गं ब्रह्मेति ॥

ननु 'हे वाच ब्रह्मणो रूपे'* इत्यादिनोक्तं प्रपञ्चस्य ब्र-
ह्मरूपत्वं ब्रह्मप्रपञ्चयोराध्यात्मिकसंबन्धेनैव निर्वाह्यम्, विधा-
न्तरेण तन्निर्वाहासंभवात् । ततश्च 'अथात आदेशो नेति नेति'†
इत्यस्य अध्यस्तप्रपञ्चनिषेधपरत्वमेव युक्तमित्याशङ्क्य विनाप्य-
ध्यात्मसंबन्धं स्वाभिमततः प्रकारेण तन्निर्वाहं वक्ष्यन् प्रथमं
पक्षान्तरमाह—

उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत् ॥ २६ ॥

'सर्वो वे रुद्रः'* 'द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः'‡ इत्ये-
कत्वबहुत्वव्यपदेशाद्देः कुण्डलभावर्जुभाववत् परमेश्वरस्यैव
'हे वाच ब्रह्मणो रूपे'* इत्यादिनोक्तः पृथिव्यादिभावसंस्थान-
विशेषः ॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २७ ॥

प्रकाशतदाश्रययोर्यथा स्वरूपभेदेऽपि तेजस्त्वयोगेनैक्यम्
एवमचिद्ब्रह्मणोरेकजातियोगेनेति वा तस्य पृथिव्यादिभावः ॥

पूर्ववद्वा ॥ २८ ॥

वाशब्दः पक्षद्वयव्यावृत्त्यर्थः । यथा पूर्वत्र प्रकाशजाति-
गुणशरीरवद्विशेषणतैकस्वभावतया विशिष्टैकदेशत्वेनांशत्वमु-
चिद्ब्रह्मस्तुनः, एवमचिद्ब्रह्मस्तुनोऽपि । 'सर्वो वै रुद्रः' * इति चिद-
ब्रह्मस्तुनोरेकेन शब्देनाभिधानं हि शक्यमेकरूपभूतयोः पूर्ण-
रूपसंबन्धे सत्येव । इतरपक्षद्वये ब्रह्मणः सदोपत्वं दुर्गमम् ।
'यस्य पृथिवी शरीरं, यस्यात्मा शरीरम्'† इत्यादिश्रुतेः,

विद्येति चेतनां प्राहुस्तथाऽविद्यामचेतनाम् ।

विद्याऽविद्यात्मकं सर्वं विश्वं विश्वगुरोर्विभोः ।

रूपमेव न संदेहो विश्वं तस्य यशे यतः ॥

इत्यादिपुराणवचनप्रामाण्याच्च चिदचिद्ब्रह्मस्तुनोरष्टमूर्तेर्ब्रह्मणः श-
रता च सिद्धा ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ २९ ॥

'नास्य जरयैतज्जीर्यति'‡ 'अस्थूलमनण्वहस्वम्'§ इत्यादि-
चिदचिदात्मत्वेऽपि ब्रह्मणस्तद्धर्मप्रतिषेधाच्च चिदचिद्विशिष्टभा-
वब्रह्म निर्दोषं निखिलमङ्गलगुणास्पदं च । एतदुक्तं भवति-कि-
दचितोः कारणत्वेऽपि तद्विशिष्टत्वेऽपि ब्रह्मणः शिवस्य विकार-
ज्ञत्वाद्यपुरुषार्थधर्मराहितत्वं सर्वज्ञत्वनित्यतृप्तत्वानादिवोधत्वस्त्व-

न्रत्वालुप्तशक्तित्वानन्तशक्तित्वादिपरमपुरुषार्थधर्मवत्त्वं च नित्य-
सिद्धमेवेति ॥

७. अधिकरणम्.

तदिह सकलचिदचिदाकारपरमशक्तिविलाससमरसात्मनः
सर्वदोषवासनाकलङ्करहितात् सर्वज्ञतादिसकलमङ्गलगुणरत्नाक-
रात् परब्रह्मणो विरूपाक्षाच्छिञ्चवादेतस्मात् परं किञ्चिदपि वस्त्व-
न्तरं नास्तीति वक्तुं प्रथममाशङ्कते—

परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥

‘जन्माद्यस्य यतः’ इत्यादिना ‘प्रतिषेधाच्च’ इत्यन्तेन यः
परमकारणतया प्रतिपादितः परमेश्वरः इतः परमपि वस्त्व-
स्ति न वा ॥

इति संशयेऽस्तीति पूर्वः पक्षः । तथा हि—‘अथ य आत्मा
स सेतुर्विधृतिः’* ‘एतं सेतुं तीर्त्वा अन्धः सन्ननन्धो भवति’* इति
‘चतुष्पाद्ब्रह्म’† ‘अमृतस्यैव सेतुः’‡ इत्यादिभिरस्य परब्रह्मणः
सेतुत्वतरितव्यत्वपरिमितत्वप्रापकत्वादीनि व्यपदिश्यन्ते । अतोऽ-
स्मादपि परं किञ्चिद्वस्त्वस्तीति ॥

सिद्धान्त उच्यते—

सामान्यात् तु ॥ ३१ ॥

तुशब्दः पूर्वपक्षनिवर्तकः । अतस्तस्मात् सर्वोत्तराच्छिवात्
परमस्तीति वादो न युक्तः, ‘विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः’§ इत्या-

*छा. ८-४-१...२. †छा. ३-१८-२. ‡मु. २-३-५. §महा. १०-१९.

दिश्रुतिभिस्तस्य विश्वाधिकत्वसिद्धेः । अत्र च सेतुत्वादिक-
पदेशस्तत्सामान्यादेव सर्वलोकासंस्करणत्वेन 'अथ य आत्मा
स सेतुर्विभूतिरेषां लोकानामसंस्करण' * इति श्रूयते । 'सर्व-
त्विदं ब्रह्म'† इति प्रतिपादितजगन्निमित्तोपादानभावस्य ब्रह्मण एव
'एतमितः प्रेत्याभिसंभविताऽहिम्'‡ इति प्राप्यत्वमवगम्यते । अ-
न्यत्र च—

त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।

ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं

समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥§

इति तमसः परस्य सकलकारणस्य सर्वज्ञस्य त्रिलोचनत्वादि-
लक्षणस्य ब्रह्मण एव सर्वोत्तरतः प्राप्यत्वमुच्यते । तस्माद-
तरतिः प्राप्तिवचनः । अन्यथा परमप्राप्त्याद्विश्वधिकात् पर-
कारणादुपरि वस्तुसद्भावे तदुपर्यापि वस्तुसद्भावप्रसङ्गेनानवस्था
वेदान्तवाक्यानां भवेत् । अतः सर्वातीतः परमशिव इति
सर्वोत्कृष्टत्वं ब्रह्मण एव ॥

यदुक्तं परिमितत्वमपि तत्राह—

बुद्धयर्थः पादवत् ॥ ३२ ॥

'चतुष्पात्'§ इत्युन्मानव्यपदेशो 'वाक् पादश्चतुष्पादः'
इतिवदुपासनार्थः ॥

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॥ ३३ ॥

अपरिमित एव यद्यपि परमेश्वरः । तथाऽप्यस्य स्थानवि-

शेषादवच्छिन्नानुसंधानं युज्यते, यथा वातायनादिस्थानसंव-
न्धात् प्रकाशादेः ॥

प्राप्यस्यापि प्रापकत्वं चास्तीत्याह—

उपपत्तेश्च ॥ ३४ ॥

प्राप्यस्यैव परमेश्वरस्य प्रापकत्वं चोपपद्यते, यथाऽऽह
'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'^१ इति । अतः परमेश्वरान्नास्ति परमिति
सिद्धम् ॥

८. अधिकरणम्.

तथाऽन्यप्रतिषेधात् ॥ ३५ ॥

पूर्वत्र विरूपाक्षात् परब्रह्मणः शिवाच्चास्ति परमिति निरू-
पितम् । पुनरिह तत्सदृशोऽस्ति न वा ॥

इति संशये पूर्वः पक्षः । परमेश्वरादुत्कृष्टवस्त्वभावेऽपि
जगत्कारणत्वेनेश्वरत्वादिना तत्सदृशोऽस्त्येव । तथा हि श्रूयते-
'सहस्रशीर्षा पुरुषः । सहस्राक्षः सहस्रपात्'^२ इत्यत्र कश्चित् पु-
त्र्यः । तस्य हि 'सहस्रशीर्षा पुरुषः'^२ इत्यादिना बहुमुखपादा-
दित्वं, 'पादोस्य विश्वा भूतानि'^२ इति जगद्विशिष्टत्वं, 'त्रिपा-
दस्यामृतं दिवि'^२ इति परमाकाशवर्तित्वं, 'तस्माद्विराडजायत
विराजो अधिपूरुषः'^२ इत्यव्यक्तहिरण्यगर्भोपादानत्वम् 'आदित्य-
वर्णं तमसस्तु पारे'^२ इति तमःपरत्वं 'तमेवं विद्वानमृत इह

भवति^१ इति मोक्षहेतुत्वं चावगम्यते । तस्य पुनः 'सहस्र-
शीर्षं देवम्'^२ इत्यारभ्य 'पतिं विश्वस्य'^३ इति विश्वपतित्वं
'नारायणः परं ब्रह्म'^४ इति नारायणशब्दवाच्यत्वं परब्रह्मत्वं
'परमात्मा व्यवस्थितः'^५ इति दहरोपास्यत्वं चावगम्यते ।
अतो नारायणोऽसौ परमेश्वरसमानधर्मा । एत एव हि परम-
ेश्वरस्य धर्माः—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।

सर्वव्यापी च भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥^६

इति मन्त्रोपनिषदि । 'विश्वतश्चक्षुस्त विश्वतोमुखः'^७ इति
महोपनिषदि । शिवसंकल्पे च 'सर्वतोमुखः' इति । अथ
शिरसि बहुमुखपादादिमत्त्वं परमेश्वरस्य श्रूयते ।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

तस्यावयवभूतेन व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥^८

इति जगदंशविशिष्टत्वं, 'हिरण्यगर्भं पश्यत'^९ इत्यादिषु हिरण्य-
गर्भकारणत्वं 'समस्तसाक्षि तमसः परस्तात्'^{१०} इत्यादिषु तम-
सपरत्वं, 'दहरं विपाप्मम्'^{११} इत्यादिषु दहरोपास्यत्वं 'ज्ञान-
शिवं शान्तिमत्यन्तमेति'^{१२} इत्यादिषु मोक्षहेतुत्वं 'सर्व-
ेश्वर्यसंपन्नः'^{१३} इत्यादिषु जगदीश्वरत्वं चावगम्यते । एतं
विश्वरूपत्वादिधर्मसाम्यमनयोर्नारायणपरमेश्वरयोः स्मृत्यादिषु
पूजाविधाने 'शिवं वा विष्णुमेव वा' इति समानतया विष्णु-
श्रूयते । समानमेव च तयोर्लोके पूजास्थानादिकं तत्प्रतिपाद-
कपुराणागमादिकं च । तस्मात् परमेश्वरसदृशः पुरुषो नारायणः ।

^१ तै. आ. ३-१२.

^२ महाना. ११.

^३ श्वे. ३.११.

^४ महाना. १-१२.

^५ श्वे. ४-१०.

^६ महा. १०-१९.

^७ कैवल्य.

^८ श्वे. ४-१४.

^९ अथर्वशिखा.

इति प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वरादुत्कृष्टं नास्ति यथा, तथा
सदृगपि नास्त्येव, जगत्कारणत्वेश्वरत्वादौ तदन्यप्रतिषेधात् ।
तथा. हि—

‘एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः य इमांल्लोकानी-
शत ईशनीयुः जननीयुः’^१

‘द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः’^२

‘य एको रुद्र उच्यते’^३

‘हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः’^४

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।

तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥^५

शिव एको ध्येयः शिवङ्करः सर्वमन्यत् परित्यज्य^६

यदा तमस्तस्य दिवा न रात्रिः

न स ह्य चासच्छिष्य एव केवलः ॥^७

इत्यादिभिः परमेश्वरादन्यस्य जगत्कारणत्वादौ निषेधः क्रि-
यते । अतः परमेश्वरेण सदृशः कश्चिन्नास्ति । परमशक्तिमत्त्वा-
निमित्तभूतः परमेश्वर एव । पुरुष उपादानमिति पुरुषस्य
हिरण्यगर्मकारणत्वम् । तस्य उपादानत्वात्, ईश्वरस्य निमित्तत्वा-
दुच्यते उभयोरपि जगत्कारणत्वम् । अत एव प्रतीयते ‘तस्मा-
द्विराद्’^८ इति हि पुरुषस्योपादानत्वं ‘हिरण्यगर्भं पश्यत जा-
यमानम्’^९ ‘द्यावाभूथी जनयन् देव एकः’^{१०} इति परमेश्वरस्य
निमित्तत्वं च प्रतिपाद्यते । सर्वज्ञात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः

^१अथर्वशिरः.

^२महा. १-१२.

^३तै. आ. १-१२.

^४श्वे. १-१०.

^५श्वे. ६-२०.

^६अथर्वशिखा.

^७श्वे. ४-१८.

^८तै. आ. ३-१२.

^९महा. १०-१९.

शिवाद्विश्वाधिकात् प्रथमं परप्रकृतिभूता परा शक्तिः प्रादुर्भवति । सा प्रथमभोक्तृत्वदशायां पुरुषः उच्यते, यः 'सहस्रशीर्षा पुरुषः'* इति श्रूयते । तदात्मन एव शिवात् सकलचेतनप्रपञ्चपरिणामः । अत एव 'सर्वो वै रुद्रः'† इति परमेश्वरस्य सर्वात्मताभिधानमुपक्रम्य पुरुषस्य नारायणस्य सर्वात्मत्वमुपदानत्वात् । कथमस्य सर्वात्मत्वमित्याशङ्क्यां 'पुरुषो वै रुद्रः'‡ इति 'पुरुषस्य विज्ञ सहस्राक्षस्य महादेवस्य धीमहि'§ इति च पुरुषोऽपि परमेश्वरस्य महाविभूत्या जगदाकार इति निरूपितम् । सर्वज्ञं सर्वशक्तिकं नित्यं स्वतन्त्रं विश्वाधिकं निमित्तभूतमेव परं ब्रह्म सर्वसमये वा स्यामिति संकल्प्य स्वात्मनोऽङ्गं पुरुषं विभजति । स्वविभक्त्वांशभूतेन सकलं जगद्भवतीति

‘तत् सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत् ।

तदनु प्रविश्य । सच्च त्यक्त्वाभवत् ।’§ इत्यादिना,

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

तस्यावयवभूतेन व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥¶

इत्यादिना च श्रुतिवाक्येनावगम्यते । निमित्तसंकल्पभूतत्वात् उपादानभावस्य निमित्तस्योपादानाधिक्यं, उपादानस्य निमित्तक्रमाविभागान्निमित्तधर्माणामुपादाने श्रवणम् । अतः परमेश्वरस्य सदृशमुत्कृष्टं वा वस्तु नास्त्येव ॥

अतोऽपि परमेश्वरेण सदृशं तदुत्कृष्टं च किञ्चिदपि वस्तु नास्तीत्याह—

* तै. ३-१२.

† महा. १-२१.

‡ महा. १६.

§ तै. २-६.

¶ श्वे. ४-१०.

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥

आयामो महाव्याप्तिः । 'सर्वाननशिरोग्रीवः' * 'विश्वतोमुखः' † इत्यादिभिः, 'अणोरणीयान्' ‡ इत्यारभ्य 'सर्वो ह्येष रुद्रः' § इत्येतत्पर्यन्तैर्महोपनिषद्वाक्यैः 'यो वै रुद्रः स भगवान्' § इत्यारभ्य 'यच्च सत्यम्' § इत्यन्तैराथर्व-वाक्यैश्च सकलजगद्गद्याप्तिप्रतिपादनपरैः । अनेन स्वधर्माश्रभूतेनोपादानपुरुषेण सर्वगतत्वमवगम्यते निमित्तस्य परब्रह्मणः । तस्मात् परमेश्वरस्य विभूतिमयं विश्वमिति तत्सदृशस्तदुत्कृष्टञ्च नास्त्येव ॥

१. अधिकरणम्.

एवं सर्वेश्वरतया सर्वात्मकतया स एव परमेश्वरः सर्वकर्मणां तत्तद्देवतारूपेण स्वरूपेण च फलदाता भवतीति निरूपयितुमाह—

फलमत उपपत्तेः ॥ ३७ ॥

इह पूर्वत्र सर्वेश्वरतया प्रतिपादितस्य परब्रह्मण एव सर्वानुष्ठातृणामनुष्ठानफलदातृत्वमुत्तान्यस्येति संशयः ॥

अनुक्षणविनाशिनोऽपि कर्मणोऽपूर्वव्यवधानेन कालान्तरभाविफलदाने सामर्थ्यमस्त्येव । ततः कर्मणः फलदातृत्वे सिद्धे तदतिरिक्ताप्रसिद्धपरमेश्वरकल्पने गौरवप्रसङ्गात् तस्य न फलदातृत्वमिति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु—परमेश्वरादेवाराधितात् सर्वेषां कर्मफलसिद्धिः । उपपत्तेः, सेवितराजादिवदुपासितात् परमेश्वरादुपासकानां फलसिद्ध्युपपत्तेः । न हि अचेतनस्य कर्मणोऽपूर्वस्य वा तारतम्येन प्रतिनियतं फलं ज्ञातुं दातुं सामर्थ्यमस्ति, सेवाक्रियायामचेतनायां तथाऽदर्शनात् । इह शास्त्रसिद्धस्य परमेश्वरस्याकल्प्यत्वाच्च कल्पनागौरवम् । तथा हि—‘एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेश्वरो लोकेश्वरश्च धिनीपति एष पद्मासाधु कर्म कारयति यमेश्वरो निनीपति’ इति श्रुतिरीश्वरस्यैव धर्माधर्मफलदातृत्वं तत्कारयितृत्वं च वदति । प्रत्युत अपूर्वस्यैवाश्रुतस्य कल्पने गौरवम् । तस्मात् कर्मसिद्धिराधितः परमेश्वरः फलदाता न कर्मेति निर्णयः ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३८ ॥

श्रूयते हि सर्वकर्मणामधिपतिः परमेश्वरः, तदाराधयत्वात् तत्फलदातृत्वाच्च—

गाथपतिं मेधपतिं रुद्रं जलापभेषजम् ॥

आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रम् ॥ इत्यादिषु ॥

पतन्मूला स्मृतिरापि परमेश्वरस्य सर्वयज्ञाधिपत्यं वदति—

सोमेनाराधयेद्देवं सोमं सोमाविभूषणम् । इति ॥

नाश्वमेधात् परो यज्ञो रुद्रस्याराधनं प्रति ॥

इति च रामायणम् । चमकेषु ‘वाजश्च मे प्रसवश्च मे ... धातुश्च मे ... विष्णुश्च मे’ इत्यादिषु च वाजादीनां वस्तूनां विष्णुर्वादीनां देवतानां देयत्वप्रतीतेः परिशेषादीश्वरस्य सर्वकर्मफलदातृत्वसिद्धिः । अतः परमेश्वर एव सर्वयज्ञाराध्यः सर्वफलदाता ॥

पक्षान्तरमाह—

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ३९ ॥

धर्ममेवोपपत्तेः श्रुतत्वाच्च फलदायिनं जैमिनिर्मेने । उपपत्तिः
कृप्यादेर्मर्दनादेश्च कर्मणः साक्षात् परंपरया वा फलसिद्धि-
निर्दर्शनम् । श्रुतं च कामिनः कर्तव्यतया कर्मविधानान्यथाऽ-
नुपपत्त्यां कर्मैवापूर्वरूपेण तत्तत्फलसाधनमिति ॥

पूर्वं तु वादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥४०॥

पूर्वोक्तं परमेश्वरस्यैव कर्मफलदातृत्वं भगवान् वादराय-
णो मन्यते, 'वायव्यं श्वेतमालमेत भूतिकामः...स पदैर्न भूतिं
गमयति' इत्यादिषु परमेश्वरात्मकतया वाय्वादीनां कर्मविधि-
वेव फलहेतुत्वव्यपदेशात् । तदभावे हि क्षणिकस्य कर्मणः
फलसाधनत्वनिर्वाहार्थमपूर्वत्वं कल्प्येत । वाक्यशेषोपपादितवि-
षयेक्षितफलसाधनत्वप्रकारसद्भावे तु स एव स्वीकर्तव्यः । यथा
वाक्यशेषस्य चिध्यपेक्षितं 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा एता रात्रीरुप-
यन्ति'† इत्यादिषु फलं स्वीक्रियते । 'यो वै रुद्रः स भग-
वान्' इत्यादिना वाय्वादिसर्वदेवतारूपत्वमीश्वरस्यावगम्यते अ-
थर्वशिरसि । तत्रैव परमेश्वरेण 'यो मां वेद स सर्वान् देवान्
वेद' इति स्वज्ञानात् स्वात्मकसकलदेवताज्ञानमुपपादितम् ।
अतः सकलदेवतारूपः सर्वकर्मारोध्यः सर्वफलदाता परमेश्वरः
परं ब्रह्म शिवः साक्षादुभापतिरिति सिद्धम् ॥

इति श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचिते ब्रह्ममीमांसाभाष्ये

तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः.

अथ तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः.

१. अधिकरणम्.

पूर्वत्र निरूपितो नित्यत्वादिगुणकस्तत्पदार्थः पशुह्यासकः
सर्वज्ञत्वादिगुणकस्तत्पदार्थः पतिरुपास्यः शिवश्च । तद्वि-
कथमुपासनमित्याकाङ्क्षायां तन्निरूपणमुत्तरत्राभिवर्तते—

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥१॥

सर्वेषु वेदान्तेषु दहराद्युपासनं श्रूयते । तदेकं उत शाखा-
भेदादिना भिन्नमेव इति संदेहः ॥

शाखाभेदेन प्रकरणभेदात् प्रतिशाखमुपासनं भिद्यते । तत्र
छान्दोग्ये तैत्तिरीयके च दहरोपासनमाह्वयते । एकत्र 'य आ-
त्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः'^१ इत्यारभ्य अपहतपाप्मा-
दयो गुणा आम्नाताः । अन्यत्र 'ऋतं सत्यम्'^२ इत्यारभ्य कृष्ण-
पिङ्गलत्वादयो गुणाः । तत्र गुणभेदेनोपासनं भिद्यते । छान्दोग्ये
पञ्चाग्निविद्यायां कौथुममिति नाम, बृहदारण्यके वाजसनेयमिति
नाम । तत्र नामभेदादुपासनं भिद्यते । मुण्डकशाखायां शिरो-
व्रताख्यो धर्मः श्रूयते 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां चदेत शिरोव्रतं
विधिवद्यैस्तु चीर्णम्'^३ इति । शिरोव्रतं नाम वेदव्रतविशेषः
आथर्वणिकान् प्रति विहितो नेतरान् प्रातः । अतो धर्मभेदादुपा-
सनाभेदः । ततः शाखादिभेदादुपासनाभेद इति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु—सर्ववेदान्तप्रत्ययं दहराद्युपासनमेकमेव, कर्म-
विधिष्विव चोदनाफलसंयोगरूपाख्यानामविशेषात् । विद्या

उपासीत इति चोदना तावत् शाखाभेदेऽप्यविशिष्टा । फल-
संयोगो ब्रह्मप्राप्तिरूपोऽविशिष्टः । वेद्यमपि वैश्वानरादिरूपं ब्र-
ह्माविशिष्टम् । आख्याऽपि वैश्वानरविद्येत्येवमादिरविशिष्टैवेत्येक-
मेवोपासनम् । विद्यादिभेदेऽप्युपासनं न भिद्यते । 'तस्मिन्
यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' इति छान्दोग्ये दहरविद्याविधिः । 'त-
स्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्यम्'^२ इति तैत्तिरीयके च । तत्र
स्थानाद्यभेदादुपास्यस्य ब्रह्मणोऽप्यभेदात् उभयत्रोक्तानां धर्मा-
णामविरोधाद्विद्यैक्यमेव । छान्दोग्यबृहदारण्यकशाखयोर्दुर्पजन्य-
पृथिवीपुरुषयोषिदाख्यस्याग्निपञ्चकस्य वेद्यतया यत् स्वरूपमा-
ज्ञातं तदुभयत्रापि समानम् । अतो न विद्याभेदः ॥

भेदादिति चेदेकस्यामपि ॥ २ ॥

अविशेषपुनःश्रुतिः प्रकरणान्तरसहिता भेदापादिका । अतो
न विद्यैक्यमिति चेत्—विद्यैक्येऽपि शाखान्तरे प्रतिपत्तभेदादु-
पपन्ना सा न भेदावहा ॥

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारोऽधि-
काराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

अथर्ववेदे 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत'^३ इति शिरोव्रत-
नियमः स्वाध्यायाङ्गत्वेन, न तु विद्याङ्गत्वेन 'नैतदचीर्णव्रतोऽ-
धीते'^३ इति तस्याध्ययनसंबन्धावगमात्, समाचारग्रन्थे
'इदमपि वेदव्रतेन व्याख्यातम्' इति तस्य वेदव्रतत्वप्रतिपा-
दनाच्च । 'ब्रह्मविद्याम्'^३ इत्यत्र ब्रह्मशब्दो वेदविषयः । तस्मा-
द्यथा सवहोमस्तेषामेव, तथा शिरोव्रतमपि । अतस्तच्च विद्या-
भेदे लिङ्गम् ॥

^१छा. ८-१-१,^२महा. १०-२३.^३मु. ३-२-१०, ११.

दर्शयति च ॥ ४ ॥

श्रुतिरेव विधैक्यं दर्शयति महोपनिषत्कैवल्योपनिषदो-
र्देहरविद्यायाम् ।

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ।

ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षम्^१

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं

त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।^२

इत्यादिना निर्दिष्टमीश्वरस्य रूपमपेक्ष्य रूपवत्त्वात् पाप्मजराम-
रणादिप्रसक्तौ छान्दोग्ये 'अथ यदिदमस्मिन्'^३ इत्यारभ्य तस्य
गुणाष्टकविशिष्टत्वं केवलमुच्यते । तत्र तत्र धर्मविशेषापादिका
पुनःश्रुतिः विद्याभेदिकेति शङ्काया अपि नावकाशः । ततश्चो-
दनाद्यविशेषात् सकलवेदान्तप्रत्ययभेदमेवोपासनम्, तद्भेदक-
शब्दान्तराद्यदर्शनात् इति सिद्धम् ॥

२. अधिकरणम्.

सर्ववेदान्तचोदितानां विद्यानामैक्यप्रतिपादनफलमाह—

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विविशेषवत् समाने च ॥

इह विधैक्ये सत्यपि शास्त्रान्तरसिद्धानां गुणानां शास्त्रा-
न्तर उपसंहारो न कर्तव्यः कर्तव्यो वा ॥

इति संशये न कर्तव्य इति पूर्वः पक्षः । तथा हि—
छान्दोग्ये दहरविद्यायामपहतपाप्मत्वादयो गुणा आम्नाताः । न
तैत्तिरीये, न तत्र तेषामुपसंहारः कर्तव्यः, तत्रानुक्तत्वात् ।
विद्योपकारस्तत्रोक्तैरेव कृष्णपिङ्गलत्वादिगुणैर्भविष्यति, किमु-
पसंहारेणाचोदितेन ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—सर्वत्र विद्यैक्ये छान्दोग्यादिषु-
क्तानां दहराद्युपासनधर्माणामपहतपाप्मत्वादीनामन्यत्र तैत्तिरी-
यकदहरादिषूपसंहारः कार्यः, विद्योपकाररूपस्यार्थस्यैकत्वात् ।
यथैकविधिशेषतया विहितानामङ्गानामग्निहोत्रादिषु, तथैव चोद-
नादिभिः समाने दहराद्युपासने गुणानां प्राप्तिरिति गुणोपसं-
हारो युक्त एव ॥

३. अधिकरणम्.

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥६॥

वाजिनां छन्दोगानां चोद्गीथे प्राणदृष्ट्योपासनं शत्रुपरिम-
वफलं विधीयते । तत्र विद्यैक्यमस्ति न वा ॥

इति संदेहे चोदनाद्यविशेषाद्विद्यैक्यमस्तांति पूर्वः पक्षः ॥

ननु वाजिनां प्राणदृष्ट्योपासनमुद्गानकर्तृविषयमिति 'अथ
हेममासन्यं प्राणञ्च्युत्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण
उदगायत्' इति शब्दात् प्रतीयते । छन्दोगानां तु तदुद्गान-

कर्मविषयमिति 'य एवायं मुख्यप्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे'।
इति शब्दात् प्रतीयते । तस्मादन्यथात्वं विद्ययोनैक्यमिति चेत्-
न, उपक्रमाविशेषात् । 'इया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ।
ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस-
र्धन्त ते ह देवा ऊचुः हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययाम' इत्ये-
कत्र 'देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा
उद्गीथमाजहुरनेनैनानभिभविष्यामः' ^{१३} इत्याद्यन्यत्र । तस्मादुपक्र-
माविशेषादुभयत्र विद्यैक्यमिति ॥

सिद्धान्तमाह—

न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् ॥

नोभयत्र विद्यैक्यम्, प्रकरणभेदात् । तथा हि—'ओमित्ये-
तदक्षरमुद्गीथमुपासीत' ^{१४} इत्युद्गीथावयवभूतप्रणवविषयं प्रकरणं
छन्दोगानाम् । वाजिनां तु कृत्स्नोद्गीथविषयमिति प्रक्रमभेदेन
रूपभेदाद्विद्याभेदः । यथैकस्यामपि शाखायामुद्गीथोपासनेषु हि-
रण्मयहृष्टेः परोवरीयस्त्वादिदृष्टिर्भिद्यते, तथाऽत्रापीति ॥

आशङ्क्य परिहरति—

संज्ञातश्चेत् तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥

उद्गीथविद्येति संज्ञैक्यादुभयत्राभेद इति न वाच्यम् ।
अस्ति हि विधेयभेदेऽपि संज्ञैक्यम् । यथा नैयमिकाग्निहोत्रे
कुण्डपायिनामयनाग्निहोत्रे च नामैक्येऽपि कर्मभेदः । तद्वदत्रापि
न विरोधः ॥

४. अधिकरणम्.

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

छान्दोग्ये 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत'* इति श्रूयते ।
इह प्रणवोद्गीथयोस्तन्त्रमुपासनमुतैकविषयम् ॥

इति संशये पूर्वः पक्षः—यद्यपि प्रणवोद्गीथयोरिह सामा-
नाधिकरण्यमवगम्यते । तच्च विशेषणविशेष्यतया संभवति ।
तथाऽप्युद्गीथेन प्रणवो विशेष्यते प्रणवेन चोद्गीथ इत्यत्र नि-
यामकाभावात् तन्त्रमुपासनमिति ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तन्त्रमुद्गीथप्रणवयोरुपासनम् । छान्दो-
ग्ये प्रथमप्रपाठके 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ओमित्युद्गायति'*
इति तस्योपक्रमवदुत्तरत्रापि 'खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं
भवति'† इति प्रणवस्योपास्यत्वव्याप्तेरुद्गीथेन प्रणवो विशेष्यत
इति प्रणवविषयत्वमेष समञ्जसम् । अतः प्रणव एवोपास्यः ॥

५. अधिकरणम्.

सर्वाभिदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति
प्राणो वाच ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च'‡ इति छान्दोगा वाजिनश्च प्राणवि-
द्यायां ज्येष्ठत्वादिकमधीयते कौषीतकिनश्च । त्रिभिरपि वागा-

दिकरणग्रामस्थितेस्तत्कार्यस्य च प्राणहेतुत्वेनैकरूपेण प्राणस्य
ज्यैष्ठ्यमुपपादितम् । वागादिगतवसिष्ठत्वादिसंवन्धित्वं प्राणस्यो-
भयेषामुक्तम् 'अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तत्
वसिष्ठोऽसीति अथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्
प्रतिष्ठाऽसीति अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदहं सम्पदस्मि त्वं तत्
सम्पदसीति अथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदा-
यतनमसीति * । कौषीतकिनां तु अनुक्तमपि वसिष्ठत्वादिकमुपसं-
हार्यं न वा ॥

इति संशये 'य एवं विद्वान्'† इत्येवंशब्देन तच्छास्त्रोक्तगु-
णानामेवावधारणान्नोपसंहार्यम् ॥

इति प्राप्तं ब्रूमः—अनुक्तमपि वसिष्ठत्वादिकमुपसंहार्यमेव,
एवंशब्देनानुक्तगुणानामप्युक्तगुणवत् परामर्शात्, प्राणस्य
गुणिन एकत्वेन गुणानामपि बुद्धिस्थत्वात्; यथा देवदत्तो
मधुरायामध्यापयन् दृष्टः पुनर्माहिषमत्यामनध्यापयन्नप्यध्यापक-
त्वेन प्रत्यभिज्ञायते, तथा छान्दोग्यादिषु वसिष्ठत्वादिनोक्त-
पुनरन्यत्र केवल उच्यमानोऽपि तद्गुणविशिष्टतया बुद्धिस्थो भ-
वति । नत एवंशब्देन परामर्शाद्वसिष्ठत्वादिकमुपसंहार्यमिति ॥

६. अधिकरणम्.

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥

अभेदादिति शेषः । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'‡ 'आनन्दो
ब्रह्म'§ 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्'¶ 'आकाशशरीरं

* छा. १-१-१४, † कौ. ४-२०. ‡ तै. २-१. § तै. ३-६, ¶ महा. १२.

ब्रह्म, सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम्, शान्तिसमृद्धम्* इत्यादि-
जानन्दादयो गुणाः परविद्यासु प्रधानस्य ब्रह्मणः श्रूयन्ते । ते
सर्वासु परविद्यासूपसंहार्या न वा ॥

इति संशये नोपसंहार्याः, ब्रह्मण एकस्यानन्दाद्यनेकगु-
णविशिष्टत्वेऽनेकत्वप्रसङ्गात्, विशेषणानां विशेष्यभेदकत्वात्,
अथवा—तत्रतत्रोक्तगुणमात्रेणापि तदुपासनसंभवात् ॥

इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते । गुणिनो ब्रह्मण एकत्वात् सर्वासु
परविद्यासूपसंहार्या आनन्दादयः । नीलो धवलो रक्तः खण्डः
पूर्णशृङ्ग इत्यादीनां विरुद्धधर्माणामेव धर्मिभेदावहत्वम्, न तु
बालं सुगन्धि महदुत्पलमित्यत्र नीलिमादीनाम् । अतो ब्रह्मणो
गुणानामविरोधान्न भेदावहत्वम् । तस्माद्गुणिनो ब्रह्मणः सर्व-
प्रभेदादुपसंहार्या आनन्दादय इति ॥

७. अधिकरणम्.

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरूपचयापचयौ हि
भेदे ॥ १२ ॥

‘तस्य प्रियमेव शिरः’† इत्यादौ प्रियशिरस्त्वादयो ब्रह्मध-
र्मत्वेन श्रूयन्ते । तेऽप्यानन्दादय इव परविद्यासूपसंहार्या न वा ॥

इति संशये तेषामपि सत्यसंकल्पत्वादिवदुपसंहारे को
विरोधः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—नास्ति प्रियशिरस्त्वादीनामुपसंहारः पर-
विद्यासु, सत्यसंकल्पत्वादिवत् तेषां ब्रह्मगुणत्वाभावात् । उपसं-

द्वारे तेषां ब्रह्मणः सावयवत्वेनोपचयापचयप्रसक्तिः । भेदो हि प्रियशिरस्त्वादीनां स्वाभाविकत्वे ब्रह्मणो भवति । अतस्तेषां नोपसंहारः ॥

आनन्दादीनामिव सर्वज्ञत्वादीनां ब्रह्मस्वरूपान्तर्भूतगुणत्वादविरोध इत्याह—

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥

इतरे सर्वज्ञत्वनित्यतृप्तत्वादयो ब्रह्मस्वरूपान्तर्गततया अर्थसामान्यात् सर्वत्रोपसंहार्याः । प्रियशिरस्त्वादीनामनन्तर्भावान्नोपसंहार इति ॥

८. अधिकरणम्.

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

इह पूर्वोक्तानन्दमयात्मानुसन्धानवदन्नमयादीनामप्यनुसन्धानं नियतमस्ति न वेति संशयः ॥

अन्नमयादिसर्वान्तरस्यानन्दमयस्यान्नमयाद्यनुसन्धानक्रममन्तरेण तदन्तरत्वेनानुसन्धानायोगात् तेषामनुसन्धानं नियतम् ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—अन्नमयादीनामनुसन्धानं न नियतम्, प्रयोजनाभावात् । तस्यानन्दमयब्रह्मासिद्धिर्हि प्रयोजनम् । अतस्त्वसिद्धिपर्यन्तमेवान्नमयादीनामनुसन्धानमिति तेषामनियतमनुसन्धानम् ॥

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

‘एतमन्नमयात्मानमुपसंक्रम्य’* इत्यादिषु प्रत्येकमात्मशब्दा-
न्नमयादीनामन्नाद्यधिष्ठातृचेतनत्वमवगम्यते । ब्रह्मव्यतिरिक्तानां
चेतनानां मुमुक्षुध्येयत्वनिषेधात् ध्यानकाले तेषां नानुसंधानम् ।
तथाऽथर्वशिखायाम् ‘शिव एको ध्येयः शिवंकरः सर्वमन्यत्
परित्यज्य’ इति शिवव्यतिरिक्तानां मुमुक्षुध्येयत्वं निषिध्यते ।
अतोऽन्नमयादीनामनुसंधानानियमः ॥

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥

इह ‘अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः’† इत्यात्मगृहीतिः
परमात्मविषया, न प्रत्यगात्मविषया, ‘आत्मन आकाशः सं-
नृतः’‡ इत्यत्रात्मशब्दवत् । तदिदमुत्तरात् ‘आनन्दमयमात्मान-
मुपसंक्रम्य’§ इत्येतस्मादवगम्यते । तस्मादानन्दमयात्मानुसन्धानं
यत्नं ब्रह्मानुसंधानमिति ॥

अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥

अन्नमयादीनामप्यात्मशब्दान्वयात् परमात्मत्वेन तेषामप्यनु-
संधानमविरुद्धमिति चेत्—न, ‘अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः’†
आनन्दमयस्य परमात्मनः शिवस्यान्नमयादिभ्यो भिन्नत्वावगमात्
‘शिव एको ध्येयः शिवंकरः सर्वमन्यत् परित्यज्य’¶ इति
श्रुतेतरपरित्यागपूर्वकं शिवस्यैकस्यैव ध्येयत्वावधारणात् । अत्र
‘निरस्तसमस्तकलङ्कतया निखिलमङ्गलभाजनतया च शिव-
ध्यानेन परं ब्रह्मोच्यते । यद्विरूपाक्षं कृष्णपिङ्गलं तदनुसंधान-
निरस्त्यादि तत्सारूप्यापत्तिर्मुक्तिः । अतो यथोपासनं फलमिति

तद्व्यतिरिक्तानां शिवताशन्यानामनुसंधानं न शिवत्वापादकम् ।
अत आनन्दमयः शिव एक एवानुसंधेय इति ॥

९. अधिकरणम्.

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥

‘यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद’* इत्यारभ्य ‘किं मे
वासः’* इति वागादीन् प्रति प्राणप्रश्नस्योत्तरं अपां प्राण-
वासस्त्वमुक्त्वा ‘तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेत-
मेव तदनमनसं कुरुते’* इति श्रूयते । अत्राचमनं प्राणवासस्त्वं
चेत्युभयं विधीयते उत प्राणवासस्त्वमेव ॥

इति संशये विशेषाभावादुभयमपीति प्राप्ते—आचमनस्य
स्मृत्याचारेण प्राप्तत्वादप्राप्तं प्राणवासस्त्वमेवापूर्वं विधीयते ।
अप्राप्तस्यैव विधेयत्वाख्यानादनुवादसरूपे विधिकल्पना । तस्मा-
दपूर्वं प्राणवासस्त्वानुसंधानमेव विधेयमिति युक्तम् ॥

१०. अधिकरणम्.

समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥

अग्निरहस्ये बृहदारण्यके च शाण्डिल्यविद्याऽऽज्ञायते ।
एकत्र ‘आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं सत्यसं-

सिद्धान्त उच्यते—

न वा विशेषात् ॥ २१ ॥

नात्र विद्यैक्यम्, आदित्याक्षिस्थानविशेषसंवन्धित्वेनोपास-
भेदात् । अतस्तत्र नियते नामनी ॥

१२ अधिकरणम्.

दर्शयति च ॥ २२ ॥

छान्दोग्ये तैत्तिरीये च मण्डलविद्याऽऽज्ञाता । सैका वि-
ज्ञा वा ॥

इति संशये पूर्वः पक्षः । एकत्र 'य एषोऽन्तरादिते
हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आग्रणस्वात् स-
र्व एव सुवर्णः'* इत्यादि श्रूयते । अन्यत्र 'य एषोऽन्तरादिते
हिरण्मयः पुरुषः'† इति त्रयीमयमण्डलान्तर्वर्तिपुरुषान्तर्वर्तितया
हिरण्मयं पुरुषं प्रस्तुत्य तस्योपसंहारे 'सर्वो वै रुद्रः'‡ इत्या-
रभ्य 'नमो हिरण्यवाहवे हिरण्यपतयेऽम्बिकापतये उमापतये नमो
नमः'§ इत्यन्तेन सर्वात्मत्वं हिरण्यबाहुत्वमुमापतित्वं चाज्ञायते ।
तत्रैकत्र सर्वाङ्गसुवर्णत्वमन्यत्र बाहुमात्रसुवर्णत्वमिति रूपभेदः ।
एकत्र 'सर्वो वै रुद्रः'† इति सर्वात्मत्वं अन्यत्र 'सर्वेषां लो-
कानामीष्टे'* इति सर्वाधिपत्यमिति धर्मभेदः, तस्मात् वि-
द्यैक्यम् ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—न भिन्ना विद्या । ‘अन्तरादित्ये’* इति स्थानैक्यमेव विद्यैक्यं दर्शयति । तैत्तिरीये ‘हिरण्मयः पुरुषः’† इत्युपक्रमेण बाहुग्रहणस्योपलक्षणत्वादुपसंहारेऽपि सर्वाङ्गसुवर्णत्वमेव विवक्षितम् । जगदीश्वरस्यापि तदनुप्रवेशात् तदात्मत्वं युक्तमिति निरूपितम् । तस्मादुभयत्रैकस्य प्रतिपाद्यत्वादुभयत्राप्युपापतित्वादिकमुपसंहार्यम् ॥

१३. अधिकरणम्.

संभृतियुव्याप्त्यपि चातः॥ २३ ॥

राणाम्
संभृतानां खिलेषु श्रूयते । ‘ब्रह्म ज्येष्ठा वीर्यां प्रथमोत् जज्ञे । तेनार्हति ब्रह्मणा स्फूर्धितुं कः’‡ इति । यानि लोके त्रिपुरदहनकालकूटकवलनादीनि, तानि निरतिशयानि ज्येष्ठान्यनन्यसुकराणि श्रीकण्ठमूर्त्यादिभिः संभृतानि परं ब्रह्म आततान संपादितवत्, ज्येष्ठं हरिहराहेरण्यगर्भादिभ्योऽप्युत्कृष्टं ब्रह्मेति । अग्रे तेषामपि सृष्टेः प्राग्दिवं परमाकाशपदमाततान व्याप्याध्यास्तेति । तेषां महतां वीर्याणां संभृतिर्द्युव्याप्तिश्च सर्वासु परविद्यासूपसंहार्या न वा ॥

इति संशये ब्रह्मगुणत्वाविशेषादनारभ्याधीतत्वाच्च सर्वासु परविद्यासूपसंहार्या ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—न सर्वासूपसंहार्या व्याप्तिः । सामर्थ्यादल्पस्थानव्यतिरिक्तेषूपसंहार्या । ‘देवा ह वै स्वर्गं लोक-मगमंस्ते देवा रुद्रमपृच्छन् को भवानिति’§ इति निरतिशयसुखा-

स्पदतया स्वर्गशब्दवाच्यं ब्रह्मादिपदेभ्योऽपि महत्तरं महास्थानं
हि श्रूयते । ततः स्वल्पस्थानव्यतिरिक्तेषु वैश्वानराद्युपासनेषु
द्युव्याप्तिरूपसंहार्येति । तत्सहचारान्महाधीर्यसंभृतिरपि तत्रैवोप-
संहार्या ॥

१४. अधिकरणम्.

पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् ॥

छान्दोग्यतैत्तिरीयकयोः पुरुषविद्याऽऽज्ञाता । 'पुरुषो वाव
यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत् प्रातःसवनम्' * इत्या-
दिरेकत्र 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी
शरीरमिध्ममुरो वेदिः' † इत्यादिरन्यत्र । सोमयज्ञाभिज्ञा मिज्ञा
वेति संशयः ॥

उभयत्र पुरुषविद्येति नामाभेदाद्यज्ञाययवकल्पनासाम्याच्च
अभिज्ञा ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—तैत्तिरीये समाम्नातानां यजमानपत्न्या-
दीनां यज्ञावयवानां सवनत्रयादीनां च छान्दोग्येऽनाम्नानात्,
तत्रान्यथैव सवनत्रयादिकल्पनाच्च, मिज्ञैवोभयत्र पुरुषविद्या ।
तैत्तिरीयके हि 'यत् सायं प्रातर्मध्यंदिनं च तानि सवनानि' ‡
इति सवनत्रयकल्पनम् । छान्दोग्ये पुरुषायुषं त्रेधा विभज्य सव-
नत्रयकल्पनम् । तैत्तिरीये फलाश्रवणात् 'ब्रह्मणे त्वा महस ओ-
मित्यात्मानं युञ्जीत' § इति ब्रह्मविद्यामभिधाय 'ब्रह्मणो महिमान-
माप्नोति' ¶ इति तत्फलं चाभिधाय 'तस्यैवं विदुषः' † इत्यादिनाऽऽ-
ज्ञाता पुरुषविद्या प्रस्तुतब्रह्मविद्याङ्गमिति तत्फलं ब्रह्मप्राप्तिरेव ।

उक्तो गे 'प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति'* इति फलं श्रुतम् ।
 ततः फलभेदादवयवभेदाच्च न विद्यैक्यमिति ॥

१५. अधिकरणम्.

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥

तैत्तिरीयाणामुपनिषदुपक्रमे श्रुतौ 'शं नो मित्रः शं वरुणः'†
 'सह नाववतु'† इति मन्त्रौ विद्याङ्गभूतौ न वा ॥

इति संशये विद्यासन्निधिवशाद्विद्याङ्गभूताविति प्राप्ते उच्य-
 ते—यथा आथर्वणिकानामुपनिषदारम्भे पठितः 'शुक्रं प्रविध्य
 हृदयं प्रविध्य' इत्यादिमन्त्रो हृदयवेधादिप्रकाशनसामर्थ्यरूपा-
 लिङ्गादभिचारशेषः । यथा वा ऐतरोयिणां वाजसनेयिणां चो-
 पनिषदारम्भे पठितं महाव्रतं प्रवर्ग्यरूपं च कर्म श्रुत्यादिविनियो-
 गात् क्रतुशेषः । तथेमावापि मन्त्रौ 'ऋतं वदिष्यामि...तेज-
 सि नावधीतमस्तु'† इत्यादिलिङ्गादध्ययनशेषभूतावेव न वि-
 द्याङ्गभूतौ, प्रयोजनभेदात्, श्रुतिलिङ्गवाक्येभ्यः सन्निधेर्दुर्बल-
 त्वात् ॥

१६. अधिकरणम्.

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दस्तु-

त्युपगानवत् तदुक्तम् ॥ २६ ॥

विदुषो ब्रह्म प्राप्नुवतः पुण्यपापयोर्विमोचनमेकस्यां शाखा-
 नामाज्ञातम् । विमुक्तयोः पुण्यस्य प्रवेशस्थानं सुहृदः, पापस्य

प्रवेशस्थानं शत्रव इति एकस्यां शाखायामाज्ञातम् । अन्यस्यां विमोचनं प्रवेशस्थानं चेत्युभयमाज्ञातम् । सर्वं चिन्तनार्थमेव । इह विमोचनं प्रवेशस्थानं चेत्यनयोः समुच्चयेन सर्वत्र चिन्तनम् ? उत विकल्पेनेति संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम् ? 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विपन्तः पापकृत्याम्' इति शाट्वायनके श्रूयते । तण्डिशाखायाम् 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोः मुखात् प्रमुच्य' * इति श्रूयते 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' † इति चाथर्वणे । अत्र विदुषः पापपरित्यागप्रतिपादकश्रुतौ परित्यक्तयोः पुण्यपापयोः प्रवेशस्थानं नोपसंहार्यम्, परित्यागश्रुतावश्रुतत्वात् ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—हानिर्विमोचनं, उपायनं प्रवेशः । केवलहानावाज्ञातायां केवलोपायने चाज्ञाते इतरेतरसमुच्चय एव न्याय्यो न विकल्पः । उपायनशब्दस्य हानिवाक्यशेषत्वात् तच्छेषत्वम्, त्यक्तयोः प्रवेशस्थानवाचित्वेन तदपेक्षत्वात् । प्रदेशान्तराज्ञातवाक्यस्य प्रदेशान्तरवाक्यं कथं शेषभूतमिति चेत्—यथा 'वानस्पत्याः कुशाः' इत्येतद्वाक्यशेषभूतं 'औदुम्बर्याः कुशाः' इत्येतत् तद्विशेषकं प्रदेशान्तरस्थम् । यथा 'देवासुराणां छन्दोभिः' इत्येतच्छेषभूतं 'देवच्छन्दांसि पूर्वम्' इति प्रदेशान्तरस्थम् । यथा 'षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति' ‡ इत्येतच्छेषभूतं 'समयाविषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रम्' § इति । यथा 'ऋत्विज उपगायन्ति' इत्येतच्छेषभूतं 'नाध्वर्युरुपगायेत्' ¶ इति पर्युदासवाक्यम् । एवमुपायनवाक्यस्य हानिवाक्यशेषतया संभवन्त्यां गतौ न विकल्पो न्याय्यः । तदुक्तं प्रथमतत्वे

* छा. ८-१३. † मु. ३-१-३, ‡ तै. सं. ६-६-११. § तै. सं. ६-३-१.

‘अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य’* इति स्तुत्यर्थं प्रकर्षार्थं वेति । नन्वर्थवादः कथं देशान्तरस्थार्थवादसापेक्ष इति चेत्—न, सामोपास्तिस्तावकत्वेन श्रुतस्य ‘एकविंशो वा इतोऽसावादित्यः’ इत्यर्थवादस्यैकविंशत्वनिर्णयाय तैत्तिरीयकगत-सत्रप्रकरणस्थार्थवादापेक्षत्वदर्शनात् । ‘द्वादशमासाः पञ्चर्तव-स्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः’† इति हि तत्र संख्या-निर्वाह उक्तः । ततोऽर्थवादत्वेऽप्युपायनमुपसंहार्यम् । हानोपा-यनयोरेकत्राप्यवगतिरस्ति कौपीतकिश्रुतौ ‘तत् सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ति अप्रिया दुष्कृतम्’‡ इति । अतस्तयोः समुच्चयः ॥

१७. अधिकरणम्.

सांपराये तर्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये॥२७॥

पूर्वोक्तं पुण्यपापविमोचनं देहवियोगकाल एव चिन्तनीयं उत मार्गे वा ॥

इति संदिह्य पूर्वपक्षं प्रवर्तयति । तथा हि—‘अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्...धूत्वा शरीरम्’§ इति कुत्रचिद्देहवियो-गकाल एव श्रुता सुकृतदुष्कृतहानिः । कुत्र चित् ‘स आग-च्छति विरजां नदीं तां मनसाऽप्येति तत् सुकृतदुष्कृते विधू-नुते’‡ इत्यध्वानि श्रुता । एवमुभयश्रुतिसद्भावेऽपि सांपराये देहवियोगकाल एव चिन्तनीया, तदूर्ध्वं ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरेकेण

प्राप्तव्यस्य कर्मसाध्यस्य सुखदुःखभोगस्याभावात् । तथा ह्यधी-
यतेऽन्ये 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये'^४
इति देहवियोगादूर्ध्वं ब्रह्म प्राप्तमेव ॥

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥

देहवियोगकाले पुण्यपापविमोचनश्रुतेस्तदूर्ध्वं ब्रह्मप्राप्तिश्रुतेः
उभयत्र श्रुत्यविरोधाद्धेतोः 'तत् सुकृतदुष्कृते विधूयते'^५ इति
श्रुतिखण्डच्छन्दतो नेतव्यः, 'एतं देवयानं पन्थानमापद्य'^६ इति
वाक्यखण्डात् प्रागुपनेतव्यः ॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेलोकवत् ॥ २९ ॥

देहवियोगकाले सर्वकर्मक्षयेऽपि गतिविधिरूपपन्न एव ब्रह्मो-
पासकानाम्, तत्र विहाररूपार्थोपलब्धेः । 'स स्वराङ्गवति तस्य
सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'^७ इति दृश्यते । लोकवत्, यथा
लोके राजाश्रितानां पुरुषाणामनितरपुरुषसाधारणसर्वार्थसिद्धिः ।
अतो मार्गश्रुतिरपि न बाध्यते, देहवियोगकाले सकलकर्मक्षयेऽपि
विद्यामाहात्म्याल्लिङ्गशरीरावस्थानेन मार्गगतिः, तत्तद्देशविहार-
न्द्रसंवादादिसर्वार्थसिद्धिसंभवादिति ॥

एवं प्राप्ते सिद्धान्त उच्यते—

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥

देहवियोगकाले विरजानद्यातिक्रमणकाले च इत्युभयथा क-
र्मक्षये सत्येव देवयानगतेः प्रयोजनवत्त्वम् । अन्यथा देहवियो-
गकाल एव सर्वकर्मक्षये तदनन्तरमेवासौ मुक्त इति देवयान-

* छा. ६-१४-२.

† कौ. १-३.

कौ. १-४.

§ छा. ७-२५-२.

गतेर्निष्प्रयोजनत्वात् देवयानगतिश्रवणस्य 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'* इति देवयानेन ब्रह्मप्राप्त्यनन्तरमेव धीविकासादिरूपस्वरूपाविर्भावश्रवणस्य च विरोधः स्यात् । एवं च यद्यपि विद्यासामर्थ्याद्देवयानेन गतिस्तत्तद्देशविहारचन्द्रसंवादादिकमग्रिमविहारादिवदुपपद्यते, तथाऽपि यावद्ब्रह्मप्राप्तिर्धीसंकोचरूपसंसारानुवृत्तिः विद्यासामर्थ्यान्नोपपद्यत इति तन्मूलभूतकर्मलेशानुवृत्तिरवश्यमेष्टव्या । न च परमेश्वरसंकल्पविशेषादेव तदनुवृत्तिः स्यादिति वाच्यम्, तस्यैवास्माभिः कर्म- (मूल)तयोच्यमानत्वात् । न ह्यस्मन्मते विहितनिषिद्धाचरणप्रयुक्तपरमेश्वरसंकल्पव्यतिरेकेण पुण्यपापे स्तः ॥

ननु ब्रह्मप्राप्त्यनन्तरं धीविकासादिस्वरूपाविर्भावश्चेत् तावत्पर्यन्तं धीसंकोचहेतुकर्मानुवृत्त्या भाव्यम् । कथं विरजानद्यतिक्रमणानन्तरमेव कर्मक्षयः ॥

उच्यते—प्राकृतप्रपञ्चसीमावध्यतिक्रमणमेव परमाकाशरूपपरमेशिवपदप्राप्तिरिति सैव 'परं ज्योतिरुपसंपद्य'* इत्यनेन ब्रह्मप्राप्तिर्विवक्षिता । विष्णुपदसंबन्धिनी विरजानदी प्राकृतप्रपञ्चसीमावधिः । तदनुप्रवेशतः प्रक्षीणसर्वकर्मलेपा योगिनो विष्णुपदाधूर्ध्वमप्राकृतेशिवपदं परमानन्दमयमनुविशन्ति । तथा हि श्रूयते 'सोऽध्वनः पारमाप्रोते तद्विष्णोः परमं पदम्'[†] इति । अतो न विरोधः ॥

१८. अधिकरणम्.

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥

पूर्वत्राभिहितमुपासकानां पुण्यपापविमोचनं, ब्रह्मप्राप्तिश्च ।
तदिहाधिकारिकाणामधिकारभोगमन्तरेण मुक्तिरस्ति न वेति
संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम् ? वसिष्ठादीनामधिकारिणां तत्र तत्र
पुराणादिषु जन्मान्तरश्रवणात् तेषां मुक्तिर्नास्त्येव । अतस्तत्त्व-
विदां पाक्षिकी मोक्षप्राप्तिरिति ॥

अत्रोच्यते—अधिकारिपुरुषाणां देहपातादूर्ध्वमपि फलान्तरा-
नुभव एव आ प्रारब्धाधिकारहेतुकर्मविनाशात् । एवं च याव.
दधिकारसमाप्तिस्तावत् तद्धेतुकर्मानुभवाय तत्रैव तेषामवस्थिति-
र्नार्चिरादिप्राप्तिः । ज्ञानिनामपि प्रारब्धं कर्मानुभवादेव नश्यति ।
अतोऽधिकारिणामधिकारानिवृत्तेरनन्तरं मुक्तिरिति तत्त्वविदां न
पाक्षिकी मोक्षप्राप्तिरिति ॥

१९. अधिकरणम्.

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमाना-

भ्याम् ॥ ३२ ॥

उपकोसलाद्युपासनेष्वर्चिरादिगतिरस्मायते । सां किं त
न्निष्ठानामेव, उत सर्वोपासकानामिति संशयः ॥

छान्दोग्ये पञ्चाग्निविद्यायामुपकोसलविद्यायां चार्चिरादिगतिः
पठिता, पाशुपतविद्यायामथर्वशिरसि सूचिता, शाण्डिल्यविद्या-
दिषु न पठिता । प्रकरणवशात् यासु श्रुता तास्वेव नियता
नापरासु ॥

इति पूर्वपक्षे प्राप्ते ब्रूमः—यासु श्रुता तास्वेवेति न नि-
यमः, अपि तु सर्वासूपासनासु भवति । तथा सत्येव श्रुति-
स्मृतिभ्यामविरोधः । पञ्चाग्निविद्यायां 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा
तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति'* इत्यविशेषेण श्रुतिः । स्मृ-
तिरपि 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः'† इत्यविशेषका । ततः सर्वेषा-
मुपासकानामर्चिरादिगतिर्नियतैव । केचिदाहुः—अनियमः, सर्वेषा-
मुपासकानामर्चिरादिगतौ नियमाभावः ; तथा सति श्रुतिस्मृतिभ्या-
मविरोध इति । तन्नापि न दोषः । निरन्वयोपासकानां तदपे-
क्षाभावादिति ॥

२०. अधिकरणम्.

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्या-
मौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥

गार्गीब्राह्मणे—'अस्थूलमनण्वहस्वम्'‡ इत्यादौ ब्रह्मबोधाय
केचन निषेधाः श्रुताः । आथर्वणे च 'यत् तदद्रेक्ष्यमग्राह्यम-
गोत्रमवर्णम्'§ इत्यादौ श्रुताः । तेषामानन्दादिवदुपसंहारोऽस्ति
न वेति संशयः ॥

किं प्राप्नोति ? तेषां निषेधानामानन्दादिवत् गुणत्वाभा-
वान्न सर्वासु परविद्यासूपसंहारः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—अक्षरसम्बन्धिनीनां निषेधाधियां सर्वासु
परविद्यासूपसंहारो युक्तः, गुणिनो ब्रह्मणः सर्वत्रैकत्वात् । ए-
तैर्हि गुणैः सकलेतरव्यावृत्तब्रह्मानुसन्धानोपपत्तिर्नान्यथा, हेयगु-
णसंवन्धानर्हा आनन्दादयो हि प्रत्यगात्मनः सकाशात् ब्रह्मणो
व्यावर्तकाः, प्रधानानुवृत्तित्वं गुणस्य स्वभावः । यथा जाम-
दग्न्यचतूरात्रपुरोडाशाद्युपसद्गुणभूतस्य 'अग्निर्होत्रं वेत्वध्वरम्'
इत्यादिमन्त्रस्य सामवेदपठितत्वेन सामवेदस्वरस्योच्चैस्त्वस्य
प्राप्तावपि याजुर्वेदिकप्रधानोपसद्गुणवृत्तित्वादुपांशुगुणत्वम् । तदु-
क्तं प्रथमे काण्डे 'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसं-
योगः'* इति ॥

नैतावता सर्वेषामुपसंहार्यत्वप्रसक्तिरित्याह—

इयदामननात् ॥ ३४ ॥

आमननमाभिमुख्येन मननम्, इयदेव गुणजातं सर्वत्रोपसं-
हार्यम्, येन गुणजातेन सकलेतरव्यावृत्तब्रह्ममननं भवति । अ-
तोऽक्षरब्रह्मसंवन्धिनीनामस्थूलत्वादिनिषेधाधियामेव सकलेतरव्या-
वर्तकधर्मरूपत्वादुपसंहारः परविद्यासु, न तु 'सर्वकर्मा सर्वकामाः
सर्वगन्धः सर्वरसः'† इत्यादीनामपीति ॥

२९. अधिकरणम्.

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनोऽन्यथा भेदा-
नुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ॥ ३५ ॥

बृहदारण्यके 'यत् साक्षादपरोक्षात् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः तं मे व्याचक्ष्व'* इत्युपस्तिप्रश्ने प्रतिवचनमेवमाज्ञायते 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरः'* इत्यादि 'अतोऽन्यदार्तम्'* इत्यन्तम् । तदनन्तरं 'यदेव साक्षादपरोक्षात् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व'† इति कहोलप्रश्ने तु प्रतिवचनमेवमाज्ञायते 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येत्येतं वै तमात्मानं विदित्वा'‡ इत्यादि 'अतोऽन्यदार्तम्'† इत्यन्तम् । इहोभयत्र विद्यैक्यं न वेति संशयः ॥

तथा सति 'य आत्मा'* इत्युपस्तिप्रश्नः भूतग्रामवत्प्रत्यगात्मविषयः । अन्यथा 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा'* इति तत्प्रतिवचनविषयस्य कहोलप्रश्नप्रतिवचनविषयस्याशनायाद्यतीतत्वादेष्वभेदानुपपत्तिः ॥

इति चेत् इतिपूर्वपक्षशङ्कायां सिद्धान्तयति—नोपदेशवदिति । 'य आत्मा सर्वान्तरः'* इत्युभयत्र प्रश्नैकरूप्यात् परमेश्वर एवोभयत्र प्रश्नविषयः । प्रतिवचनगतं निरुपाधिकं प्राणनादिहेतुत्वमशनायाद्यतीतत्वं च तत्रैव समुपपद्यते । सद्विद्योपदेशवत् प्रश्नप्रतिवचनावृत्तिरेकविषया । प्रष्टृभेदो रूपभेदश्च न विद्याभेदावहः ॥

तथा ह्याह—

व्यतिहारो विशिंशन्ति हीतरवत् ॥ ३६ ॥

अर्थैक्ये निश्चिते सति प्रष्टोर्बुद्धिव्यतिहारः कर्तव्यः । उपस्तिनाऽप्यशनायाद्यतीतत्वधीः, कहोलेनापि प्राणनादिहेतुत्वधीः

कार्या । उभयप्रकरणगतानि हि वाक्यानि परमेश्वरं विंश-
 षन्ति, यथेतरत्र सद्धिद्यायाम् । तस्मादेकस्यैव प्रश्नप्रति-
 वचनगतत्वात् विद्याभेदः । पुनरुक्तिस्तु शङ्कानिरासाय 'तत्त्व-
 मसि'* इतिवत् ॥

२२ अधिकरणम्.

सैव हि सत्यादयः ॥ ३७ ॥

यद्वृष्टान्तेन पूर्वाधिकरणनिर्णयः तत्रापि सद्धिद्यायां सं-
 शयः भिन्नेयमभिन्ना वेति ॥

प्रश्नावृत्तिदर्शनात् प्रतिवचनभेददर्शनाच्च प्रत्यावृत्तिभिन्ना ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—न भिन्नेयं सद्धिद्या 'सेयं देवता'† इति
 प्रस्तुताया एव महादेवतायाः प्रश्नप्रतिवचनेष्वनुवृत्तेः । यतः
 'तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि'* इति पुनःपुनः सत्या-
 दीनामावृत्तिर्गम्यते, अतो वस्तुवैक्यादभिन्नेयं विद्येति ॥

२३. अधिकरणम्.

कामादयस्तत्रतत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३८ ॥

छान्दोग्ये तैत्तिरीयके वाजिशाखायां कैवल्योपनिषदि च
 दहरविद्या श्रुता । सेयमभिन्ना भिन्ना वा ॥

इति संशये पूर्वः पक्षः—‘यदिदमस्मिन् पुरे दहरं पुण्डरीकं वेद्यं दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः’* इत्यारभ्य दहराकाश-
शब्दोक्तस्य दहरपुण्डरीकवर्तिनोऽपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकं मुख्य-
माज्ञातम् । तैत्तिरीयके ‘दहरं विपाप्मम्’† इत्यारभ्य दहरपु-
ण्डरीकवर्तिनः प्रणवप्रकृत्यात्मनादवाच्यत्वमहेश्वरशब्दवाच्यत्वकृ-
ष्णपिङ्गलत्वविरूपाक्षत्वादयो धर्माः प्रदर्शिताः । वाजिशाखायां
‘य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्य वशी सर्वस्ये-
शानः सर्वस्याधिपतिः’‡ इति वशित्वादयः । कैवल्योपनिषदि—
‘हृत्पुण्डरीकं विरजम्’ इत्यारभ्य ‘विभुं चिदानन्दमरूपमद्भु-
तम् । उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्’
इत्यन्तेन हृदयपुण्डरीकवर्तिनः परस्य त्रिलोचनत्वनीलकण्ठत्व-
चिदानन्दरूपत्वोमासहायत्वादयो धर्माः । तत्र नीलकण्ठत्वादी-
नां शरीरधर्मत्वेन सत्यत्वादीनामात्मधर्मत्वेन विरोधादुपसंहारो
न न्याय्यः । तस्माद्विद्या भिन्नेति ॥

एवं प्राप्त उच्यते—तत्रतत्र हृदयपुण्डरीकायतनादिभ्यो
विधेयमेव । अतः सत्यकामादयः सर्वत्रोपसंहार्याः । छान्दो-
न्यगता अपहतपाप्मत्वादयो वाजिशाखागता वशित्वादयः तैत्ति-
रीयगताः प्रणववाच्यत्वादयः कैवल्यगताश्चिदानन्दरूपत्वादयश्च
सर्व एते गुणा दहरविद्यायां ब्रह्मणोऽनुसन्धेयाः । कैवल्योपनि-
षत्तमुमासहायत्वं त्रिलोचनत्वं अन्यत्र कृष्णपिङ्गलत्वं विरूपाक्ष-
त्वं चैकार्थम् । आवृत्तिरादरार्था । सर्वत्र गुणानामावृत्तौ तथा
द्रष्टव्यम् । अत्र गुणित्वेन ब्रह्मण एकस्यैवोपास्यत्वादपहतपा-
प्मत्वादियोगि सर्वेश्वरमोक्षारवाच्यमुमासहायं त्रिलोचनं नीलक-
ण्ठं चिदानन्दरूपमनन्तममृतमद्भुतं परं ब्रह्म दहरपुण्डरीकमध्येऽ-

नुसन्धेयमिति परविद्यास्वियमेव प्रधानभूता । छान्दोग्ये कैवल्योपनिषदि चैतद्विद्यानिष्ठस्य

“परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते”*

ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ।

इति साक्षात् तस्यैवोपास्यस्य परब्रह्मणः प्रकृतिमण्डलातीतस्य प्राप्तिर्हि फलमवगम्यते । अत एव नीलकण्ठत्वादिधर्मस्यापहतपाप्मत्वादिगुणानां च ब्रह्मणि नित्यत्वादन्योन्यसापेक्षत्वाद्योपसंहारे न विरोधः, अग्रसक्तस्य प्रतिषेधयोगात् । त्रिलोचनत्वादिलक्षणशरीरविशिष्टे परब्रह्मणि प्रसक्तानां शरीरधर्माणां पापजरामरणश्रुतृडसत्यकामासत्यसंकल्पानां निषेधाय हि अपहतपाप्मत्वादयः प्रातेपादिताः । त्रिलोचनत्वादिलक्षणशरीरकमपि परं ब्रह्मापहतपाप्मकं जरारहितमशोकमाविजिघत्समपिपासं सत्यकामं सत्यसंकल्पं चिदानन्दरूपं भवतीति न विरोधः ॥

२४ अधिकरणम्.

ननु प्रियशिरस्त्वादीनामिव नीलकण्ठत्वादीनामवयवानां ब्रह्मस्वरूपान्तर्भावे तस्योपचयापचयप्रसक्तिरित्यतो नीलकण्ठत्वादिकं लुप्यत इत्यत आह—

आदरादलोपः ॥ ३९ ॥

पूर्वत्र नीलकण्ठत्वादिविशिष्टं रूपमुमाभिधानपरमशक्तिसहितं सत्यसंकल्पत्वादигुणजातं च निरूपितम् । इह तेषां पर-

ब्रह्मणि लोपोऽस्ति कदाचित्, अथ वा कदाचिदपि न लोप
इति संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम्? उपासनार्थं परब्रह्मणि कल्पितत्वात्
तेषां कदाचिल्लोपः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—परब्रह्मण उमासहितत्वादीनां सर्वत्र श्रुति-
व्यासादादरादलोप एव । अत एवालुप्तशक्तिकमुच्यते परं
ब्रह्म । कुत्रादरादभ्यास इति चेत्—सर्वत्रैव । कृष्णपिङ्गलं
विरूपाक्षं इति शक्तिसाहित्ये त्रिलोचनत्वे च सिद्धेऽपि पुनरादरा-
र्थं हि 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनम्'* इत्यभ्यस्तम् ।
सवितृमण्डलविद्यायां च 'नमो हिरण्यवाहवे हिरण्यपतयेऽम्बि-
कापतये उमापतये'† इति ह्यादरार्थमुमापतित्वमभ्यस्तम् । अन्यत्र
'नीलग्रीवो विलोहितः...नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च'‡ इत्या-
दिषु नीलग्रीवत्वमीश्वरस्यादरादभ्यस्तम् । सत्यसंकल्पत्वादीना-
मेकत्र सिद्धानामन्यत्र पुनर्वचनमादरार्थमेव । तस्मादुमापतित्वा-
दीनामभ्यासादादरादलोप एव परब्रह्मण इति । धर्मब्रह्मणोः
प्रमाणान्तरागम्ययोर्यादृशं स्वरूपमभिधत्ते भगवती श्रुतिस्तादृ-
शमेवाभ्युपेयं श्रुतिप्रामाण्यावलम्बिनाम् । अन्यथा तद्विरुद्धत-
र्कावलम्बने जगदुपादानत्वादिकं न सिध्येत् । अतः श्रुतिरेव च
'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'§ इति सत्यज्ञानाकारमपरिच्छिन्नं ब्रह्मे-
त्युक्त्वा,

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ।

ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षम्..... ॥

इत्यादिना तस्यैव त्रिलोचनत्वपरमशक्त्युमाशवलितत्वरूपं विशि-
ष्टमभिधत्ते । पुनश्च तस्य 'स एको ब्रह्मण आनन्दः'¶ इति

* कैव.

§ तै. २-१.

† महा. १८.

‡ महा. १२.

‡ तै. सं. ४-५.

** तै. २-८.

निरतिशयानन्दवत्त्वमाह । तस्यैव च 'आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम् । शान्तिसमृद्धममृतम्'* इत्यादिना चित्प्रकाशरूपत्वमात्मारामत्वं बाह्यकरणनिरपेक्षान्तःकरणैकानुभूयमानपरमानन्दविलासत्वं उपशान्तसकलोपद्रवकलङ्कत्वमनादिमुक्तत्वं च प्रकाशयति । अस्य हि विरूपाक्षत्वादिलक्षणशरीरसंबन्धेन जीववत् प्रसक्तान् दोषांश्च 'अपहतपाप्मा'† इत्यादिना निराकरोति । 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'‡ 'पराऽस्य शक्तिः'§ 'पशूनां पतये'¶ इत्यादिभिरस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वस्वतन्त्रत्वादि-
कं च निरूपयति । एवं श्रुतिरेव सकलप्रमाणशेखरस्थानीया सत्यज्ञानानन्दमपरिच्छिन्नस्वरूपं सर्वज्ञं नित्यतृप्तं स्वतन्त्रं अनादिप्रकाशं अनन्तालुप्तशक्तिकं आत्मारामं अन्तरनुभवैकविषयपरमानन्दं उपशान्तं अमृतं नीलकण्ठं विरूपाक्षं उमासहितं परं ब्रह्म सर्वात्मकं मुक्तिसाधकमेति सर्वत्र घोषयन्ती केन निवार्यते । ततः परब्रह्मण उक्तस्वरूपधर्माणामलोप एव ॥

२५ अधिकरणम्.

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४० ॥

इह पूर्वाधिकरणोक्तं ब्रह्मस्वरूपमेव मुक्तप्राप्यमुतान्यदिति संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम् ? 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवयं निरञ्जनम्'*** इत्यादिषु ब्रह्म निर्विशेषमेव श्रूयते । 'ब्रह्म वेद

* तै. १-६.

† छा. ८-१-५.

‡ मु. १-१-१०.

§ श्वे. ६-८.

¶ तै. सं. ४-५-२.

*** श्वे. ६-१९.

ब्रह्मैव भवति^१ इति मुक्तस्य तत्स्वरूपापात्तिरेव मुक्तिः । अतो निर्विशेषमेव ब्रह्म मुक्तप्राप्यं नान्यत् ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—पूर्वोक्तं सविशेषमेव ब्रह्मस्वरूपं मुक्तप्राप्यं, दहरकमलान्तर्भाषनीयतया प्रतिपादिते विरूपाक्षे परब्रह्मणि ‘परं ज्योतिरुपसंपद्य’^२ इति मुक्तेन प्राप्ते ‘स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते’^३ इति स्वरूपाभिनिष्पत्तेरेव हेतोः, ‘जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा’^४ इत्यादिना स्वच्छन्दतो ज्ञात्यादिप्राप्त्यभिधानात्, ‘परमं साम्यमुपैति’^५ इति श्रुत्या, ‘मुक्तः शिवसमो भवेत्’ इति स्मृत्या च मुक्तस्य परब्रह्मसादृश्यप्राप्त्यभिधानाच्च । अतः साक्षान्मुक्तप्राप्यमेव पूर्वोक्तं नीलकण्ठत्वादिलक्षणं परब्रह्मस्वरूपं, न सांसारिकम्, तस्य ‘अपहतपाप्मा’^६ इत्यादिना सांसारिकधर्मनिषेधात् । सगुणैवातः परविद्या । ‘निष्कलं निष्क्रियम्’^७ इत्यादिषु हेयगुणनिषेधः क्रियते न कल्याणगुणनिषेधः । तथा हि—‘निष्कलं निष्क्रियम्’^८ इत्यादिना ‘प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः’^९ इत्यादिना च निर्गुणत्वे सगुणत्वे च सामान्येन प्राप्ते ‘अपहतपाप्मा’^{१०} ‘यः सर्वज्ञः सर्ववित्’^{११} इत्यादिभिर्विशेषश्रुतिभिर्निर्गुणश्रुतेर्हेयगुणराहित्यमर्थः, सगुणश्रुतेः कल्याणगुणसाहित्यं इति विज्ञायते ॥

किंच वचनमेव सगुणं मोक्षफलं प्रकाशयति, ‘सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह । ब्रह्मणा विपश्चिता’^{१२} इति । विपश्चिता सर्वज्ञेन ब्रह्मणा सर्वानपि कामान् मुक्तः सह प्राप्नोतीति । सह-

^१मु. ३-२-९.^२छा. ८-३-४.^३छा. ८-१२-३.^४मु. ३-१-३.^५छा. ८-१-५.^६श्वे. ६-१९.^७श्वे. ६-१६.^८मु. १-१-१०.^९तै. २-१.

शब्दो ब्रह्मणाऽऽनन्दभोगस्य च यौगपद्याभिप्रायः । अतः सगुण-
मेव ब्रह्मस्वरूपं मुक्तप्राप्यं फलमिति ॥

२६ अधिकरणम्.

तन्निर्धारणानियमस्तदृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः
फलम् ॥ ४१ ॥

उद्गीथादिकर्माङ्गाववद्धा उपास्तयः कर्मसु नियता उता-
नियता इति संशयः ॥

किं तावत् प्राप्नोति? कर्मानुष्ठाने कर्माङ्गत्वात् नियमेना-
नुष्ठेयाः । कर्मप्रकरणमनारभ्याधीतत्वेऽपि वाक्यादेव क्रतुसंव-
न्धोपपत्तिः । यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति'^१ इत्यनार-
भ्याधीतस्य पर्णमयत्वस्याव्यभिचरितक्रतुसंवन्धिजुहूद्वारा वा-
क्यतः क्रतुसंवन्धः, तथा 'य एवं विद्वानुद्गायति'^२ 'य एवं
विद्वान् साम गायति'^३ इत्यव्यभिचरितक्रतुसंवन्धिसामोद्गीथादि-
द्वारा तदुपासनानां क्रतुसंवन्धः । अतः कर्मसु नियता उद्गी-
थाद्युपास्तय इति ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—गोदोहनादिवदनियता उपास्तयः । यथा-
'चमसेनापः प्रणयेत् गोदोहनेन पशुकामस्य' इत्यपां प्रणयन-
माश्रित्य विधीयमानं गोदोहनमक्रत्वर्थत्वादौच्छिकमेव, न त्वप्प्रण-
यनादिवन्नियतम् । तथा कर्माण्याश्रित्य विधीयमाना उपास्तयः
क्रत्वर्था न भवन्ति, 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न

वेद* इत्युद्गीथाद्युपासनरहितस्यापि ऋत्वनुष्ठानदर्शनात् । 'य-
देव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति'*
इति वर्तमाननिर्देशेऽपि ऋत्वनोर्यवत्तरत्वसाधनतयोपासनाविधिः
कल्प्यते । वीर्यवत्तरत्वं नाम प्रबलकर्मान्तराप्रतिबन्धेनाविल-
म्बितफलत्वमेव । तथा कामवृष्ट्यादिपृथक्फलश्रवणाच्च न नि-
यता उपास्तयः ॥

२७. अधिकरणम्.

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४२ ॥

एकस्यैव शिवस्य परब्रह्मणः परविद्यासु सर्वासु तत्त-
द्गुणविशिष्टतया पृथक् चिन्तनीयत्वमुक्तम् । तदिह संभवति न
वेति संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम्? गुणभेदेऽपि गुणिनो ब्रह्मण एकत्वा-
दुपासनं न भिद्यते । यथैकस्य राज्ञस्तत्तद्गुणानादिविशेषणभेदेन
युक्तस्यापि कार्यदर्शनव्यायामभोजनासनमृगयासमरादिव्यापारेषु
सिंहासनादिस्थानभेदेऽपि भेदो न दृश्यते, तथा दहरादिस्था-
नभेदेऽपि तत्तद्गुणभेदविशिष्टस्यापि ब्रह्मण एकत्वात् तदनुसं-
धानमेकमेव ॥

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—एकस्यैव परब्रह्मणः शिवस्य स्वरूपा-
भेदेऽपि तत्तद्गुणविशिष्टस्वरूपतया गुणविशेषणभेदेन भेदाद्विशि-
ष्टगुण्यावृत्त्या पृथक् तदुपासनप्रयोगः, इन्द्रप्रदानवत् । यथा—

‘इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय
स्वराज्ञे’* इति गुणभेदात् पृथक् पुरोडाशप्रदानं ‘नाना
देवता पृथक्त्वात्’† इति संकर्षे तथोक्तत्वात्, तथैकस्यापि
परब्रह्मणो गुणभेदादुपासनपृथक्त्वमिति । यदुक्तमेकस्य राज्ञे
इति, तत्रापि राजस्वरूपाभेदेऽपि स्थानगुणादिभेदादुपासनप्र-
कारो भिन्न एव सेवकानामिति ॥

२८. अधिकरणम्.

लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि वलीयस्तदपि ॥४३॥

पूर्वं सर्वासु पविद्यासु ब्रह्मोपास्यमिति स्थितम् । तस्यो-
पास्यस्य ब्रह्मणो विशिष्य निर्धारणार्थमिदमधिकरणम् । त-
त्तिरीये—

सर्वो वै रुद्रस्तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ।

पुरुषो वै रुद्रः सन्महो नमो नमः ॥

विश्वं भूतं भुवनं चित्रं बहुधा जातं जायमानं च यत् ।

सर्वो ह्येष रुद्रस्तस्मै रुद्राय नमो अतु ॥

कद्रुद्राय प्रचेतसे मीढुष्टमाय तव्यसे । वोचेम शन्तमं हृदे ।

सर्वो ह्येष रुद्रस्तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥

‘नमो हिरण्यवाहवे हिरण्यपतयेऽम्बिकापतय उमापतये
नमो नमः’‡ ॥

इति । अत्र सर्वात्मत्वादिभिरुमापतित्वेन च श्रूयमाणं परं ब्रह्म प्रकृते सवितृमण्डलविद्यामात्र उपास्यमुत सर्वासु परविद्या-
स्त्विति संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम् ? प्रकरणवाधायोगात् प्रकृतसवितृम-
ण्डलविद्यायामेवोपास्यम् ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—इदमुमासहितं परं ब्रह्म सर्वास्वपि पर-
विद्यासूपास्यम्, तत्तल्लिङ्गसंबन्धिवाक्यभूयस्त्वात् । तथा हि—
'सर्वो वै रुद्रः' इत्यादिवाक्ये 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जला-
निति शान्त उपासीत'^१ इति शाण्डिल्यविद्योपास्यलिङ्गम् ।
'पुरुषो वै रुद्रः' इति वाक्ये पुरुषसूक्तोपकोसलविद्याद्युपास्य,
लिङ्गम् । 'सत्' इत्यत्र 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'^२ इति
सद्विद्योपास्यलिङ्गम् । 'महः' इत्यत्र 'मह इति, तत् ब्रह्म-
स आत्मा, अङ्गान्यन्या देवताः'^३ इति व्याहृतिविद्योपास्यलि-
ङ्गम् । 'शान्तमं हृदे' इति हृदयद्योतनात् दहरविद्योपास्यलि-
ङ्गम् । 'हिरण्यवाहवे' इति हिरण्यरूपत्वं सवितृमण्डलोपास्य-
लिङ्गम् । 'उमापतये' इति सर्वपरविद्योपास्यलिङ्गम् । संसा-
ररुद्रावकत्वात् रुद्र इत्युच्यते परमात्मा शिवः । एवमुमापतेः
परब्रह्मणः शिवस्य सर्वपरविद्योपास्यत्वं वाक्यैरवसीयते । वाक्यं
हि प्रकरणाद्वलीयः । तदप्युक्तम्—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्था-
नसमाख्यानं समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'^४ इति । तस्मा-
दुमासहितं संसाररुद्रावकं परं वस्तु सकलपरविद्योपास्य-
मिति सिद्धम् ॥

^१ छा. ३-१४-१.^३ तै. १-५.^२ छा. ६-२-१.^४ पू. मी. ३-३-१४.

२९. अधिकरणम्.

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामान-
सवत् ॥ ४४ ॥

अग्निरहस्यब्राह्मणे श्रूयते 'षट्त्रिंशत् सहस्राण्यपश्यदात्म-
नोऽग्नीनर्कान्मयोमयान् मनश्चितः'* इति । तथा 'वाक्चितः
प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः'* इति पुरु-
षस्य शतसंवत्सरमिते आयुषि षट्त्रिंशत्सहस्राणि दिनानि ।
तत्रैकस्मिन् दिने यावती मनोवृत्तिः तस्य एकैकाग्नित्वे सल-
ग्रयः षट्त्रिंशत्सहस्राणि सम्पद्यन्ते । ते च प्रत्यगात्मस्वरूपेण
ध्यातव्याः । एवं वाक्चित्तादयोऽपि । ते विद्यामयक्रत्वङ्गभूता
उत क्रियामयक्रत्वङ्गभूताः ॥

इति संशये पूर्वपक्षः प्रवर्तते । 'मनश्चितो वाक्चितः'*
इत्यादीनां सांपादिकाग्नीनाम् 'असद्वा इदमग्र आसीत्'* इत्या-
दिना पूर्वप्रकृतेष्टकचिताग्निशेषिभूतक्रियामयक्रत्वनुप्रवेशः स्यात् ।
ततश्च तेषामग्नीनां इष्टकचिताग्निना विकल्पः, मानसवत् ।
यथा द्वादशाहे दशमेऽहन्यधिवाक्ये पृथिवीपात्रस्य प्रजापतिदेव-
ताकस्य समुद्रद्रव्यस्य मानसग्रहस्य मनःसंपाद्यग्रहणसादनस्तोत्र-
शस्त्रहवनप्रत्याहरणभक्षणत्वेन मानसस्यापि क्रियामयक्रत्वङ्ग-
त्वम्, एवमेषां मानसानामपि क्रियामयक्रत्वङ्गत्वम् ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४५ ॥

‘तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः’* इति तेष्विष्टक-
विताग्निकार्यातिदेशाच्च तदङ्गत्वमिति ॥

एवं प्राप्ते सिद्धान्त उच्यते—

विद्यैव तु निर्धारणादर्शनाच्च ॥ ४६ ॥

विद्यैव विद्यामयकत्वङ्गभूता इत्यर्थः । सांपादिकाग्नित्वेन
विद्यामयत्वे सिद्धेऽपि ‘ते हैते विद्याचित एव’* इति निर्धारणं
हि विद्यामयकत्वङ्गत्वख्यापनाय । दृश्यते च विद्यामयक्रतुः
अत्रैव ‘मनसाऽचीयन्त मनसैषु ग्रहा अगृह्णन्त मनसाऽस्तुवन्
मनसाऽशंसन् यत् किञ्च यज्ञे कर्म क्रियते यत् किञ्च यज्ञीयं
कर्म मनसैव तेषु मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमक्रियत’* इति ।
अतस्तेषां विद्यामयकत्वङ्गत्वमेव ॥

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४७ ॥

‘ते हैते विद्याचित एव तान् हैतानेवंविदे सर्वदा
सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यापि स्वपते विद्यया हैवैत एवंविद-
श्चिता भवन्ति’* इति श्रुत्या वाक्येन लिङ्गेन चावगतस्य
विद्यामयकत्वन्वयस्य दुर्वलेन प्रकरणेन न बाधः ॥

ननु ‘मनसैषु ग्रहा अगृह्णन्त’* इत्यादिषु विधिप्रत्ययाश्र-
वणात् क्रियामयात् क्रतोरन्यो विद्यामयः क्रतुर्नास्तीत्यत आह—

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च

तदुक्तम् ॥ ४८ ॥

‘ब्रह्मा अगृह्यन्त’^३ इत्यादिकत्वनुबन्धैः ‘ते हैते विद्याचित्ता एव’^४ इति श्रुत्यादिभिश्च विद्यामयक्रतुविधिः कल्पनीयः । दह-रविद्यादीनां क्रियामयात् पृथक्त्ववदस्यापि विद्यामयक्रतोः सानुबन्धैः श्रुत्यादिभिः पृथक्त्वमवगम्यते । दृष्टश्चानुवादसंख्ये विधिः ‘यदेव विद्यया करोति’^१ इत्यादौ । तदुक्तम् ‘वचनानि त्वपूर्वत्वात्’^२ इति । अतो विद्यामयक्रत्वङ्गत्वमेव युक्तम् ॥

आशङ्क्य परिहरति—

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोका-
पत्तिः ॥ ४९ ॥

‘तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः’^३ इतीष्टकचित्ताग्निचितफलसामान्येनातिदेशः । इष्टकचित्ताग्नेः स्वक्रतुद्वारेण यत्फलं तदेषां विद्यामयक्रतुप्रवेशेन फलमिति । न पुनारष्टकचित्ताग्नितुल्यदेशत्वमेषामिति । केनापि सामान्येनातिदेशोपलब्धेः ‘स वा एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः’^४ इति संहर्तृत्वमात्रेण । न हि तत्र मण्डलपुरुषस्य मृत्युतुल्यदेशत्वम् । अतः केनचित् सामान्येनातिदेशे न विरोधः ॥

हेत्वन्तरमाह—

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात् त्व-
नुबन्धः ॥ ५० ॥

परेण च ब्राह्मणेनास्य मनश्चिदादिवाचिनः शब्दस्य विद्यामयत्वप्रतिपादकत्वमवगम्यते । तथा हि, ‘अयं वाव लोक एषोऽ-

^१छा. १-१-१०.

^२शत-अग्नि ५-३.

^३पू. मी. ३-५-२१.

^४शत-अग्नि. ५-२-१०.

मिश्रितस्तस्यापः '* इत्यादिना पुथक्फला विद्या विधीयते । क्रियाप्रकरणे मनश्चिदादीनामनुबन्धस्तु संपादनोपानामग्र्यज्ञानां भूयस्त्वात् । तत एतेषां विद्यामयकत्वङ्गत्वम् ॥

३०. अधिकरणम्.

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५१ ॥

इह पूर्वोक्तब्रह्मस्वरूपानुसन्धानं सर्वासु परविद्यासु युज्यते न वेति संशयः ॥

तत्रैके मन्यन्ते—शरीरे वर्तमानत्वादुपासितुः कर्तृत्वभोक्तृत्वरूपापन्नत्वात् तथाऽवस्थितस्यात्मतया परविद्यासु परमेश्वरस्य त्रिलोचनत्वादिलक्षणस्वरूपानुसन्धानं न युज्यत इति ॥

सिद्धान्त उच्यते—

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥

नैवं यत्कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरूपापन्नस्योपासितुरात्मतया परमात्माऽनुसन्धेय इति । अपितु सांसारिकस्वभावान्मुक्ते यो व्यतिरेक अपहतपाप्मत्वादिगुणरूपः सोऽनुसन्धेयः, तथाऽनुसन्धानसद्भावभावित्वात् स्वरूपोपलब्धेः । यथा यथाऽवस्थितस्वरूपब्रह्मानुसन्धानभाविनी ब्रह्मोपलब्धिः तद्वत्, 'यथाऋतुरस्मिल्लोके पुरुषः'† इत्यादिश्रुतेः । अतः सांसारिकस्वभावाभिर्मुक्तापहतपाप्मत्वादिस्वरूपतयोपासितुरनुसन्धेयत्वात् तदात्मतयानुसन्धेयस्य परमेश्वरस्य त्रिलोचनत्वादिलक्षणस्वरूपानुसन्धाने नास्ति विरोधः ॥

३१. अधिकरणम्.

अङ्गावबद्धास्तु न शाखास्तु हि प्रतिवेदम् ॥

कास्तु चिच्छाखास्तु श्रूयमाणा उपासनाङ्गावबद्धाः सर्वास्तु-
पासनास्वङ्गत्वेनोपसंहार्या न वेति संशयः ॥

तथा हि—

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।

ध्याननिर्मथनादेव पाशं दहति पण्डितः ॥

इति कैवल्योपनिषदि दहरोपासनायां प्रणवाभ्यासः श्रूयते ।

‘अग्निरित्यादिना भस्म गृहीत्वा विमृज्याङ्गानि संस्पृशेत् । तस्मा-
द्भूतमेतत् पाशुपतं पशुपाशविमोक्षाय’ इति अथर्वशिरसि पा-
शुपतविद्यायां भस्मोद्धूलनं श्रूयते । अन्यत्र ‘तिस्रो रेखाः प्रकु-
र्वीत’* इति त्रिपुण्ड्रधारणविधिः श्रूयते । तस्य ‘शिवसायुज्यम्’

इति फलश्रवणात् परविद्याङ्गत्वम् । तदेवं विद्याङ्गावबद्धाः यास्तु
शाखास्तु श्रुतास्तास्तु विहितेषूपसनेपूपासकैः कार्याः सन्निधा-
नात्, न सर्वत्र ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—भस्मोद्धूलनादय उपासनाङ्गावबद्धा यास्तु
शाखास्तु श्रुतास्तास्वेवेति न नियमः । किंतु प्रतिवेदं सर्वास्तु
शाखास्तु सर्वैरपि ब्रह्मोपासकैः कार्या एवेति श्रुत्या सन्निधेर्वाधः ॥

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५४ ॥

यथा ऋत्विजभूतानां मन्त्राणामेकैकशाखागतानामपि सर्व-
शाखागतऋत्विग्वये न विरोधः तथाऽत्रापीति ॥

३२. अधिकरणम्.

भूम्नः ऋतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥

इह वैश्वानरविद्यायामुपासनमंशेन समस्तेन वेति संदिह्यते ॥

तथा हि—तत्र द्युलोकसूर्यवाय्वाकाशोदकपृथिव्यो वैश्वान-
रस्य मूर्धचक्षुःप्राणमध्यशरीरमूत्रस्थानपादरूपा ध्यातव्या इति
निरूपितम् । तेषामङ्गानामपि प्रत्येकमुपासनमभिहितम् 'अत्यन्तं
पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं
वैश्वानरमुपास्ते'* इति पृथक्पृथग्दिवादिपर्यायगतैर्वाक्यः । एवं
सत्युपास्तिशब्दस्य फलवचनस्य च प्रत्येकमुपलभ्यमानत्वाद-
शोपासनमुचितमिति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्ते तु—समस्तोपासनमेव मुख्यमित्युच्यते । तथा
हि—तत्र त्रैलोक्यशरीरतयोपास्यस्य वैश्वानरात्मनः स्वलोका-
दिपृथिव्यन्तानां मूर्धादिपादान्तावयवत्वमभिधाय 'यस्त्वेतमेवं प्रा-
देशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु
सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमत्ति'† इति ब्रह्मानुभवः फलं चा-
भिहितम् । तत्र मूर्धादिवयवोपासनात् भूम्नः समस्तोपासनस्य
ज्यायस्त्वं प्रामाणिकत्वम्, तत्रैव ब्रह्मानुभवफलाभिधानात् । तत्रा-
वयवोपासनं फलकीर्तनं च ऋतुवदविवक्षितम् । 'वैश्वानरं

द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते* इत्युक्त्वा 'यदष्टाकपालो भवति गायत्रियैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति'* इत्यादिनोच्यमानमष्टाकपालादिकं तत्फलं च यथा न विवक्षितं तद्वत् । तथा हि समस्तोपासनस्यैव ज्यैष्ठ्यं दर्शयति श्रुतिः—तत्र हि 'औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्से'...'प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्से'† इत्यादिप्रश्नानन्तरं 'दिवमेव भगवो राजन्'...'आदित्यमेव भगवो राजन्'† इत्यादिप्रतिवचनैरव्यवोपासनेऽभिहिते 'अत्यन्नं पश्यति प्रियम्'† इत्यादिना तत्रतत्र फलनिर्देशं कृत्वाऽपि 'मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यः'† इत्यादिराजवचनैरनर्थं ब्रवीति । अतः समस्तोपासनमेव मुख्यम् ॥

३३. अधिकरणम्.

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५६ ॥

इह परविद्यायामेकीकरणेनोपासनमुत भेदेनेति संशये नानाशाखाश्रुतानामपि विद्यानां वेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वादेकीकरणेनोपासनम् ॥

इति प्राप्ते उच्यते—अनन्तश्रुतिबोध्यानामनन्तानां विद्यानामेकीकृत्यानुष्ठानायोगात् स्वरूपैक्येऽपि ब्रह्मणो गुणभेदात् विद्याभेदः । यत्र गुणभेदो नास्ति तत्र स्थानादिभेदाद्विद्याभेदः । राजादिगुणभेदादिन्द्रस्य पुरोडाशदानभेदवत् गार्हपत्यस्थानादिभेदादग्नैरुपचारभेदवच्च विद्याभेद उपपन्न इति निरूपितम् ।

अतो नानाप्रकारा विद्या शब्दाद्यनुबन्धभेदात् इति निर्णयः ।
पुनरधिकरणारम्भोऽयं ज्ञानस्याविधेयतानिरासार्थः ॥

३४. अधिकरणम्.

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५७ ॥

एवं नानाप्रकाराः परविद्या निरूपिताः । तासूपासकस्य विकल्पः समुच्चयो वेति संशयः ॥

किं प्राप्नोति ? दहरविद्यासद्विद्यादीनां समुच्चयेनानुष्ठानमुचितम्, कर्मभूयस्त्वेन फलभूयस्त्वसंभवात् । विकल्पे तु किञ्चिन्नियामकं नास्ति ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—एकस्मिन्नुपासके सर्वासां परविद्यानां विकल्प एव । कुतः ? निरतिशयब्रह्मानन्दानुभवस्य ब्रह्मसाक्षात्कारफलस्याविशिष्टत्वात् । प्रयोजनमेकेनोपासेन यदि सिद्ध्यति किमन्यैरप्रयोजनैः । किञ्च, एकेनोपासनेन ब्रह्मस्वरूपापरोक्षं निरतिशयभावनया सिद्ध्यति, ध्येयतादात्म्याभिमानात् । तदेकं परित्यज्यान्यत्र गमने चित्तविक्षेपः स्यात् । अतो विकल्प एव ॥

३५. अधिकरणम्.

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन् न वा
पूर्वहेत्वभावात् ॥ ५८ ॥

इह ब्रह्मसाक्षात्कारव्यतिरिक्तफलानामपि विद्यानां पूर्वाधि-
करणन्याय इति संदेहे प्राप्तेऽभिधीयते—न पूर्वाधिकरणन्याय
इह संभवति, वैषम्यात् । ‘देवो भूत्वा देवानप्येति’* इति
जीवत एव भावनाप्रकर्षवशाद्देवभावसाक्षात्कारप्राप्तिरवगम्यते
परविद्यास्यहंग्रहवतीषु । न तथा नामब्रह्माद्युपासनासु काम्यासु
साक्षात्कारफलत्वे किञ्चिन्मानमस्ति । तत्फलत्वाभावे च तत्र-
तत्र भोगभूयस्त्वापेक्षया समुच्चय एव युक्तः, ब्रह्मफलवदेकत्वा-
भावात् । तत एकं वा बहु वा समाश्रित्यानुष्ठेयमिति निर्णयः॥

३६. अधिकरणम्.

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ५९ ॥

इह पुनरुद्गीथाद्यङ्गावबद्धानां ऋत्वङ्गभावः स्वातन्त्र्यं वा ॥

इति संशये पूर्वपक्षन्यायः प्रवर्तते—उद्गीथादिष्वङ्गेषु शु-
तानामुपासनानामुद्गीथादिवत् ऋत्वङ्गभाव एव, गोदोहनादिवत्
स्ववाक्ये फलाश्रवणात् ॥

शिष्टेश्च ॥ ६० ॥

‘उद्गीथमुपासीत’† इति विधेः ‘यदेव विद्यया करोति’
इत्यत्र विध्यभावाच्चाङ्गभाव एव ॥

समाहारात् ॥ ६१ ॥

‘होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्धीथमनुसमाहरन्ति’* इत्युपासनस्य समाहारे नियमो दृश्यते । अतोऽपि ऋत्वङ्गभावः । दुरुद्धीथो वेदनहीन उद्धीथः । वेदनहानौ अन्येन समाधानं ब्रुवद्वाक्यं हि तस्य नियमेनोपादानं दर्शयति । नियमाच्चाङ्गभावः ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६२ ॥

‘तेनेयं त्रयीविद्या वर्तते ओमित्याश्रावयति ओमिति शसति ओमित्युद्गायति’† इति सर्वतः संचरतः प्रणवस्य गुणत्वेनोपासनस्य संचारादप्युपासनोपादाननियमोऽवगम्यते । तेनेति हि प्रकृतपरामर्शशब्दः प्रकृतं सोपासनमेव प्रणवं परामृशति । अतः पूर्वोक्त उद्धीथाद्युपासनानामनियमो न संभवति ॥ इति प्राप्ते सिद्धान्त उच्यते—

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६३ ॥

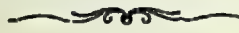
अङ्गभावो हि सहभावः । तदश्रवणादेषां न तद्भावः, ‘यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरम्’† इति फलान्तरसाधनतयाऽवगतानामुपासनानामङ्गभावाभावात् । ‘उद्धीथमुपासीत’† इत्युद्धीथाश्रयतामात्रप्रतिपादनात् न तेषामङ्गावबद्धानां ऋत्वङ्गभावः ॥

दर्शनाच्च ॥ ६४ ॥

‘एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चत्विजोऽभिरक्षति’† इति ब्रह्मणो वेदनेन सर्वरक्षणं वदन्ती श्रुतिरुद्गातृप्र-

भृतीनां वेदनस्यानियमेनानङ्गतां दर्शयति । अतः पूर्वोक्त उपास
नानामनियमो युक्त एव ॥

इति श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचिते ब्रह्मसमीक्षाभाष्ये
तृतीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः.



अथ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः.

१. अधिकरणम्.

पूर्वत्रोपपादितः परविद्याप्रकारः । इह तु विद्यासहकारिण
आश्रमधर्मादीन् निरूपयितुं विद्यात एव पुरुषार्थ इति दर्शयति—

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः॥ १ ॥

अतो विद्यात एव पुरुषार्थः 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'* 'ज्ञा-
त्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति'† इत्यादिशब्दादिति भगवान् बाद-
रायणो मन्यते ॥

तत् संभवति न वेत्युभयश्रुतिदर्शनात् संशये सति पूर्व-
पक्षः प्रवर्तते—

शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति
जैमिनिः ॥ २ ॥

न विद्यातः पुरुषार्थः । कुतः ? 'तत् त्वमसि'‡ इत्यादि-
सामानाधिकरण्येन कर्मसु कर्तुरेव ब्रह्मत्वावगमात्, तद्वेदनस्य

तत्संस्कारतया कर्मशेषत्वात् । फलश्रुतिस्तु 'द्रव्यसंस्कारक-
र्मसु' इति न्यायेनार्थवाद एव । अतो न विद्यातः पुरुषार्थ
इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

आचारोऽपि दृश्यते । अश्वपतिः केकयो ब्रह्मवित् 'यक्ष्य-
माणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि'* इत्याह । एवं केकयप्रभृतीनां
ब्रह्मविदामपि कर्म प्राधान्येनावगम्यते । अतोऽपि विद्या कर्माङ्गमेव ॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

'यदेव विद्यया करोति'† इति श्रुत्यैव विद्यायाः कर्मसु
विनियोगादपि कर्माङ्गत्वम् । यत् करोति तद्विद्यया इति हि
श्रुतेरर्थः ॥

समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते'‡ इति विद्याकर्मणोरेकस्मिन्
पुरुषे साहित्यं दृश्यते । अतश्च तदङ्गत्वमेव विद्यायाः ॥

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेपे-
णाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मि-
कान् विदधत्'§ इत्यादावर्थज्ञानपर्यन्ताध्ययनवतः कर्म विधी-
यते । अतश्च ज्ञानस्य कर्माङ्गत्वम् ॥

नियमात् ॥ ७ ॥

* छा. ५-११-१०. † छा. १-१-१०. ‡ वृ. ६-४-२. § छा. ८-१५-१.

‘कुर्वन्नेवेऽ कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः’* इत्यात्मविदो जीवनस्य कर्मसु विनियोगो नियम्यते । अतश्च विद्या कर्माङ्गमिति । नातः पुरुषार्थ इति ॥

अथ सिद्धान्त उच्यते—

अधिकोपदेशात् तु वादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

न विद्यायाः कर्मशेषत्वम्, अपितु विद्यैव पुरुषार्थ इति वादरायणस्य मतमेव युक्तम्, कर्तुः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतस्यैव वेद्यतयोपदेशात् । तथा हि—‘बहु स्यां प्रजायेयेति’† ‘स कारणं करणाधिपाधिपः’‡ ‘विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः’§ इत्यादिवाक्येषु वेद्यस्य ब्रह्मण आधिक्यं दृश्यते । अतो न विद्यायाः कर्मशेषत्वम् ॥

यदुक्तमाचारदर्शनं तत्राह—

तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

विद्यायाः प्राधान्येऽपि तुल्यमाचारदर्शनम्, न केवलं कर्मण एव । ‘एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहु ऋषयः कावपेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे किं प्रजया करिष्यामः’ इत्यादौ ब्रह्मविदां कर्मत्यागो हि दृश्यते । अनुष्ठानं तु फलाभिसन्धानरहितस्य कर्मणो विद्याङ्गत्वेन, त्यागसु फलाभिसन्धानयुक्तस्येति विरोधाभावात् कर्मण एव विद्याङ्गत्वमिति विद्यायाः प्राधान्यमेव ॥

*ईश. २.

†श्वे. ६-९.

‡छा. ६-२-३.

§महाना. १०-१९.

‘यदेव विद्यया’* इति यदुक्तं तत्राह—

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

‘यदेव विद्यया करोति’* इति न सार्वत्रिकी विद्योच्यते,
यदेव विद्ययेति प्रसिद्धवन्निर्देशात् । प्रसिद्धिरप्युद्गीथविद्याया
एव । ‘यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरम्’* इति प्रकृ-
तोद्गीथविद्यायास्तद्युक्तस्य कर्मणो वीर्यवत्तरत्वसाधनभावो वि-
धीयत इति न विद्या कर्माङ्गम् ॥

यदुक्तं ‘तं विद्याकर्मणी’† इति तत्राह—

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

‘तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते’‡ इत्यत्र विद्याकर्मणोर्मिन्न-
फलत्वेन विद्या च स्वस्मै फलायान्वेति, कर्म च स्वस्मै फला-
यान्वेति इति विभागः, यथा क्षेत्ररत्नविक्रयणेन शतद्वयमि-
त्यत्र क्षेत्रार्थं शतं रत्नार्थं शतमिति विभागः ॥

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

‘वेदमधीत्य’§ इत्यध्ययनमात्रवत एव कर्मविधानान्न विद्या
कर्माङ्गम् । अध्ययनविधिर्ह्यक्षरग्रहणमात्रे पर्यवस्यति । अर्थाव-
बोधपर्यन्तत्वेऽप्यर्थज्ञानादर्थान्तरभूता विद्या । उपासीतेति विहि-
ता विद्या प्रत्ययावृत्तिरूपा । अतोऽस्याः क्वापि न विशेषण-
भावः ॥

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि’* इत्यत्र स्वतन्त्रे कर्मणि विद्वदायुषो विनियोग इति विशेषहेतुर्न दृश्यते । ‘ईशावास्यमिदं सर्वम्’† इति विद्याप्रकरणाच्च विद्याङ्गभूतमेतत् कर्मेति विज्ञायते । अतो न विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

विद्यामाहात्म्यात् सर्वदा कर्माणि कुर्वन्नपि तैर्न लिप्यन्ते इति हि वाक्यशेषः । अतश्च विद्याया एव प्राधान्यम् ॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

‘किं प्रजया करिष्यामः’ इत्यादिना कामकारेण विदुषो गार्हस्थ्यस्य त्यागमधीयते एके । अतोऽपि विद्या प्रधानभूता लक्ष्यते ॥

उपमर्दे च ॥ १६ ॥

विद्यया सर्वकर्मोपमर्दे चाधीयत एके—‘क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे’‡ इति । अतो न कर्मप्राधान्यम् ॥

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वरेतस्सु चाश्रमेषु विद्यादर्शनात् तेष्वग्निहोत्राद्यसंभवाच्च न विद्या कर्माङ्गम् । तथाहि—‘त्रयो धर्मस्कन्धाः’§ इति वैदिके शब्दे दृश्यन्ते त्रय आश्रमधर्माश्रयाः । अतो

विधैव प्रधानभूता पुरुषार्थहेतुः । तस्यास्त्वङ्गतया प्रधानफला-
मिसिन्धुरहितस्य विहितकर्मणोऽनुवृत्तीरिति सिद्धम् ॥

२ अधिकरणम्.

परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि ॥

पूर्वत्र 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' * इति त्रयाणामेवाश्रमाणां धर्मा-
धारत्वमुक्तम् । अत एवात्र चतुर्थाश्रमधर्मसद्भावे संदेहे सति
पूर्वः पक्षः—'त्रयो धर्मस्कन्धाः' * इत्यादौ चतुर्थाश्रमाचोदनात्
'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' † इत्यादि चतुर्था-
श्रमवचनमुपासनस्तुत्यर्थवादमेव जैमिनिर्मन्यते । अपवदति हि
'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्रासयते' ‡ इति श्रुतिः चतु-
र्थाश्रमम् । अतोऽग्निहोत्रपरित्यागे महान् दोष इति नास्ति त-
त्परित्यागेनाश्रमान्तरमिति ॥

अथ सिद्धान्तः—

अनुष्ठेयं वादरायणः साम्यं श्रुतेः ॥ १९ ॥

गृहस्थाश्रमादिवदाश्रमान्तरमप्यनुष्ठेयमिति भगवतो वादरा-
यणस्य मतम्, तत्र 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' * 'एतमेव प्रव्राजिनो
लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' † इति सर्वाश्रमसाम्यश्रुतेः अग्न्युद्रासन-
दोषो गृहस्थविषय एव । अतश्चतुर्थाश्रमधर्मसद्भावः ॥

विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥

‘उपरि हि देवेभ्यो धारयति’ इत्यत्राप्राप्तत्वेन यथा विधिः। तद्वदत्रापि विधिरेव । अथवा—जावालश्रुतौ प्रत्यक्षविधिरप्यस्ति, ‘ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृही वा वनी भूत्वा प्रव्रजेत्’ इति । नात्र क्रमे नियमः, ‘उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्’* इति श्रुतेः । जन्मान्तरसुकृतपरिपाकेन विशुद्धान्तःकरणस्य ब्रह्मचर्यादेव पारिव्राज्यं भवति ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।

अनपाकृत्य मोक्षं तु भजमानो व्रजत्यधः ॥†

इत्यादिनिषेधस्त्वविरक्तविषयः । ‘वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते’‡ इत्यग्न्युद्वासननिषेधात् ब्रह्मचर्यादेव पारिव्राज्यं न गार्हस्थ्य्यात् परमिति केचित् । तथा सति ‘वनी भूत्वा प्रव्रजेत्...उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्’* इत्यादिविधिवैयर्थ्यं स्यात् । अतो ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति वा, वनी भूत्वा प्रव्रजेदिति वा न निर्वन्धः कार्यः । ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति वदतामयमभिप्रायः—साग्निरनग्निकश्चेति द्वावेवाश्रमौ ; तत्र ब्रह्मचारी परिव्राट् च अनग्निः, गृहस्थो वानप्रस्थश्च साग्निः ; अग्निमाधायोद्वास्य पारिव्राज्यात् ब्रह्मचर्यात् पारिव्राजमेवातीव मुख्यमिति, अन्यथा श्रुतिविरोधापत्तेः । अतः सर्वाश्रमधर्मसिद्धिः ॥

३. अधिकरणम्.

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥

‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत’* इत्युपक्रम्य ‘स एष रसानां रसतमः परमः परार्थोऽष्टमो यदुद्गीथः’* इत्येवंजातीयको-
द्धारणे उद्गीथादिषु रसतमत्वादिदृष्टिर्विधीयते न वेति
संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम् ? नोद्गीथादिषु रसतमत्वादिदृष्टिर्विधी-
यते, किंतु, ‘इयमेव जुहः स्वर्गो लोकः आहवनीयः’ इति-
वत् कर्माङ्गभूतोद्गीथाद्युपादाय तस्य रसतमत्वादिवचनं स्तुतिमा-
त्रमिति चेदिति पूर्वपक्षसमाप्तिः ॥

सिद्धान्त उच्यते—नापूर्वत्वादिति । न स्तुतिमात्रं किंतुद्गी-
थादिषु रसतमत्वादिदृष्टिर्विधीयत एव, अपूर्वत्वात् । न चैवं
जुहुरित्यादिन्यायावतारः, जुह्वादिविधिवदुद्गीथादिविधेरत्रासन्नि-
धानात् । अतो रसतमत्वादिदृष्टिविधिरेव ॥

भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

‘उद्गीथमुपासीत’* इति विधिप्रत्ययश्चात्र श्रूयते । अतोऽपि
रसतमत्वादिदृष्टिविधिरिति ॥

४. अधिकरणम्.

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३

वेदान्तेषु विद्यारम्भे—‘प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिः’* इत्याद्याख्यायिका आम्नाताः । ताः पारिप्लवार्था उत विद्यास्तुत्यर्था इति संशयः ॥

किं तावत्प्राप्तम्? पारिप्लवार्था इति । अश्वमेधयागे राजानं सकुटुम्बमुपवेश्य तत्पुरतो वैदिकान्याख्यानान्यध्वर्युणा वक्तव्यानि । तदिदं पारिप्लवाख्यं कर्म ‘पारिप्लवमाचक्षीत’† इति वाक्येन विहितम् । तत्र ‘सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लवे शंसन्ति’‡ इति विनियोगादुपनिषदारम्भगता अप्याख्यायिकास्तदर्था इति चेदिति पूर्वः पक्षः ॥

तत्रोत्तरम्—न विशेषितत्वादिति । न पारिप्लवार्थास्ताः । ‘प्रथमेऽहनि मनुर्वैवस्वतो राजा...द्वितीयेऽहनि यमो वैवस्वतो राजा’§ इत्यादिना पारिप्लवार्थानामाख्यायिकानां विशेषितत्वात् ॥

औपनिषदाख्यायिकाः संनिहितविद्याविधिभिरेकवाक्यत्वात् विद्यार्था इत्याह—

तथाचैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥

यथा ‘सोऽरोदीत्’§ इत्याद्याख्यानानां कर्मविधिभिरेकवाक्यता, तथा विद्याविधिभिरेकवाक्यतोपसंबन्धाच्च विद्यास्तुत्यर्था एवेति ॥

* कौ. ३-१.

† आश्व. श्रौ. १०-७-१, २.

‡ आश्व. श्रौ. १०-६-१०.

§ तै. सं. १-५-१.

५. अधिकरणम्.

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥

पूर्वत्रोपपादितोऽन्त्याश्रमसद्भावः । तस्य विद्यार्थमाधानाद्यपेक्षाऽस्ति न वेति संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम् ? विद्याङ्गत्वेन कर्मणो विधानात् विद्यावतामूर्ध्वरेतसां विद्याङ्गत्वेनाधानाद्यनुष्ठेयम् ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—न तेषामाधानाद्यपेक्षा विद्या । 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' * इत्यादिश्रुतेस्तेषां कर्मत्यागैरेव विद्यावत्त्वावगमात् । किंतु स्वाश्रमधर्मापेक्षा सा, तेषामाधानाद्यनुपपत्तेरिति ॥

६. अधिकरणम्.

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥

पूर्वाधिकरणे निरूपितमन्त्याश्रमिणामनुपपत्तेराधानाद्यनपेक्षा विद्येति । तदिह गृहिणां विद्या तदपेक्षा न वेति संशयः ॥

एवं सति गृहस्थानामपि विद्याऽग्नीन्धानादिकर्मनपेक्षिणीति ब्रूमः, तस्य व्यभिचारेण विद्याङ्गत्वानुपपत्तेः । यत्तु विमता विद्या स्वाङ्गभूतकर्मपेक्षा अङ्गित्वात् प्रयाजाद्यपेक्षदर्शपूर्णमास-

घत् इत्यनुमानम्, तत्राधानादेः कीदृशमङ्गत्वं साध्यम्? प्रया-
जादिवत् फलोपकारित्वं वा, अवघातादिवत् स्वरूपोपकारित्वं
वा । नाद्यः, तज्जन्यत्वे मुक्तेरनित्यत्वं स्यात् । द्वितीये सा-
ध्यविकलो दृष्टान्तः । अतो न विद्याङ्गत्वं कर्मणः । तस्मात्
गृहिणामपि विद्या कर्मानपेक्षेति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु—कर्मवत्सु गृहस्थेषु विद्याऽग्निहोत्रादिसर्वक-
र्मापेक्षा, 'यज्ञेन दानेन'* इति श्रुतेः, यज्ञादीनां पारमेश्वराने-
योगसिद्धत्वाच्च ; यथाऽश्वो गमनसाधनभूतोऽपि स्वपरिकरव-
न्धापेक्षो गमने, तथा विद्याऽपीति । कर्मणः फलाभिसन्धिरहित-
त्वेन विद्यास्वरूपोपकार्यङ्गत्वाच्च तज्जन्यत्वं मोक्षफलस्य, किंतु
साक्षात् ज्ञानफलमेव मोक्षः । अतो गृहस्थानां यज्ञादिसापेक्षा
विद्या, सर्वेषामाश्रमिणां स्वाश्रमविहितकर्मापेक्षेति युक्तं विद्यायाः
कर्मापेक्षत्वम् ॥

७. अधिकरणम्.

शमदमाद्युपेतः स्यात् तथाऽपि तु तद्विधेस्त-
दङ्गन्तया तेषामप्यवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥

‘शान्तो दान्त उपरतस्तिक्ष्णः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्ये-
धात्मानं पश्येत्’† ‘श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादबोहि’‡ इत्यादिना वि-

द्यायाः शमादिसंपत्त्यपेक्षा श्रूयते । सा शमादिसंपत्तिर्गृहिणां
संभवति न चेति संशयः ॥

यज्ञादिमत्तया बहुव्यापारव्याकुलानां तेषां तदुपरतिरूपा
शमदमादिसंपत्तिर्न संभवति ॥

इति प्राप्ते उच्यते-गृहस्थो विहितकर्मव्यापृतोऽपि निषिद्धका-
म्यादिकर्मसु व्यापाररहितः शमाद्युपेतः स्यात्, 'शान्तो
दान्तः'* इत्यादिना 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि'† इत्यादिना
च शमादेर्विहितत्वात्, विद्यानिष्पत्तये तदङ्गत्वेन तेषामवश्यानु-
ष्ठेयत्वात् । आन्तराणां रागद्वेषादीनामनाविर्भूतिः शमः । सर्वेषा-
मिन्द्रियाणामविहितव्यापारेभ्यो निवर्तनं दमः । निषिद्धकाम्य-
कर्मव्यापारोपरम उपरतिः । द्वन्द्वसहिष्णुत्वं तितिक्षा । विसृ-
ष्टतन्द्रादिव्याक्षेपस्य चित्तस्य परतत्त्वाभिमुख्यं समाधानम् । अपु-
रुषार्थसकलेतरशास्त्रपराङ्मुखी परविद्यामयपरमात्मतन्त्रोपनिषद्बो-
धसमुत्कण्ठारूपा सत्त्वकला श्रद्धा । विनिर्मुक्तसकलेतरद-
वताराधना त्रिविधकरणसंपाद्या विशिष्टाष्टाङ्गयोगिनी परमशिव-
परिचर्यामयी वैदिकी क्रिया भक्तिः । परमानन्दावेशमयमहामो-
क्षलक्ष्मीदर्शनत्वरामुमुक्षा । ऐहिकामुष्मिकसकलभोगपराङ्मुख-
त्वरूपेण वैराग्येण नित्यानित्यवस्तुनिर्धारणाकारेण विवेकेन च
विशिष्टस्य शमादिसंपत्तिक्रमेण संभवति मुमुक्षा । एते विवे-
कादयो मुमुक्षापर्यन्ताः परमधर्माः सर्वेषामाश्रमिणां विद्यार्थम
विशेषेणानुष्ठेया इति ॥

८. अधिकरणम्.

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥

प्राणविद्यायां पठ्यते 'न ह वा एवंविदि किञ्च नानन्नं भवति'* इति । इह प्राणविद्यानिष्ठस्य सर्वान्नानुमतिः प्रतीयते । तदेषा युक्ता न वेति संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम् ? मानान्तरप्राप्तस्य भोजनस्याधिधेयत्वादिह सर्वान्नानुमतिरप्राप्ता विधीयते ॥

इति प्राप्ते समाधीयते—प्राणविद्यानिष्ठस्यापि सर्वान्नानुमतिर्न सर्वदा, किंतु प्राणात्यय एव । अधिकशक्तेरुपस्तेर्ब्रह्मविदोऽपि हि प्राणात्यय एवोच्छिष्टभक्षणादौ श्रुतिर्दृश्यते—

मटर्चीहतेषु कुरुष्व्वाटक्या सह जायया उपस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास । स हेभ्यं कुलमापान् खादन्तं विमिक्षे । स होवाच, नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इमा उपनिहिता इति । एतेषां मे देहीति होवाच । तानस्मै प्रददौ । हन्तानुपानमिति । उच्छिष्टं मे पीतं स्यादिति होवाच । न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति ? न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच कामो म उदपानम् ॥[†] इत्यादिरूपा । अतः प्राणात्यय एव सर्वान्नानुमतिः परविद्यावतोऽपीति ॥

अवाधाच्च ॥ २९ ॥

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ॥*

इत्याहारशुद्धेरवाश्चाच्च प्राणसंशय एव सर्वाज्ञानुमतिः ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३० ॥

प्राणसंशय एव सर्वाज्ञानुमतिः स्मर्यतेऽपि—

प्राणसंशयमापन्नो योऽन्नमास्ति यतस्ततः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥

तस्मात् 'ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्' इति कामकारनिवृत्तौ
शब्दश्च भवति । अतश्च प्राणसंशय एव विदुषोऽपि सर्वा-
ज्ञानुमतिः । अन्यथा निषिद्धाचरणेन परमेश्वराज्ञाद्रोहो स्या-
दिति भावः ॥

९. अधिकरणम्.

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥

विद्याहीनस्य गृहस्थस्याश्रमकर्म यज्ञादिकं 'यावज्जीवम-
ग्निहोत्रं जुहोति' इति विहिततया च 'यज्ञेन दानेन'† इति
श्रुतेर्विद्यासाधनतया चानुष्ठेयमवगम्यते ॥

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

विद्यावतोऽपि 'विद्यां चाविद्यां च' * इति श्रुतेर्विद्यावत्तया
विहिततया चादुष्टेयमवगम्यते ॥

तदिह विद्याहीनेन विद्यावता च यज्ञादिकं विद्यायास्ता-
धनत्वेन अज्ञत्वेन विहितत्वेन च द्विरनुष्ठेयं सकृदनुष्ठेयं चेति
संशये सत्युभयावधिवलात् द्विरनुष्ठेयमिति प्राप्ते जिज्ञान्त उच्यते-

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥

उभयत्र त्रिनेयोगेनोभयाकारत्वेऽपि त एव यज्ञादयः, स-
र्वत्र प्रत्यभिज्ञानात् । एवं च कर्मस्वरूपैक्ये सति संयोगपृथ-
क्त्वन्यायेन न विरोधः । सकृत्प्रयोगेऽपि वचनद्वयबलेन क-
र्मण एकस्याप्याकारद्वयोपपत्तेः । यथा 'खादिरो यूपो भवति
'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वन्ति' इत्यत्र वचनद्वयबलेन वि-
त्यत्वं काम्यत्वं चैकस्य खादिरत्वस्य, तद्वत् । ततो विदुषोऽपि
प्यविदुषोऽपि विद्याङ्गतया विद्याहेतुतया विहिततया च सकृ-
देवानुष्ठेयं यज्ञादिकमिति ॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥

'धर्मेण पापमपनुदति' † इति श्रुतिविद्योत्पत्तिप्रतिबन्धक-
रितनिवर्तनेन विद्याया अनभिभवं कर्मानुष्ठानकार्यं च दर्शयति
अतो न पूर्वोक्तविरोधः ॥

१०. अधिकरणम्.

अन्तरा चापि तु तदृष्टेः ॥ ३६ ॥

उक्तमाश्रमिणां विद्या संपद्यत इति । श्रद्धानाश्रमिणां विद्या

वेति न वेति संदेहः ॥

अनाश्रमिणः स्वातन्त्र्यादिभिराश्रमैः, तेषां ब्रह्मविद्या न संभवति,
साधनभूतानामाश्रमधर्माणामभावात् ॥

इति प्राप्ते चदामः—रैकादिषु विद्यादर्शनादनाश्रमिणामपि
संभवसंभव ॥

यदुक्तं विद्यासाधनाश्रमधर्माभावादिति, तत्राह—

अपि च स्मर्यते ॥ ३७ ॥

अनाश्रमिणामपि जपादिना विद्यानुग्रहः स्मर्यते—

जप्येनैव तु संसिध्येत् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥* इति ॥

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

आश्रमनियतधर्मविशेषेणापि विद्याऽनुग्रहः श्रूयते । 'तपसा

कुर्येण श्रद्धया विद्यया चात्मानमन्विष्य'† इति ॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

अनाश्रमित्वादितरदाश्रमित्वं ज्यायः, धर्मभूयस्त्वात्, 'अनाश्रमी न तिष्ठेत्तु दिनमेकमपि द्विजः'* इति स्मृतेश्च । एवमनाश्रमित्वादाश्रमित्वं वरमेव ; तथाऽप्यापद्विपद्येऽनाश्रमिणामपि जप्यादिसाधनेन विद्या संपद्यत एवेति ॥

११. अधिकरणम्.

तद्रूपस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात् तद्रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥

इहोर्ध्वरेतसां पूर्वाश्रमाचरोहोऽस्ति न वेति संदेहः ।

'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृहाद्वा वनी भूत्वा प्रव्रजेत्'† इत्याश्रमारोहो यथा स्वेच्छाधीनस्तथाऽचरोहोऽपि ॥

इति प्राप्ते सिद्धान्तयामः—नैष्ठिकादिभूतस्यातद्भावः ततः प्रच्युतिर्न संभवति । कुतः ? नियमात् तद्रूपाभावेभ्यः । नियच्छन्ति हि 'अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्'‡ इति । 'अरण्यमियात् ततो न पुनरेयात्' इति 'संन्यस्याग्नीन् न पुनरावर्तयेत्' इति च शास्त्राणि नियच्छन्ति । न चारोहरूपशास्त्रवदचरोहरूपशास्त्राणि सान्ति । अतस्तेषामप्रच्युतिनियमश्रुतेः प्रच्युतौ श्रुत्याद्यभावाच्च न तेषां विद्याऽधिकारः । जैमिनेरप्येवमेव मतम् ॥

आरूढपतितस्य प्रायश्चित्तादिना विद्याऽधिकारो नास्ती-

त्याह—

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात् तद-
योगात् ॥ ४१ ॥

यदवकीर्णिनो गर्दमपश्चालम्भनम् । अवकीर्णपशुश्च तद्वत् ।
इत्यधिकारिलक्षणोक्तं प्रायश्चित्तं, तदप्यारूढपतितस्य न संभवति-

आरूढो नैष्टिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते नरः ।

प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्धयेत् स आत्महा ॥

इति तस्य प्रायश्चित्तानधिकारस्मृतेस्तदसंभवात् ॥

उपपूर्वमपीत्येके भावमशनवत् तदुक्तम् ॥

उपपातकत्वात् प्रायश्चित्तमप्येके मन्यन्ते, मध्वशनप्रायश्चि-
तवत् । तदुक्तम्—‘उत्तरेषां चैतदविरोधि’ इति । उपकुर्वा-
णस्य यदुक्तं तत् स्वाश्रमाविरोध्यन्येषामप्याश्रमिणां भवतीत्यर्थः ॥

बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

उपपातकत्वे महापातकत्वेऽपि कर्माधिकारादिबहिष्कृता-
प्ये, ‘प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्धयेत् स आत्महा’ इति
स्मृतेः, शिष्टबहिष्काराच्च । अतः सर्वथैवारूढपतितानां न
विद्याऽधिकारः ॥

११. अधिकरणम्.

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥

उक्तमुद्गीथाद्युपासनम् । तदनुष्ठानं यजमानस्य, उत ऋत्विजामिति संशयः ॥

किं प्राप्तम् ? उद्गीथाद्युपासनं यजमानस्यैवानुष्ठेयम्, तस्यैव वीर्यवत्तरत्वफलश्रवणात्, नर्त्विजामित्यात्रेयमतम् ॥

सिद्धान्त उच्यते—

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते ॥ ४५ ॥

‘एवंविदुद्गाता ब्रूयात्’* इति वाक्यशेषे उद्गातुरुपासकत्वं स्फुटं श्रूयते । आर्त्विज्यमेव तदनुष्ठानमित्यौडुलोमिमतम् । कथमन्यकर्तृकमन्यगामिफलं स्यादिति चेत्, ऋत्विजां कर्मस्वरूपवदशेषाङ्गानुष्ठानाय यजमानेन क्रीतत्वात् । साङ्गकर्मानुष्ठानाय हि ऋत्विजो यजमानेन परिक्रियन्ते । तस्माद्वत्त्विकृतं यजमानकृतमेवेति, फलं च तस्य स्वामिन एवेति न विरोधः ॥

१२. अधिकरणम्.

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४६ ॥

कह्लोलब्राह्मणे श्रूयते—‘तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्या बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः’†

इति बह्वपनिषत्तात्पर्यनिर्णयरूपं पाण्डित्यं निश्शेषेण संपाद्य बाल्येन रागद्वेषादिरहितत्वात् बाल्यसहशेनावस्थान्तरेणावतिष्ठेत । ततः पाण्डित्यबाल्ये निश्शेषं संपाद्याथ मुनिः इति । अत्र पाण्डित्यबाल्यवन्मौनमपि विधीयते न वा ॥

इति संशये मुनिरित्यत्र भवेदित्यादिविधिप्रयोगाभावात् विधीयते ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—विद्यावतो यज्ञादिवत् पाण्डित्यबाल्ययोस्तृतीयं सहकार्यन्तरं मौनं विधीयत एव, प्रकृष्टमनशोले मुनिशब्दस्य प्रसिद्धेः । विद्यानिष्पत्त्यर्थमुपास्यविषयाभ्यासरूपमिदं प्रकृष्टमननं तिष्ठामेदिति पदानुवृत्त्या विधीयते । ततो मौनविधिः संभवति विद्यावत इति ॥

१४. अधिकरणम्.

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४७ ॥

इह सर्वेषामाश्रमाणां विद्या साधारणी, उत विशेषोऽस्तीति संशयः ॥

ब्रह्मचारिणो वेदाभ्यासे आचार्यपरवशत्वात् गृहस्थस्य कुटुम्बभरणायासित्वात् वनस्थस्य वैखानसधर्मन्यापृतत्वात् तेषां शान्ध्याने संभवतः । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थास्संन्यासयोगाद्यतयश्शुद्धसत्त्वाः'* इति वेदान्तार्थज्ञानवतां संन्यासयोगश्च-

वणात् 'अन्त्याश्रमस्थः'* इति ध्यानविधौ दर्शनाच्चान्त्याश्रमि-
णामेव ज्ञानध्याने, नापरेषामिति पूर्वः पक्षः ॥

सर्वेष्वश्रमेषु विद्या संभवत्येव । छान्दोग्ये 'कुटुम्बे शुचौ
देशे स्वाध्यायमधीयानः'† इत्यारभ्य 'स खल्वेवं वर्तयन् याव-
दायुषं ब्रह्मलोकमाप्तिं संपद्यते न च पुनरावर्तते'† इति कृत्स्नाश्र-
मेषु विद्यासद्भावप्रदर्शनात् । तत्र गृहिणोपसंहारः सर्वेषां प्रद-
र्शनार्थः । एवमन्त्याश्रमवचनमपि सर्वेषामाश्रमाणां प्रदर्शनार्थम् ॥
अतः सर्वेषामाश्रमिणां विद्याऽस्त्येव । फलत्यागः संन्यासः ॥ याति-
त्वं जितेन्द्रियत्वम् ॥ सर्वमिदं सर्वेषां संभवत्येव ॥

१५ ~~१४~~ अधिकरणम्.

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४८ ॥

अथर्वशिरसि श्रूयते—'तृष्णां छित्वा हेतुजालस्य मूलं बुद्ध्या
संचिन्त्य स्थापयित्वा च रुद्रे । रुद्र एकत्वमाहुः । रुद्रं शा-
श्वतं वै पुराणमिषमूर्जे तपसा नियच्छत व्रतमेतत् पाशुपतम्'
इति । तत् पाशुपतव्रतमथर्वशिरसि श्रुतं पुराणेषु च प्रसिद्धमेव ।
तन्निष्ठानां विद्याप्राप्तिर्मुक्तिश्च संभवति न वेति संशयः ॥

किं प्राप्तम् ? आश्रमेष्वनन्तर्भावात्, अवसानदर्शनात्, पु-
त्रार्थं कृष्णादिभिरनुष्ठितत्वात् अवान्तरफलसिद्धिमन्तरेण तेषां
न मोक्षसिद्धिरस्ति ॥

इति प्राप्ते ब्रह्मः—तेषामत्यन्तव्रतधारिणां मुक्तिरेव फलं
संभवति । विद्यासंपात्तश्च परब्रह्मणो रुद्रस्यानुसन्धानरूपा ।

मुनिधर्मवदितरेषामपि मिक्षाचर्यशमदमादीनां परधर्माणां पाशु-
पताख्ये व्रतेऽप्युपदेशात् तन्निष्ठानामपि 'रुद्र एकत्वमाहुः ।
रुद्रं शाश्वतं वै पुराणमिषमूर्जे तपसा नियच्छत व्रतमेतत्
पाशुपतम्.....अग्निरित्यादिना भस्म गृहीत्वा विमृज्याङ्गानि
संस्पृशेत् तस्माद्ब्रूतमेतत् पाशुपतं पशुपाशविमोक्षाय'* इति
रुद्रध्यानस्य पाशविच्छेदरूपस्य मोक्षफलस्य संबन्धावगमाच्च ।
अतो यावदायुषं पाशुपतव्रतधारिणां मुक्तिरेव फलम् ॥

यदुक्तमाश्रमेष्वनन्तर्भाव इति तत्राह—

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ४९ ॥

आश्रमान्तररूपेणात्मावमनाविष्कुर्वन् अव्यक्तीभवन्नपि पाशु-
पताश्रमो विद्यासाधनब्रह्मचर्यादियतिधर्मसमन्वयादत्याश्रमसंज्ञ-
कोऽयमाश्रमभेदः स्वतन्त्रः परमशिवप्राप्तिहेतुः । 'यावच्छरीर-
पातं वा द्वादशाब्दमथापि वा' इत्युक्तेरात्यन्तिकसावधित्वेन पाशु-
पतव्रतस्य विकल्पः । तत्रात्यन्तिकमत्याश्रमसंज्ञकमपवर्गहेतुः,
तदन्यद्भोगहेतुरिति व्यवस्था । एवं भुक्तिमुक्तिहेतुतयोभ्यात्म-
कमिदं व्रतं शिवप्रसादकरं श्रुतिरेव विदधाति । यथा नाप्रा-
प्यापातोऽस्या भवति तथा योजनीयम् ॥

१६. अधिकरणम्.

ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥५०॥

उक्तक्रमोपासननिष्ठानामैहिकं मुक्तिफलम्, उत जन्मान्तरे
वा भवति ॥

*अथर्वशिरः.

इति संशये विचार्यते—इहैव मे जन्मनि मुक्तिर्जायतामि-
त्यभिसंधाय पुरुष उपासने प्रवर्तते, न तु जन्मान्तर इति । कः
प्रयोजनस्य विलम्बनमोहते । तस्मादैहिकमेव मुक्तिफलं, यदि
भवति । न चेत्, कदाचिदपि न भवति ॥

इति प्राप्ते वदामः—प्रबलकर्मन्तरप्रतिबन्धाभावे परोपास-
नफलमिह जन्मनि भवति; तत्सद्भावे तु जन्मान्तरे । यथाऽ-
भ्युदयफलं स्वसाधनभूतपुण्यकर्मन्तरमेव संपद्यत इति न नि-
यमः, किंतु प्रतिबन्धकसद्भावे जन्मान्तरे भवति, तद्वत् वा-
मदेवादिषु जन्मान्तरश्रवणतदिवलेन तत्फलदर्शनात् । ततोऽनैहि-
कत्वे मुक्तिफलस्य नियम इति ॥

१६१ अधिकरणम्.

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तद-
वस्थावधृतेः ॥ ५१ ॥

केवलकर्मफलाभ्युदयवन्मुक्तिफलमपि प्रबलकर्मन्तरप्रतिब-
न्धाभावे भवतीति निरूपितम् । तन्न्यायेन कर्मफलवत् ज्ञान ।
फलस्यापि सातिशयत्वनियमोऽस्ति न वेति संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम्? कर्मफलवन्मुक्तिफलमपि सातिशय-
'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो
यजेत' इत्यादिभिः कर्मफलस्य सातिशयत्वमवगम्यते; तद्वत्
पासनज्ञानफलस्यापि ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—कर्मफलस्येव ज्ञानोपासनफलस्य न
सातिशयत्वनियमः, ब्रह्मस्वरूपावस्थाया एव फलत्वावधृतेः ।
सर्वेषामपि विद्यावतां ब्रह्मस्वरूपस्यैकत्वात् वैषम्यकथाऽत्र सं-
भवति । न चोपासनतारतम्यान्मुक्तिरूपस्य तत्फलस्य तास्तम्यं
स्यादिति वाच्यम्, उपासनकर्मणां मुक्तिफलव्यतिरेकेण फला-
न्तरभावात्, ब्रह्मण एकत्वेन तद्रूपस्य मुक्तिफलस्याप्येकत्वात्
अतो न मोक्षफलवैषम्यमिति ॥

इति श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचिते ब्रह्ममीमांसा-

भाष्ये तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः..

समाप्तश्च तृतीयोऽध्यायः..



अथ चतुर्थध्यायस्य प्रथमः पादः.

१. अधिकरणम्.

आघृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

विचारिताः खलूपासकोपास्योपासनभेदाश्रमधर्मादयस्त्वृती-
याध्याये । इह पुनश्चतुर्थध्याये प्रथमे पादे उपासनाप्रकारः,
द्वितीये जीवस्योपासकस्योत्क्रान्तिदशा, तृतीयेऽर्चिरादिगतिः,
चतुर्थे ब्रह्मप्राप्तस्यावस्था च निरूप्यते । प्रथमाधिकरणेऽत्र
'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'* 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति'† इत्या-
दिषु मोक्षसाधनतया विहितं वेदनं सकृदनुष्ठेयम्? उतावर्तनी-
यम्? इति संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम्? सकृदनुष्ठेयम्, 'सकृत् कृते कृतः
शास्त्रार्थः' इति न्यायात्, प्रयाजादिवत् सकृदनुष्ठानेऽपि वेदन-
ज्ञानशब्दार्थसिद्धेः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'* इत्यादिषु मोक्ष-
साधनतया विहितं वेदनमसकृदावर्तनीयम् । 'मनो ब्रह्मेत्यु-
पासीत...भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य
एवं वेद'† 'यत्स वेद स मयैतदुक्तः'§ 'अनु म एतां भगवो
देवतां शाधि यां देवतामुपास्से'§ इत्यादिश्रुतिषूपक्रमोपसंहा-
र्योर्विद्युपास्त्योर्व्यतिकरोपदेशेन मोक्षसाधनरूपस्य वेदनस्योपा-
सनारूपत्वावगमात्, उपासनशब्दस्य च स्मृतिसन्तानवाचितत्वात्।
यदुक्तं 'प्रयाजादिवत्' इति, तस्यादृष्टफलत्वाद्युक्तं सकृदनु-

*तै. २-१.

†श्वे. ४-१४.

‡छा. ३-१८-१.

§छा. ४-१-४; २-२.

ज्ञानम् । वेदनफलस्य साक्षात्कारस्य दृष्टत्वात् तस्याफलोदय-
मावृत्तिः, अवघातादिवदिति ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

अस्मिन् विषये लिङ्गं चास्ति—

क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता ।

महापातकयुक्तो वा युक्तो वाऽप्युपपातकैः ॥

प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समभ्यसेत् ।

आध्यात्मिकान् योगाननुतिष्ठेत् ॥

रुक्मामं स्वप्रधीगम्यं विद्यात्तु पुरुषं परम् ॥

इत्यादि । अतश्च ब्रह्मवेदनस्यावृत्तिरिति ॥

२. अधिकरणम्.

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥३॥

पूर्वत्र ब्रह्मण उपासनमावृत्तिमदाभिहितम् । तदात्मनस्त-
द्वायेनोपासनमुत तदर्थान्तरत्वेनेति विचारः ॥

एवं सति 'विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः'* 'अधिकं तु भेद-
निर्देशात्'† इत्यादिश्रुतिसूत्रेषु प्रत्यगात्मनः पशोर्जीवात् पत्युः
परब्रह्मणोऽर्थान्तरत्वेन निरूपितत्वात् सर्वज्ञत्वादिना जीवस्य
ब्रह्मभावाघटनाच्च ब्रह्मोपासनं जीवस्य स्वभिन्नत्वेनैव युज्यत
इति पूर्वः पक्षः ॥

*महाना. १०-१९.

†ब्र. सू. २-१-२२.

सिद्धान्तस्तु—यद्यपि जीवादाधिकमेव शिवाख्यं परं ब्रह्म,
 तथाऽप्युपासिताऽहं ब्रह्मास्मीति तदुपासीत; यतः पूर्वोऽप्युपा-
 सित्वारः ‘त्वं वा अहमस्मि भगवो देयते अहं वै त्वमसि’
 इत्यात्मैत्येवावगच्छन्ति । उपासितुरर्थान्तरत्वेऽपि तानुपासितृ-
 ननुगृह्णाति स्वस्वरूपतया परं ब्रह्म । ते च पुनः स्वात्मतया
 ग्राहयन्ति परानपि शिष्यान् ‘तत्त्वमसि’* इत्यादिना ।
 निरवधिकपरमानन्दमयानिष्कलङ्कशिवत्वप्राप्तिर्हि मुक्तिः । शिव-
 त्वप्राप्तिरात्मनः पशुत्वानिवृत्तिमन्तरेण न संभवति, पशुत्व-
 निवृत्तिश्च न तद्भावनां विना । अतो निरन्तरं शिवोऽहमिति
 भावनाप्रवाहेण शिथिलितपाशतयाऽपगतपशुभाव उपासकः शिव
 एव भवति । निरस्तसमस्तदोषकलङ्कशङ्कनिरतिशयमङ्गलास्पदं हि
 शिवत्वम् । परं ब्रह्म च तादृगेव । तद्भावनयोपासकश्च तथैव
 भवति । अत एव तदन्यस्य मुमुक्षुध्येयत्वं निषिध्यते—‘शिव
 एको ध्येयः शिवंकरः सर्वमन्यत् परित्यज्य’† इत्यादिश्रुतिषु ।
 निवृत्तब्राह्मणादिदेहाभिमानमयपशुभावस्य निरतिशयस्वरूपानन्द-
 साक्षिस्वप्रकाशशिवरूपपराहंभावापत्तिर्मुक्तिरिति सर्वश्रुतितात्प-
 र्यात् । ब्रह्मभावेनोपासनमुपासकस्य मुक्तिफलम्, अन्यथा संसारा-
 निवृत्तिरिति ॥

३. अधिकरणम्.

विशेषमाह—

न प्रतीके न हि सः ॥ ४ ॥

‘मनो ब्रह्मेत्युपासीत’* इत्यादिश्रुतिषु मनःप्रभृतिषु ब्रह्मोपासनमवगम्यते । तेष्वप्यात्मत्वेनोपासनमुत भिन्नत्वेन ॥

इति संशये पूर्वपक्षः—‘मनो ब्रह्मेत्युपासीत’* ‘आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत’† इत्यादिना सिद्धेषु प्रतीकोपासनेषु ब्रह्मदृष्ट्या संस्कृतं मनःप्रभृतिकमुपास्यमवगम्यते । अतः प्रतीकमुपासनेन ब्रह्मतया भावितमित्यात्मतया तदुपासने को विरोधः ॥

इति प्राप्त उच्यते—नात्मग्रहणं प्रतीकेषु, तेषु हि न परं ब्रह्मोपास्यम्, किंतु ब्रह्मदृष्ट्या मनःप्रभृतिकमुपास्यम् । तत्र मनआदिविशिष्टस्य ब्रह्मण एवोपास्यत्वेऽपि मनआदेर्ब्रह्मगुणत्वाभावान् विकारत्वेन तद्विशिष्टे ब्रह्मणि नात्मग्रहणम्, किंतु सत्यसंकल्पत्यादिविशिष्टे । अन्यथा ह्यात्मनोऽपि विकारासदत्वं स्यात् । अतः प्रतीके नात्मग्रहणमुपासकानाम् । न हि तत्र परमेश्वरः साक्षादुपास्य इति ॥

४. अधिकरणम्.

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

प्रतीकोपासने मनआदित्यादिप्रतीके ब्रह्मदृष्टिरुपासकेन कर्तव्या, उत ब्रह्मणि तदृष्टिः ॥

इति संदेहे पूर्वः पक्षः—मनआदिदृष्टिं ब्रह्मणि कृत्वा ब्रह्मोपासनीयम्, तस्यैव फलदातृत्वात् ॥

इत्येवं प्राप्त उच्यते—‘विश्वविधिको रुद्रः’* इत्यादिषु ब्रह्मण उत्कृष्टत्वावगमात् तद्दृष्टिरेव निकृष्टेषु मनआदिषु कर्तव्या । लोके हि निकृष्टे भृत्यादौ राजदृष्टिं कृत्वा राजवत् तमुपासते, न तु भृत्यदृष्टिं कृत्वा राजानमुपासते केचिदपि । इदमेव च परमौचित्यं यदुत्कृष्टं वस्तु तदेव सर्वे नमन्ति । अतः परं ब्रह्म सर्वोत्कृष्टतयैव सर्वनमस्कारविषयोऽवगम्यते । ‘ऋतं सत्यम्’† इति मन्त्रे उक्तविशेषणविशिष्टं यत् परं ब्रह्म, विश्वरूपाय तस्मा एव नमः सर्वोऽपि नमस्कारः, नान्यस्मै कचिदपीति ॥

किंचास्य परब्रह्मण उत्कृष्टतयैव नमस्कारविषयत्वं लक्षणमुक्तम् । तथा हि तैत्तिरीयश्रुतौ ‘यस्मै नमस्तच्छिरो धर्मो मूर्धनं ब्रह्मोत्तरा हनुर्यज्ञोऽधरा विष्णुर्हृदयं संवत्सरः प्रजननम्’‡ इत्यादिना शिशुमारात्मनिरूपणे हृदयादिरूपेभ्यो विष्णवादिभ्यः पार्थक्येन सर्वोत्कृष्टत्वादेवास्य परब्रह्मणः शिवस्य प्रधानशिरोरूपत्वं ‘यस्मै नमस्तच्छिरः’§ इति नमस्कारविषयत्वेन लक्षणेनैवानूदाभिहितम् । अवसाने च ‘त्वं भूतानामधिपतिः ससि त्वं भूतानां श्रेष्ठोऽसि’|| इत्यस्यैव सर्वभूतविषयमाधिपत्यं श्रेष्ठत्वं चोक्त्वा ‘नमस्ते नमः सर्वे ते नमः’¶ इति सकलभूतोत्कृष्टत्वात् सिद्धमखिलनमस्कारपर्यवसानभूमित्वमुक्तम् । सर्वत्र च ‘नमस्ते रुद्र मन्यवे’§ इत्यादिषु सर्वोत्कृष्टतयैव पुनः पुनरस्मै नमः प्रयुज्यते । ऐश्वर्यादिना हि लोकेऽधिकं नमन्ति । ततः सर्वनमस्कारावप्यतया सर्वोत्कृष्टमुमासहितं विरूपाक्षमीश्वरशब्दैकविषयभूतं परं ब्रह्म । अस्य सर्वोत्कृष्टस्य सर्वनमस्कार्यस्य व्याप्तिदृष्ट्या सर्वेषां मनआदित्यादीनां प्रतीकानामुपास्यत्वम् । अत एव ‘श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमः’§ इत्यादिषु श्वादिष्वत्यन्तानिकृष्टेष्वपि

*महाना. १०-१९.

†महाना. १९.

‡तै. आ. २-१९.

§तै. सं. ४-५.

सर्वोत्कृष्टग्रहाव्याप्तिदृष्ट्या श्रुतिर्नमः प्रयुक्ते । तस्मादुत्कृष्टसंयन्धा-
विकृष्टेषूपचारदर्शनात् विश्व्याधिकग्रहादृष्ट्या मनःप्रभूतानामुपा-
स्यत्वं सिद्धम् ॥

५. अधिकरणम्.

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥

पूर्वत्र ज्ञाण उत्कृत्वादादित्यादिषु तद्दृष्टिरुपासनेऽभिहिता
'य एवासौ तपति तमुद्गोथमुपासोत'* इत्यादिषु कर्माङ्गोपास-
नोद्गोथादिदृष्ट्यादित्यादिषु कार्या, उत विपर्यासेनैव इति
संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम्? उद्गोथादीनामादित्यादीनां च कर्मा-
ङ्गत्वग्रहारूपत्वाविशेषादनियम इति ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आदित्यादेः कर्मारब्धत्वेनोत्कृष्टत्वात् क-
र्माङ्गे उद्गोथादौ तद्दृष्टिः कार्या, तद्दृष्टिसंस्कृतस्योद्गोथादिकर्मणः
फलातिशयसंभवात् । यत् अलु स्वतो वीर्यवत् क्रियमाणं च,
तस्यैव विद्यया संस्कृतस्य वीर्यवत्तरत्वरूपफलातिशयः 'यदेव
विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति'† इति वाक्यादवग-
म्यते । एवं च ज्ञातात्मत्वादिसाम्येऽप्युद्गोथादिक्रियाचोदनादुद्गो-
थादेः क्रियमाणत्वेन फलसाधनत्वात् तद्विपर्ययसिद्धस्वभावादि-

त्यादेस्तथा फलसाधनत्वाभावादादित्यादिदृष्टिरुद्धीथादिष्वङ्गोप्यिति
निर्णयः ॥

६. अधिकरणम्.

आसीनः संभवात् ॥ ७ ॥

उपपादितमुपासनाव्यवस्थापनम् । तदिहोपासनस्यासननि-
यमोऽस्ति न चेति संशयः ॥

क्वचिदपि 'आसीन उपासीत' इति नियमाश्रयणान्मानस
व्यापाररूपस्योपासनस्य सर्वावस्थायामपि संभवान्नास्त्यासननि-
यम उपासकस्येति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु—आसीन एव ब्रह्मोपासीत, तस्यैवैकाग्रसं-
भवात् । अस्ति चासनानयमश्रुतिरपि—

विविक्तदेशे तु सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः।
अन्त्वाभ्रमस्थस्सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं
प्रणम्य ॥

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशवं वि-
शोकम् ।

अनन्तमव्यक्तमचिन्त्यरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिस्य ॥

तथाऽदिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपममृतम् ।

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ॥
 ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः
 परस्तात् ।

इति कैवल्योपनिषदि । अत आसीन एव ब्रह्मोपासीतेति ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

‘ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिम्’* ‘कारणं तु ध्येयः सर्वै-
 श्वर्यसंपन्नः सर्वेश्वरः शम्भुराकाशमध्ये’† ‘ध्याननिर्मथनादेव’*
 इत्यादिश्रुतौ पाशविच्छेदकारणस्योपासनस्य ध्यानरूपत्वावग-
 मात् । ध्यायतेश्च ‘ध्यायति वक्रो ध्यायति प्रोषितं बन्धुः’
 इत्यादौ च प्रशिथिलाङ्गचेष्टेषु प्रतिष्ठितदृष्टिष्वेकविषयाक्षिप्तचित्तेषु
 व्यवहारात्, विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहिते तैलधारावदविच्छि-
 द्धस्मृतिसंतानरूपध्याने चित्तैकाग्रचावश्यंभावाच्च ध्यानसिद्धयेऽ-
 वश्यमासननियम आदर्तव्यः ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

पृथिव्यादीनामचलत्वमपेक्ष्य ‘ध्यायतीव पृथिवी ध्यायती
 नान्तरिक्षम्’‡ इत्यादिप्रयोगाच्चासीन एवोपासीत । ध्यानसंततिर्हि
 पृथिव्यादिवदचलत्वेनासीनस्यैव संभवति ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम् ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।

उपाविद्यासने युज्यात् योगमात्मविशुद्धये ॥*

इत्युपासकानामासननियमादिस्मरणाच्चासीन एव ब्रह्मोपासीतेति सिद्धम् ॥

७. अधिकरणम्.

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

उक्त उपासकस्यासननियमः । तद्वद्वि देशकालनियमोऽस्ति न वा ॥

इति संदेहे सत्यस्तीति युज्यते । यथा चोदिते कर्मणि 'ब्रह्मयज्ञेन यज्यमाणः प्राच्यां दिशि'† इति दिङ्नियमः, 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत' इति देशनियमः, 'अपराहे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' इति कालनियमः, तथाऽत्रापि चोदितत्वाविशेषादुपासने दिगादिनियमो युक्त इति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु—उपासने नास्ति दिगादिनियमः । ऐकाग्र्यं हि ध्यानस्य प्रधानसाधनम्, न हि तत्र दिगाद्यपेक्षा । यत्र रागद्वेषादिकालुष्यहेतुर्नास्ति, तत्र हि मनस ऐकाग्र्यं भवति, तावदेवापेक्षणीयम्, 'विविक्तदेशे तु सुखासनस्थः'‡ इति भवणात् । 'अनन्तं शिवसन्निधौ' इत्यादिकं जपादिविषयम्, न ध्यानविषयम्, तत्राप्यैकाग्र्यं यदि मुख्यतमं भवति । तस्मादैकाग्र्यमात्रसाधनकस्य ध्यानरूपोपासनस्य न दिग्देशकालनियमः ॥

८. अधिकरणम्.

आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

पूर्वत्र ब्रह्मोपासनायां दिगादिनियमाभाव उक्तः । इह पुनस्तस्योपसंहारोऽस्ति न वेति विचारे यावदिच्छा तावदुपासना कर्तव्या । अन्यथा तदुपसंहारः ॥

इति पूर्वपक्षे प्राप्ते सिद्धान्तः—आप्रायणादहरहरुपासना कार्या, न कदाचिदपि तदुपसंहारः, 'अहरहर्वा एवंवित् स्वर्गं लोकमेति' * 'स अल्पेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते'† इत्यादावाप्रायणादुपासनश्रवणात् । ब्रह्मस्वरूपत्वापादिन्या ब्रह्मभावनाया मध्ये विच्छेदो न कार्यः । स्वात्मतया नैरन्तर्येण ब्रह्मणि भाविते हि तद्रूपमुपासकेषु प्रकाशते । अतः सर्वशं नित्यतृप्तं स्वयंप्रकाशं स्वतन्त्रमलुप्तशक्तिकमनन्तशक्तिकं परं ब्रह्म नैरन्तर्येण भावनीयं तत्स्वरूपप्रकाशायेति । तथा श्रूयते ब्रह्मस्वरूपमुपासकेषु प्रकाशत इति—

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी ।

तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि ॥‡

इति । अनादिमलकर्मवासनारूढदेवादिशरीराभिमानप्रवाहसिद्धा-
मध्यात्मादिभेदभिन्नामसह्यां संसाररुजं द्रावयत्युपासकानामिति
रुद्र इत्युच्यते परं ब्रह्म शिवः । तस्यामन्त्रणं रुद्रेति । हे रुद्र !
परमेश्वर ! या ते तनूः मूर्तिः शिवा नित्यसिद्धापहतपाप्मा-
दित्वेन परमविशुद्धा परममङ्गलमयी परममङ्गलप्रदा अघोरा
शिवत्वयोगेनैव सर्वहृदयङ्गमा अपापकाशिनी, पापग्रहणस्योपल-

* छा. ८-३-३.

† छा. ८-१५-१.

‡ तै. सं. ४-५-१.

क्षणत्वात् ज्ञानाग्निदग्धनिखिलपुण्यपापा इहापापा इत्युच्यन्ते मुक्तात्मानः, तेषु प्रकाशमानत्वादपापकाशिनी, ईदृशी या ते तनूः तथा शन्तमया 'स एको ब्रह्मण आनन्दः'* इत्यादिश्रुतिसिद्धनिरतिशयानन्दलक्षणया तन्वा नोऽस्माकमपि संसारनिमित्तं पुण्यपापसंचयमपनीय स्वरूपतया साक्षादतीव प्रकाशस्वेति प्रार्थनेयमुपासकानाम् । अत उपासकानामात्मनि ब्रह्मस्वरूपस्य प्रकाशनात् तत्प्रकाशकारणभूता ब्रह्मभावना यावदायुषं कर्तव्या, न कदाचिदपि विच्छेद्येति ॥

१. अधिकरणम्.

तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

पूर्वत्र प्रकर्षेणापापानामुपासकानां ब्रह्मस्वरूपं प्रकाशत इति सोपपत्तिकमुपपादितम् । तदिहोपासकस्य पापक्षयोऽस्ति न वेति संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम्? उपासकानामपि भोगमन्तरेण पापक्षयो न भवति, 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इति वचनात् । भोगाय शरीरापत्तौ पुनरपि कर्मोपत्तिरिति न मोक्षावसरः ॥

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—क्षीयते पापं कर्मोपासकानामिति । कथम्? उपासने प्रारब्धे तत्सामर्थ्यादेव पूर्वाधनाशः उत्तराध्याश्लेषश्च भवति । तथा हि व्यपदिश्यते—'तद्यथेषीकातूलमग्नौ

प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते* 'तद्यथा पुष्कर-
पलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते'†
इति । तस्मादुपासकानां पूर्वोत्तराद्योरश्लेषविनाशौ भवत
एव । यदुक्तम् 'नाभुक्तं क्षीयते' इति, तस्याज्ञानविष-
यत्वादविरोधः ॥

१०. अधिकरणम्.

इतरस्याप्येवमश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

विदुषः पापलेपो न भवतीति निरूपितम् । इह तद्वि-
रोधिपुण्यलेपोऽस्ति न चेति विचारः ॥

किं प्राप्तम्? विद्याविरोधिनः पापस्य क्षयो युक्तः, न
तु पुण्यस्य, तस्य विद्याङ्गत्वेनानुवृत्त्यौचित्यात् ॥

इत्येवं प्राप्ते निरूप्यते—विदुषः पुण्यस्यापि मोक्षविरोधि-
त्वेनानिष्टफलत्वसाम्यादश्लेषविनाशौ । विद्यानुगुणस्यारोग्यादिफ-
लस्य पुण्यस्य शरीरपाते लयः । विद्याङ्गकर्मणस्तु काम्यफ-
लादिसंवन्धाभावात् श्लेषः । अतो विदुषः पुण्यलेपोऽपि
नास्तीति निर्णयः ॥

११. अधिकरणम्.

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥

पूर्वत्र विदुषः पुण्यपापयोरुत्तरपूर्वयोरश्लेषविनाशौ निरू-
पितौ । इह प्रारब्धकार्ययोस्तयोः स्थितिरस्ति न चेति संशयः ॥

‘सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते’* इत्यविशेषश्रवणात् विद्याऽधिकृतेः पूर्वत्वाविशेषेण तयोरपि विनाशः ॥

इति प्राप्त उच्यते—विद्याऽधिकृतेः पूर्वकृते पुण्यपापे फलदानायाप्रवृत्ते एव विनश्यतः ‘तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये’† इति शरीरपातावाधिः श्रूयते । अतः प्रारब्धयोर्न विलयः ॥

१२. अधिकरणम्.

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥

पूर्वत्र विदुषः पुण्यपापाग्लेषविनाशौ निरूपितौ । यावदायुषमुपासनावृत्तिरप्युपपादिता । इह पुनरग्निहोत्राद्यनुष्ठानमपि यावच्छरीरपातमनुवर्तते, उत भव्ये विच्छिद्यत इति विचारः ॥

किं प्राप्तम्? अग्निहोत्रादिकमाप्रायणं नानुष्ठेयम्, क्रियमाणेऽपि विनाशाभ्युपगमात्, अप्रयोजने कस्य मनः प्रवर्तते इति ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अग्निहोत्रादिकमाप्रायणमनुष्ठेयं विद्याकार्यायैव । तथा हि दृश्यते—‘तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन’‡ इत्यादि । अत्र वेदानुवचनं वेदाभ्यासः परमेश्वरप्राप्तिसाधनपरमज्ञानहेतूनामभ्यात्मवादिनां वेदमन्त्राणां जपावृत्तिः । तथा जाबालोपनिषदि—‘अथ हैनं ब्रह्मचारिण ऊचुः, भगवन् किं जप्येनामृतत्वं

इति । स होवाच याज्ञवल्क्यः शतरुद्रीयेणेति । एतानि ह वा
 अमृतस्य नामधेयानि एतैर्हवा अमृतो भवति' इति । कैवल्यो-
 नियादि—'यः शतरुद्रीयं ब्राह्मणो नित्यमधीते सोऽग्निपूतो
 भवति स वायुपूतो भवति सुरापानात् पूतो भवति ब्रह्मह-
 तयाः पूतो भवति अन्त्याश्रमी सर्वदा सकृद्वा जपेत् परमं
 ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम्' इति । इह शतरुद्रीयसंज्ञानां
 ब्रह्मबोधकानां मन्त्राणामभ्यासात् संसारनाशनस्य परमज्ञानस्य
 प्राप्तिः, तद्विरोधिपापक्षयश्चावगम्यते । 'एतानि ह वा अमृ-
 तस्य नामधेयानि' इत्यमृतस्यानादिमुक्तस्य शिवस्य नामधेय-
 नाद्धेतोः शतरुद्रीयजपात् सकलपापक्षयादिप्रतिपादनात् परमे-
 श्वरस्य शिवादिनामधेयानामभ्यासोऽपि विद्याविरोधिसकलपाप-
 क्षयहेतुरवगम्यते । तथैव मुण्डकोपनिषदि श्रूयते—'अपि वा
 ब्रह्माण्डालः शिव इति वाचं वदेत् तेन सह संवदेत् तेन सह संवसेत्
 तेन सह भुञ्जीत' इति । अत्र हि शिवशब्दस्य ब्रह्मबोधकस्य
 समुच्चारणमात्रेणात्यन्ताविशुद्धस्य पातकिनः परमविशुद्धिप्राप्तिर-
 वगम्यत इति । अन्यत्र च 'योऽथर्वशिरसं ब्राह्मणो नित्य-
 मधीते' इत्यारभ्य तदभ्यासिनः सकलपापक्षयमुक्त्वा 'सकृ-
 द्जप्त्वा शुचिः पूतः कर्मण्यो भवति द्वितीयं जप्त्वा गाणाप-
 तमाप्नोति तृतीयं जप्त्वा देवमेवानुप्रविशति' इति मोक्षफलं
 प्रतिपाद्यते । 'आत्मानमराणि कृत्वा प्रणवं चोत्तरारिणम्'*
 इत्यादिषु च प्रणवाद्यभ्यासस्य पाशविच्छेदहेतुत्वमुच्यते ।
 एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । अतः परमेश्वरपराणां वेदमन्त्राणां
 पापक्षयद्वारा परमज्ञानहेतुत्वेन मोक्षसाधनत्वावगमात् तद-
 भ्यासः कर्तव्यो विद्यावताऽपि यावज्जीवम् । एवमग्निहो-
 यदीनामपि यज्ञानां परमेश्वरसमर्पितफलानां तदाज्ञासिद्धत्वात्

तदाराधनरूपत्वाच्चाभ्यासः कार्यः । एवं दानादीनामपि । तस्माद्विदुषाऽपि विद्यानिष्पत्तिकार्यायाग्निहोत्रादिकमनुष्ठेयमिति । कर्मतपोजपध्यानज्ञानरूपमीश्वरोपासनम् । कर्माग्निहोत्रादिकम्, तपो नियमः, कायशोषणं वा, जपः पूर्वोक्तप्रणवाद्यभ्यासः, एतेषां पापशोषणद्वारा मोक्षहेतुत्वम् । ज्ञानध्यानयोस्तु साक्षात्, ब्रह्मस्वरूपापत्तिहेतुत्वात् । अतः सर्वेषामेषामनुष्ठानं कार्यम् ॥

ननु यद्यग्निहोत्रादिसाधुकृत्या विद्योत्पत्त्यर्था । तदन्या च पूर्वकृता साधुकृत्या विद्याप्रारम्भे सति विनष्टा । तर्हि 'सुहृदः साधुकृत्याम्' इत्यस्य को विषय इत्याशङ्क्याह—

अतोऽन्याऽपि ह्येकेषामुभयोः ॥ १७ ॥

'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विपन्तः पापकृत्याम्' इत्येकेषां शाट्वायनशाखिनां वचनस्य विद्यानिष्पत्त्यर्थाग्निहोत्रादिसाधुकृत्याया अन्या प्रबलकर्मन्तरप्रतिबद्ध-फला विद्याऽनुगुणान्नारोग्यचित्तशुद्ध्यादिजननयोग्यतया विद्याऽनुगुणफलत्वात् विद्ययाऽप्य-विनष्टा । पूर्वोत्तरयोरुभयोरपि कर्मराशयोस्स विषयः ॥

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

'यदेव विद्यया करोति'* इत्यत्र कर्मफलाप्रतिबन्धस्योद्गीथ-विद्याफलत्वोक्त्या प्रबलकर्मन्तेरणान्यकर्मणां फलप्रतिबन्धसङ्गा-वोऽवगम्यते । अतो विद्यानुगुणकर्मणां फलप्रतिबन्धोच्छेदाया-प्यग्निहोत्रादिकमनुष्ठेयमिति भावः ॥

१३४. अधिकरणम्.

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सपद्यते ॥ १९ ॥

इह विद्यावतामधिकारपदे स्थितानां तद्व्यतिरेकेण मुक्ति-
रस्ति न वा ॥

इति चिन्तायां प्रारब्धभोगाय बहुजन्मस्वीकारे पूर्वविद्ययां
यत् कर्म क्रियते, तदपि फलभोगहेतुर्भवति । अतो
जन्मपरम्परायाः संभवान्न तेषां मुक्तिः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—प्रारब्धकर्म स्वफलं भोजयितुं केवलम्,
तु तेषां पूर्वार्जितविद्यालोपहेतुः, अतस्तेषां मुक्तिरेव, न
जन्मपरम्परा, कारणाभावात् । सुषुप्तिव्यवधानवत् जन्ममरणव्य-
यानं न तेषां विद्यालोपहेतुरिति ॥

इति श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचिते ब्रह्ममीमांसाभाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः.

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः.

१. अधिकरणम्.

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

अत एव च सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

पूर्वमुपासकस्योपासनव्यवस्थानादिकमुक्तम् । इह पादेऽस्य
शेषोपवृत्तान्तिर्निरूप्यते । 'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो

वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्* इति श्रुतौ प्रयतो वागादीनां मनसि लयोऽवगम्यते । अयमुपपन्नो न वेति संशयः ॥

किं प्राप्तम्? कार्यस्य ह्युपादाने लयः, मृदघटादौ व्याप्तिदर्शनात् । वागादीनां ब्रह्मोपादानं न मनः, अतोऽस्मिन्नेव तेषां लयो युक्तः ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—‘अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते’* इति ‘इन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः’† इति च वचनादुत्क्रान्तौ मनसः प्रागेव वागादीनामुपरमदर्शनाच्च वाक् मनसि प्रथमं संपद्यते ततः सर्वाणीन्द्रियाणि मनसि संपद्यन्ते । यदुक्तमुपादान एव लय इति तन्न, स्वरूपलयस्यैवोपादानापेक्षा । वागादीनां मनसि न स्वरूपलय उच्यते, किंतु वृत्तिलय एव । यथा जलमध्ये क्षिप्तस्याङ्गारस्य प्रकाशादिवृत्तिलयः, तथा अनुपादानेऽपि मनसि वागादीनां वृत्तिलयो युक्त एव । वृत्तिमतो वागादेर्लयश्रुत्या वृत्तिलयो लक्ष्यते, वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादिति ॥

२. अधिकरणम्.

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

‘मनः प्राणे’* इति वागादिसर्वेन्द्रिययुक्तस्य मनसः प्राणे लयः श्रूयमाणः कीदृश इति संशयः । वागादीनामनुपादाने

मनसि वृत्तिलयोऽस्तु । मनसस्तु प्राणे स्वरूपलय एव, मनसः प्राणोपादानकत्वात्, 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः'* इति श्रुतेरन्नमयत्वेन पार्थिवस्य मनस आपोमयत्वेनोपादाने प्राणे स्वरूपलयस्याविरोधादिति पूर्वपक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु—पूर्ववन्मनसोऽपि प्राणे वृत्तिलय एव, 'मनः प्राणे'† इत्युत्तराद्वाक्यात् । न स्वरूपलयः, प्राणस्य मुख्योपादानत्वाभावान्मनसस्तत्रानुत्पत्तेः । अतः प्राणे मनसो वृत्तिलय एव न्याय्यः ॥

३. अविकरणम्.

सोऽध्यक्षेण तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

पूर्वत्र सर्वेन्द्रिययुक्तस्य मनसः प्राणे लयः प्रतिपादितः । इह तस्य प्राणस्य कुत्र लयः इति संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम्? 'प्राणस्तेजसि'† इति श्रुतेः प्राणस्य तेजसि लयः ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—स प्राणस्ततो जीवेनाध्यक्षेण संयुज्यते, न तस्य तेजसि लयः, 'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति'‡ इत्यादिश्रुतिषु तस्य जीवोपगमनादिश्रवणात् ॥

'प्राणस्तेजसि'† इति श्रुतिक्रमविरोधं परिहरति—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

'प्राणस्तेजसि'† इति भूतान्तरसंसृष्टं तेजोऽभिधीयते । ततः प्राणो जीवेन सह भूतेषु संयुज्यत इति न विरोधः ॥

* छा. ६-५-४.

† छा. ५-६-६.

‡ वृ. ६-३-३८.

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

न तेजोमात्रे प्राणलभः, त्रिवृत्करणश्रुतिर्हि भूतान्तरसंश्रुतिं दर्शयति । अतो भूतेषु जीवेन सह प्राणः संपद्यत इति न श्रुतिविरोधः ॥

४. अधिकरणम्.

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य*॥

इह निरूप्यमाणोत्क्रान्तिरर्चिरादिगत्युपक्रमात् प्राग्विद्वद्विदुषोः समाना उत भिद्येति संशयः ॥

किं तावात् प्राप्तम् ? संसारफलस्य मोक्षफलस्य चातिवैषम्यादज्ञानिज्ञानिनोर्विसदृश्येवोत्क्रान्तिः इति ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अर्चिरादिमार्गोपक्रमात् प्राग्विद्वद्विदुषोः समानैवोत्क्रान्तिः । ज्ञानिनस्तु मूर्धन्यनाड्या निष्क्रान्तिरमृतत्वं च, नेतरस्य इति वैषम्यम् ॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-

स्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका ।

तयोर्ध्वमायजमृतत्यमेति

विष्वङ्मुखा उत्क्रमणे भवन्ति ॥†

इति श्रुतेः । अतः प्रागुत्क्रान्तिः समानैव ॥

*“अनुपोष्य” इति सूत्रावयवः केषु चित् कोशेषु न दृश्यते. भाष्येऽपि न व्याख्यातः.

५. अधिकरणम्.

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

पूर्वमुपपादिता मूर्धन्यनाड्या विदुष उत्क्रान्तिः, ततोऽर्चिरादिगतिरिति । इह देहादुत्क्रान्तस्य विदुषोऽर्चिरादिगतिरुपपद्यते न वेति संदेहः ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥*

इति देहपातानन्तरमेवामृतत्वं श्रूयते । 'तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति'† इत्यर्चिरादिगतिश्च श्रूयते । एषमुभयश्रवणादयं संदेहः । तत्र ब्रह्मणि लीनानां वागादीनां पुनरुत्पादासंभवान्मुक्तस्य गत्यनुपपत्तेर्चिरादिगतिर्न मुक्तात्मनाम् ॥

इति प्राप्ते सिद्धान्त उच्यते—अर्चिरादिना ब्रह्मप्राप्तेः शरीरसंबन्धव्यपदेशात् संसारापगमः । अमृतत्ववचनमात्राामृतत्वाभिप्रायम् । अत उत्क्रान्तस्यार्चिरादिगतिरुपपन्ना ॥

यदुक्तं वागादिविलयात् तस्य गत्यनुपपत्तिरिति तत्राह—

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

शरीरादुत्क्रान्तस्यापि सूक्ष्मशरीरमनुवर्तते । अन्यथा गत्यनुपपत्त्या चन्द्रसंवादाद्यनुपपत्तेः । श्रूयते हि पर्यङ्कविद्यायां देवगाने पथि विदुषश्चन्द्रमसा संवादः—'ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति'‡ इत्युपक्रम्य 'एतद्वै स्वर्गस्य द्वारं यश्चन्द्रमाः तं यः प्रत्याह तमत्तिसृजते ।

अथ य एनं न प्रत्याह तमिह वृष्टिर्भूत्वा वर्षति स इह
कीटो वा पतङ्गो वा शकुनिर्वा शार्दूलो वा सिंहो वा मत्स्यो
वा परस्वान् वा पुरुषो वाऽन्यो वैतेषु स्थानेषु प्रेत्याजायते
यथाकर्म यथाविद्यं तमागतं पृच्छति कोऽसीति तं प्रति ब्रूयात्*
इत्यादि । अतः शरीरादुत्क्रान्तस्य विदुषोऽर्चिरादिगतिरूपपन्ना ॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

अत उक्तन्यायात् 'अथ मर्त्योऽमृतो भवति'† इत्यमृतत्व-
वचनं न देहसंबन्धोपमर्देन तदानीमेवामृतत्वं वदति ॥

अस्यैव चोपपत्तेरूपमा ॥ ११ ॥

अस्य सूक्ष्मशरीरस्य क्वचिद्विद्यमानत्वोपपत्तेश्च न तदुप-
मर्देन । उपलभ्यते ह्युत्क्रामतो विदुषोऽपि क्वचित् सूक्ष्मदेह-
गुण ऊष्मा, न स स्थूलदेहगुणः, अन्यत्रानुपलम्भात् । अतश्च
गत्युपपत्तिः ॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शरीरात् स्पष्टो ह्येके-
षाम् ॥ १२ ॥

बृहदारण्यके 'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन
प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो
वा शरीरदेशेभ्यः तमुत्क्रामन्तं प्राणोनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं
सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति'‡ इत्यादिवाक्यैरविदुषोऽप्युत्क्रान्त्यादि-
प्रकारमभिधाय 'इति तु कामयमानः'§ इत्यविद्वद्विषयं परिस-
माप्य 'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्म-

कामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति '*
इति विदुष उत्क्रान्तिप्रतिषेधादत्रैव साक्षात् ब्रह्मप्राप्तिरिति
वेत्—न, विदुष उत्क्रममाणस्यार्चिरादिगमनाय प्रस्थितस्य
प्राणास्तस्मान्न विश्लिष्यन्त इति ह्युच्यते 'न तस्य प्राणा
उत्क्रामन्ति '* इति । अयमर्थो माध्यन्दिनानां शाखायां स्पष्टोऽ-
भिधीयते—'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्मात्
प्राणा उत्क्रामन्ति' इति ॥

स्मर्यते च ॥ १३ ॥

विदुषो मूर्धन्यनाड्या गमनं स्मर्यते—

ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम् ।

ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परा मतिम् ॥

इति । अतोऽर्चिरादिगतिरुपपद्यते विदुष उत्क्रान्तस्य । केचि-
न्निरन्वयोपासकानामिह शरीरपात एव मुक्तिरित्यर्चिरादिगति-
मनियतामाहुः ॥

६. अधिकरणम्.

तानि परे तथा ह्याह ॥ १४ ॥

पूर्वत्र प्राणसहितस्य जीवस्य तेजउपलक्षितेषु भूतेषु लय
उपपादितः 'तेजः परस्यां देवतायाम्'† इति । तस्य भूता-
न्तरसंसृष्टस्य जीवयुक्तस्य तेजसः परस्यां देवतायां लयोऽवग-
म्यते । स परब्रह्मणि स्वरूपलय उताविभागापत्तिमात्रमिति
संशयः ॥

स्वरूपलय इति युक्तम् । तथाहि—‘देवात्तल्’ इति देव एव देवतेत्युच्यते । परशब्दो महत्त्ववाची । अतः परो देवो महादेवः । ‘सेयं देवतैश्चत’* ‘द्यावाभूमी जनयन् देव एकः’† इति स महादेव एव सकलभूतकारणं परब्रह्मं श्रूयते । अतस्तस्मिन्नुपादाने सजीवानां भूतानां स्वरूपलय इत्येव युक्त इति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु—ब्रह्मण्युपादानेऽपि न स्वरूपलयः, किंतु अविभागमात्रम्, ‘वाङ्मनसि संपद्यते’‡ इति सम्पत्तिवचनस्यैकस्यार्थान्तरपरत्वे प्रमाणाभावात् । अतो मनःप्रभृतिवत् वृत्तिलय एवेति वदति ॥

अविभागो वचनात् ॥ १५ ॥

संपत्तिवचनादविभागमात्रं ब्रह्मणि भूतानामिति युक्तमेव ॥

७. अधिकरणम्.

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्या-
सामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च
हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १६ ॥

पूर्वत्र विद्वद्विदुषोरर्चिरादिगत्युपक्रमपर्यन्तमुत्क्रान्तिः समानेत्युक्तम् । निष्क्रमणवेलायामुभयोर्विशेषोऽस्ति न वेति विचार्यते ॥

‘तेजः परस्यां देवतायाम्’* इति भूतैः सह परमकारणे
पदेवे परे ब्रह्मणि परमात्मारूपे विद्वानविद्वांश्च विलीयावि-
नाशेन क्षणं विनाशय सिद्धमिति समभिहितम् । अतः समा-
वैतोक्तान्तिः, तयोर्देवतायोरुक्तयोः समत्वप्रवृत्त्यात् । ‘नरस्य हृदये
हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैव आत्मा निष्कमांत
बहुषो वा मूर्ध्नी वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः’† इति श्रूयते,
अतः समानत्वादुक्तान्तेस्तयोरविशेषः ॥

इति पूर्वपक्षे प्राप्ते विशेषोऽस्तीति सिद्धान्त उच्यते ।
तथा हि-हार्दस्य हृदयगतस्य परमेश्वरस्याराधनरूपविद्यासामर्थ्या-
त् तदङ्गगत्यनुसंधानाच्च प्रीतेन तेन सर्वानुग्राहकेण स्वस्वरूपावरण-
मलम्बनविदग्धयाऽनुग्रहदृष्ट्या निरीक्षितस्तदनुग्रहप्रकाशितद्वारः
शनाधिकया मूर्धन्यनाडया विद्वानुत्क्रमति, न तथा परः,
किं तु इतरनाडीभिरेव । तथा श्रुतिः—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका ।

तयोर्ध्वमायश्चमृतत्वमोति
विष्वङ्मुखा उत्क्रमणे भवन्ति ॥‡

इति । स एव विदुष उत्क्रमणे विशेषः । एतदुक्तं भवति—

यत्रो जगतां हृदये सखिविष्टः ॥

हृदुण्डरीकं विरजं विशुद्धम् ॥§ इत्यादिश्रुतिषु

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥¶

इत्यादिस्मृतिषु च सर्वजनहृदयगतो हि परमेश्वरोऽवगम्यते ।
यत्र सुषुप्तो जीवः स्वेन्द्रियवृत्तिभिः सह विलीय तदेकरसो
भवति, यश्च 'विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः' ^१ 'सर्वो वै रुद्रः' ^२
इत्यादिश्रुतिषु निमित्तत्वाद्विश्वाधिकत्वेनोपादानत्वाद्विश्वात्मकत्वेन
चावगम्यते, 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' ^३ इत्यादि-
श्रुतिषु यस्य विश्वाधिपत्यं श्रूयते, 'शिव एको ध्येयः' ^४ 'यदा
चर्मवदाकाशम्' ^५ इति यमन्तरेण मुमुक्षूणां ज्ञेयं वस्तु नास्तीति
विज्ञायते, 'अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तार्कं
ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा' ^६ इति य उत्क्रान्तिसमये
विदुषां स्वरूपप्रकाशकतारकब्रह्मोपदेष्टृत्वेनाज्ञायते, 'आ वो रा-
जानम्' ^७ इत्यादिषु यस्याराध्यत्वेन सर्वयज्ञाधिपत्यं वर्ण्यते,
'उन्नो वीरा अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तं त्वा भिषजां शृणोमि' ^८
इति यः संसाररोगस्य भिषक्तम् इति निरूप्यते, 'मायां
तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' ^९ इति सक-
लप्रपञ्चविचित्रकालिकानिकुरुम्बावलम्बिनी मायालक्षणा परम-
शक्तिर्यस्य रूपैकदेशस्वभावतया प्रतिपाद्यते, 'स खलु हृदय-
गतो हार्दः परं ब्रह्म परमेश्वरः परममङ्गलस्वरूप उमापतिः
परमात्मा स्वाक्षारूपश्रुतिचोदितेषु कर्मस्वप्निहोत्रादिषु स्वाराधन-
रूपेषु नियतं निर्मुक्तसकलाविहितकर्मलवं स्वार्पितसकलकर्मफलं
स्वायत्तचित्तं स्वज्ञानामृतपरिपूर्णं निरस्तसमस्तकाम्यफलं विवे-
कादिसंपन्नं स्वभक्तिमात्रैकनिरतं स्वप्रसादाकाङ्क्षिणं विद्यावन्तं सा-
धकमवलोक्य शरीरपरित्यागसमये तद्विषयसंपन्नप्रसादः तस्मिन्
संसारमलकलङ्कापकार्षीणामनुग्रहदृष्टिं निदधाति । तदनुग्रहविशे-

^१महाना. १०-१९.^४अथर्वशिखा^७ऋक्सं. ४-३-१.^२महाना. १६.^५श्वे. ६-२०.^८ऋक्सं. २-३३-४.^३श्वे. ३-२^६रामोत्तर. १^९श्वे. ४-१०.

वेणासौ विगलितसांसारिकमलः प्रकाशितात्मद्योतितमूर्धन्यनाड्या
निर्गत्यार्चिरादिना तदीयं परं पदमप्राकृतं निरतियानन्दस्वभावं
प्राप्य तदाकारो भूत्वा नित्यनिरतिशयानन्दस्वरूपो भवति ।
तस्मादविदुषो विदुषश्च गतिवैषम्यमस्तीति युक्तमेव ॥

८. अधिकरणम्.

रश्म्यनुसारी ॥ १७ ॥

पूर्वत्र साधकस्य हृदयगतपरमेश्वरानुगृहीतस्य मूर्धन्यनाड्या
निर्गम उक्तः । निर्गतस्य तदूर्ध्वगमनं निशि दिवा च संभ-
वति न वेति संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम् ? 'यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव
रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते'* इति समुत्क्रान्तस्य रश्मिसंबन्धेनोर्ध्वदे-
शाक्रमणमवगम्यते । रश्मिसंबन्धस्तु दिवैव संभवति, न
तु रात्रौ ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—उत्क्रान्तो विद्वान् रश्मिसंबन्धादेवोर्ध्वं
गच्छतीति सत्यम् । स तु दिवा च रात्रौ च संभवति ।
निदाघेषूष्मदर्शनेन निश्यपि रश्मिसत्त्वात् । तस्मादिवा च रात्रौ
च रश्म्यनुसारी गच्छत्यूर्ध्वमिति निर्णयः ॥

आशङ्क्य परिहरति—

निशि नेति चेन्न संवन्धस्य यावद्देहभावि-
त्वाद्दर्शयति च ॥ १८ ॥

निशि मृतस्यापि राक्षसंवन्धेन ब्रह्मप्राप्तिरभिहिता । सा
न संभवति,

दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च ।

मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितम् ॥

इति निशामरणनिन्दनात् । इति चेत्—न, संसारवन्धस्य याव-
द्विद्याभावित्वात् । विद्यया अनारब्धकार्येषु बन्धहेतुषु कर्मसु
नाशितेषु अनुवर्तमानस्य प्रारब्धस्यापि यावच्चरमदेहावसानभा-
वित्वाच्चरमदेहावसाने प्रारब्धेऽपि नष्टे सति पुनर्ब्रह्मप्राप्तिविघ्नहे-
त्वभावात् । तथा दर्शयति श्रुतिः ‘तस्य तावदेव चिरं या-
वन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये’* इति । निशानिन्दा त्वितरपुरुषविषया ।
अतो निश्यपि मृतस्य ब्रह्मप्राप्तौ न विरोधः ॥

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ १९ ॥

अत एव बन्धहेत्वभावादेव दक्षिणायनमृतस्यापि विदुषो
ब्रह्मप्राप्तिरस्त्येव ॥

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २० ॥

ननु विदुष एव मुमूर्षून् प्रति पुनरावृत्त्यपुनरावृत्तिहेतु-
त्वेन कालविशेषः स्मर्यते—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः पण्मासा उत्तरायणम् ।
 तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
 धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः पण्मासा दक्षिणायनम् ।
 तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योनी प्राप्य निवर्तते ॥
 शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
 एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥*

इति । तस्मादविद्वद्भिपया निशादक्षिणायननिन्देत्युक्तमिति शङ्को-
 तमिदं सूत्रम् । विदुषामर्चिरादिगतिः, तद्विपरीताऽन्येषामिति
 योगिनो योगयुक्तान्प्रति योगाङ्गतया प्रतिदिनमनुस्मर्तव्ये देव-
 यानपितृयानाख्ये एते गती इति स्मर्यते 'यत्र काले त्वनावृत्तिम्'*
 इत्यादिना, न तु विदुषः प्रति मरणकालविशेषः स्मर्यते ।

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
 तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥*

त्युपसंहारात्, 'अग्निर्ज्योतिः'* 'धूमो रात्रिः'* इति श्लोक-
 वेदेवयानपितृयानगतिप्रत्यभिज्ञानाच्च । 'यत्र काले तु'* इति
 कालशब्दस्त्वातिवाहिकगणस्य कालाभिमानिदेवताभूयस्त्वात् ।
 अतः सर्वथा विदुषां ब्रह्मप्राप्तौ निशादक्षिणायनकृष्णपक्षनिषे-
 धो नास्त्येव । यदा देहापगमस्तदानीमेव तत्प्राप्तिरिति ॥

इति श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचिते ब्रह्ममीमांसा-
 भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः.

अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः.

१. अधिकरणम्.

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥

पूर्वत्रोपासकस्य हृदयगतपरमेश्वरानुग्रहेण प्रकाशितद्वारस्य मूर्धन्यनाड्या देहाभिष्क्रान्तिरभिहिता । एवंविधस्य ब्रह्मप्राप्तिरर्चिरादिना मार्गेणैव, उतान्यथाऽपि संभवतीति प्रथममिह विचार्यते । तथा हि—एकत्र ‘यत्रासौ केशान्तो विवर्तते । व्यपोह्य शीर्षकपाले । भूरित्यग्नौ प्रति तिष्ठति । भुव इति वायौ । सुवरित्यादित्ये । मह इति ब्रह्मणि । आप्नोति स्वाराज्यम्’* इति ब्रह्मप्राप्तेरर्चिरादिगतिमन्तरेणाप्युपपत्तिरवगम्यते । तस्मात् ब्रह्मप्राप्तौ नार्चिरादिनियमः ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—विद्वानर्चिरादिनैव ब्रह्म प्राप्नोति । पञ्चाग्निविद्यादिषु ‘तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति’† इत्यादिनाऽर्चिरादेर्ब्रह्मप्रापकत्वेन प्रसिद्धत्वात् । ‘भूरित्यग्नौ’* इत्यादिषु न ब्रह्मप्राप्तिमार्ग उच्यते, किंतु तत्तद्विभूतिप्राप्तिरेव । ततः परप्राप्तिरर्चिरादिनैव । निरन्वयोपासकानां नार्चिरादिरिति केचित् ॥

२. अधिकरणम्.

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

अत्र श्रुतस्यार्चिरादिक्रमस्य मध्ये श्रुत्यन्तरसिद्धक्रमोऽत्र निवेशनीयः, अथवा अयमेव क्रमः इति संदिह्यते—‘तेऽर्चि-

मासिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् वै-
 ष्वेति मासास्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमा-
 ष्विष्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्
 गमयति* इत्यर्चिरादिक्रमश्छान्दोग्यसिद्धः । बृहदारण्यके
 यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स
 विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते
 आदित्यमागच्छति† इति संवत्सरादित्ययोर्मध्ये वायुः श्रुतः ।
 निवेक्ष्यो न वा ॥

इति संशये न निवेक्ष्योऽश्रवणात् । इति प्राप्ते ब्रूमः—
 उपोपसंहारन्यायेन संवत्सरादूर्ध्वमादित्यात् पूर्वं वायुर्निवेक्ष्यः ।
 बृहदारण्यक एवान्यत्र 'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्'
 इति पठितेऽर्चिरादिक्रमे छान्दोग्यश्रुतित उपसंहार्यात् मासाधि-
 कालरूपत्वेन मासेभ्य उपरि निवेशनीयात् संवत्सरादुपरि
 देवलोकः श्रुतः, सोऽपि वायुरेव । देवलोकशब्दो देवानां
 वाचक इति व्युत्पत्तेरविशेषेण वायुवाचकः, वायुशब्दस्तस्यैव
 विशेषेण वाचक इत्यविशेषविशेषाभ्यां देवलोकवायुशब्दाभ्यां
 वायुरेक एवामिहित इत्यब्दादूर्ध्वमादित्यात् पूर्वं वायुर्निवेक्ष्यः ।
 वायुर्देवानामासनभूतः' इति श्रूयते । 'योऽयं पवत एष
 विनां ग्रहः' इति ॥

३. अधिकरणम्.

तदितोऽधिवरुणः संबन्धात् ॥ ३ ॥

कौषीतकिनामुपनिषदि श्रूयते--‘स एतं देवयानं पन्थान-
मापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्र-
लोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्’* इति । तत्राग्निलोक-
शब्दोक्तस्यार्चिषः प्राथम्यमविरुद्धम्, वायोरादित्यस्य च श्रुत्य-
न्तरसिद्धश्रौतक्रमेणात्रत्यपाठक्रमवाधात् संवत्सरादूर्ध्वं क्रमेण
चिनिवेशः । अत्र वरुणादयोऽपि श्रुताः । तेऽर्चिरादिमार्गे निवे-
शयितुं शक्या उत न शक्याः ॥

इति संशये नियामकाभावादशक्यसंनिवेशा इति प्राप्ते
ग्रमः—वरुणादीनामपि सन्निवेशः कार्यः । तत्र विद्युलोकस्यो-
परि वरुणलोकस्य संबन्धवशात् व्यवस्था युक्ता । विद्युत्पूर्व-
कवृष्टिगतनीरस्य वरुणोऽधिपतिः प्रसिद्ध इति विद्युद्वरुणयोः
संबन्धः । तदनन्तरमिन्द्रप्रजापतिलोकौ, परिशेषात्, इत्यविरोधः ॥

४. अधिकरणम्.

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ४ ॥

किमर्चिरादयो मार्गचिह्नभूताः स्थानभेदाः, उत विदुषां
गमयितारो देवताविशेषा इति संदेहः ॥

किं तावत् प्राप्तम्? स्थानभेदाः, तल्लाञ्छनसत्त्वात् ।
लोके हि ग्रामार्निर्गत्य नदीं गत्वा ततो घोषः प्राप्तव्य इति
व्यवहरन्ति । तद्वदर्चिरादयोऽपि ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—अर्चिरादयो मार्गाभिमानिनो विदुषां
गमयितारो देवताविशेषा एव । 'तत्पुरुषोऽमानवः स एतां
ब्रह्म गमयति'* इति विद्युत्पुरुषस्य गमयितृत्वलिङ्गेनार्चिरादीनाम-
विशेषोपनिर्दिष्टानामपि गमयितृत्वमेव संबन्ध इति निश्चय
रूपपक्षः ॥

विद्युत्पुरुषस्य ब्रह्मगमयितृत्वे वरुणादिभिः किं फलमि-
त्यत आह—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

वैद्युत्पुरुषात् परस्तात् स एव ब्रह्म गमयति 'तत् पुरु-
षोऽमानवः स एतां ब्रह्म गमयति'* इति श्रुतेः । वरुणादीनां
तदुपग्राहकत्वेन गमयितृत्वमिति न विरोधः ॥

५. अधिकरणम्.

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ६ ॥

किममानवः पुरुषः उपासकान् साक्षादेव ब्रह्म गमयति,
तान्यमिति संशये पूर्वपक्षः—कार्यं हिरण्यगर्भमेव गमयति,
तस्य हि गतिरुपपद्यते, न व्यापिनः परब्रह्मणः ॥

पुनरुपपत्तिमाह—

विशेषितत्वाच्च ॥ ७ ॥

‘प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये’* इति विशेषितत्वाच्च हिरण्यगर्भपदमेव गमयति ॥

सामीप्यात् तु तद्व्यपदेशः ॥ ८ ॥

‘ब्रह्म गमयति’† इति ब्रह्मव्यपदेशस्तु हिरण्यगर्भस्य तत्सामीप्यात् । ‘हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्’‡ इति प्रथमकार्यत्वश्रवणादस्य सामीप्यम् ॥

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ ९ ॥

प्रथमं हिरण्यगर्भपदप्राप्तावपि तदनावृत्तिश्रुतिर्न विरुध्यते । हिरण्यगर्भलोकात्यये तदध्यक्षेण सह अतःपरं कार्यब्रह्मलोकात् परं परमपदं गच्छन्तीति । तथाऽभिधीयते—

ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले
परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ॥‡

इति श्रुत्या । अतो न विरोधः ॥

स्मृतेश्च ॥ १० ॥

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

इति स्मृतेरप्येवमवगम्यते । अतो हिरण्यगर्भपदमर्चिरादिगणो नयति प्रथमम् । ततः प्रलये परं ब्रह्म प्राप्यते तेन सहेति ॥

* छा. ८-१४-१.

† छा. ५-१०-३.

‡ महाना. १०-१९, ३३.

परं जैमिनिमुख्यत्वात् ॥ ११ ॥

हिरण्यगर्भात् परमुत्कृष्टं नारायणमेव अर्चिरादि गमयति ।
परब्रह्मण एवोपादानावस्थान्तरत्वेन तत्र ब्रह्मव्यपदेशस्य मुख्यत्वा-
दिति जैमिनिः ॥

तत्रोपपत्तिमाह—

दर्शनाच्च ॥ १२ ॥

‘सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदमति’* ।
तत्पदस्य प्राप्यत्वं दृश्यते । अतश्च तमेव गमयतीति ॥

न च कार्ये प्रत्यभिसन्धिः ॥ १३ ॥

‘प्रजापतेः सभां वेदम प्रपद्ये’† इति यदुक्तम्, न तत्र
कार्ये हिरण्यगर्भे प्रत्यभिसन्धिः, प्रजापतिशब्दस्य प्रजापालन-
त्वेन नारायणवाचकत्वसंभवात् । यदुक्तम् ‘ते ब्रह्मलोके तु
परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे’‡ इति तत्रापि ब्र-
ह्मशब्दो नारायणपरः । तस्य लोके पदे स्थित्वा योगिनः परा-
न्तकाले, पश्चिमदेहसमाप्तौ परामृतं विश्वाधिकं ब्रह्म प्राप्य मुक्ता
भवन्तीति न विरोधः । ‘एतानि ह वा अमृतस्य नामधेयानि’§
इत्यादौ शिवस्य परब्रह्मणोऽमृतशब्दाभिधेयत्वमनादिमुक्तत्वं चा-
वगतम् । अतो विष्णुपदे प्रारब्धकार्यदेहावसाने प्रारब्धभोग-
पर्यन्तं स्थित्वा योगिनः परामृतं विश्वाधिकं ब्रह्म प्राप्य मुक्ता
भवन्तीति ॥

* कठ. ३-९.

† छा. ८-१४-१.

‡ महाना. १०-२२.

§ जाबाल. ३.

अथ सिद्धान्त उच्यते—

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उक्त-

यथा च दोषात् तत्क्रतुश्च ॥ १४ ॥

प्रतीकालम्बना हि ते, ये चेतनमचेतनं वा ब्रह्मदृष्ट्या केवलमुपासते । अप्रतीकालम्बनास्तु ते, ये विश्वाधिकं ब्रह्म साक्षादुपासते । साक्षाद्ब्रह्मोपासकान् पुरुषः साक्षाद्ब्रह्मैव गमयति, यद्विश्वाधिकं कृष्णपिङ्गलं विरूपाक्षं श्रूयते । साक्षाद्ब्रह्मोपासकस्य 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'*

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं

त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।

ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं

समस्तसार्द्धं तमसः परस्तात् ॥†

इत्यादिषु साक्षात् ब्रह्मप्राप्त्यवगमात् । पूर्वोक्तपक्षद्वयेऽपि दोषः श्रुतिविरोधान्नवति । तत्क्रतुः ब्रह्मोपासको ब्रह्मैव गच्छति, न मध्ये विलम्बते, प्रयोजनाभावात् । सकलकार्यसमष्टिरूपाद्विरूप्यगर्भात् परो नारायणस्तदुपादानत्वात्, ततोऽपि परं शिवारूपं निमित्तं विरूपाक्षं परं ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्तिकं नित्यवृत्तं स्वतन्त्रं स्वप्रकाशमिति । तथा शिवसंकल्पोपनिषदि—

परात् परतरो ब्रह्मा तत्परात् परतो हरिः ।

तत्परात् परतोरीशः

इति । रेफश्छान्दसः । अन्यत्र च—'नारायणपरं ब्रह्म'‡ इति नारायणात् परत्वेन ब्रह्माभिधाय तत् कीदृशमित्याकाङ्क्षा-

शाम् 'ऋतं सत्यम्'* इति मन्त्रेण सर्वज्ञतया मनोवाग्विपर्यास-
रहितं स्वशक्तिमरीचिभिः सकलजगत्पूरकं स्वाविभक्त्या परप्र-
कृतिरूपया परमानन्दचिदेकरसपरमाकाशलक्षणया स्वावस्थाभे-
दपरमचेतननारायणारब्धहिरण्यगर्भादिसकलकार्यप्रपञ्चया परश-
क्त्योमया शबलितरूपं निर्विकारं त्रिलोचनं परं ब्रह्म सर्वोत्त-
ममिति निरूपितम् । 'विश्वाधिको रुद्रः'† इति च विश्वस्मा-
दधिकत्वेन चावगतम् । तस्माद्वैदिकानामतः परं कल्पयितु-
मन्यायमेव ॥

विशेषं च दर्शयति ॥ १५ ॥

ब्रह्मणो विश्वाधिकस्य तदवस्थाभेदस्योपादानस्य विष्णो-
स्तत्कार्यभूतस्य हिरण्यगर्भस्य च विशेषं दर्शयति श्रुतिरेव
'परात् परतरो ब्रह्मा'‡ 'हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्'† 'पुरुषो
वै रुद्रः'§ इत्यादिका । ततश्च ब्रह्मविष्णवोः परं परब्रह्मणः शि-
वस्य पदं परमाकाशरूपं परमानन्दमयममानवः पुरुषो गमय-
तीत्येव युक्तम् । यच्छङ्कितम्—'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः
परमं पदम्'¶ इति । तत्र विष्णुशब्दः परब्रह्मवाचकः । षड्वि-
धस्याध्वनः पारं तदतीतं पदं हि विश्वाधिकस्य शिवस्यैवोप-
पन्नम् । यद्वा—विष्णोः प्रपञ्चावस्थितस्य परमुत्कृष्टं पदं स्वरू-
पं परमाकाशरूपं परमानन्दलक्षणं शिवस्य परब्रह्मणः पदमेव ।
यत्रासौ निहितात्मा प्रपञ्चाकारोऽपि न संसरति । अतो न क-
श्चन विरोधः ॥

अत्र केचित्—'परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे'**
इति श्रुतेः परब्रह्मणः शिवस्य परमविभूतित्वेन ये विष्णुमुपा-

*महाना १२.

†महाना १०-१९.

‡शिवसंकल्पोपनिषत्.

§महाना. १६.

¶कठ. ३-९.

**महाना. १०-२२.

सते, ते तदवस्थत्वात् ब्रह्मशब्दवाच्यस्य तस्य लोकं प्राप्य प्रादुर्भूततद्विभूतयः परान्तकाले चरमदेहावसाने पराभूतं शिवं प्राप्य मुक्ता भवन्तीति विष्णुपासकानामर्चिरादिना विष्णुपदप्राप्तिपूर्वकं विलम्बेन शिवपदप्राप्तिरिति वचनादत्र न विरोधः ॥

इति श्रीकण्ठशिवाचार्यविरचिते ब्रह्ममीमांसाभाष्य
चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः.

अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः.

१. अधिकरणम्.

संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥

पूर्वत्रार्चिरादिना मार्गेण विद्यावतां हिरण्यगर्भनारायणपदातीतं परब्रह्मणः शिवस्य परमसुखरूपतया स्वर्गशब्दवाच्यं पदं प्राप्यमिति निरूपितम् । इह तत्प्राप्तानां स्वरूपाविर्भावादिप्रकारो निरूप्यते । 'अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'* इति परंज्योतीरूपं महाप्रकाशं परब्रह्म प्राप्तस्य स्वरूपाविर्भाव उच्यते । तत् स्वरूपं तस्य तात्कालिकमुत पूर्वसिद्धं वेति संशयः ॥

न पूर्वं सिद्धम् । किं त्वभिनिष्पत्तिश्रवणात् स्वर्गवदागन्तुकमेव । पूर्वसिद्धत्वे च कुतोऽस्य संसारः । अतस्तदुपासनाजन्यं मुक्तिफलं रूपमागन्तुकम् ॥

इति प्राप्तेऽभिधीयते—ब्रह्मप्राप्तस्य जीवस्य मलतिरोहितं ब्रह्मसदृशगुणं स्वरूपं पूर्वं सदेव मलावरणापगमादाविर्भवति । 'स्वेन रूपेण' * इति शब्दात् तथाऽवगम्यते । अन्यथा ह्यागन्तु कस्यापि रूपस्य स्वासाधारणत्वात् 'स्वेन' इति विशेषणमनर्थकं स्यात् । तत्र सर्वानुग्राहकस्य शिवस्व परब्रह्मणः प्रसादेन स्वावरणे मले विगलिते तत्सदृशगुणमात्मस्वरूपं प्रादुर्भवति, न कर्मफलबहुत्पद्यते । मलस्यानादित्वात् संसारोपपत्तिः । अतः स्वाभाविकमेव मुक्तस्य स्वरूपं चिदानन्दघनं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टमाविर्भवति ॥

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

आत्मस्वरूपभाजस्य प्रागेव सिद्धत्वेऽपि मलविनिर्मुक्तस्या परिच्छिन्नानन्दाद्याविर्भाव उच्यते, 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' † इति मलप्रयुक्तजागरिताद्यवस्थाविनिर्मुक्तस्यैव वक्तव्यतया प्रतिज्ञानात् ॥

किंच—

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

तत्र 'भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' † इति प्रकृतापहतपाप्मत्वादिगुणक आत्मा वक्तव्यः प्रकरणादवगम्यते, 'य आत्माऽपहतपाप्मा' ‡ इत्यादि प्रकृत्यैव 'भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' † इत्युक्तत्वात् । अतः प्रादुर्भूतस्वाभाविकापहतपाप्मत्वादिको मुक्त आत्मा ब्रह्मसदृशगुणस्वरूप इति सिद्धम् ॥

२. अधिकरणम्.

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मगुणस्वरूपसदृशं मुक्तस्य गुणस्वरूप-
मिति प्रतिज्ञातम् । तत् सादृश्यं मुक्तस्योपपद्यते न वेति
विचारः ॥

किं प्राप्तम् ? 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थौ'* इत्यादिषु
ब्रह्मणः सदृशस्य द्वितीयस्य निषेधात् कस्य चिदपि बद्धस्य मु-
क्तस्य वा तत्सादृश्यमनुपपन्नमिति ॥

एवं प्राप्ते सिद्धान्त उच्यते—मुक्तस्य ब्रह्मणा सादृश्यम-
स्ति । कुतः ? 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'† 'मुक्तः शिव-
समो भवेत्' इति मुक्तस्य ब्रह्मगुणस्वरूपाविभागेन ब्रह्मसदृशतया
दृष्टत्वात् । अतः 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'‡ इति ब्रह्मसादृश्य-
मेवोच्यते । मुक्त आत्मा सादृश्यात् ब्रह्मस्वरूपाविभागेन स्वस्वरूप-
मनुभवति । यदुक्तम्—'एको रुद्रो न द्वितीयाय'* इत्या-
दिना सादृश्यनिषेधः क्रियत इति, तत् जीवस्य जगद्व्यापारा-
द्यभावात् । वक्ष्यति—'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' इति । अतो
ब्रह्मण इव सकलकामावाप्तिरस्य तत्साम्यमुच्यते । तथा श्रू-
यते—'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह । ब्रह्मणा विपश्चिता'§ इति ।
अतो मुक्तस्य ब्रह्मसादृश्यमुपपद्यते ॥

३. अधिकरणम्.

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥

पूर्वत्र स्वयंप्रकाशमपहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टं ब्रह्मसदृशं
गुणस्य स्वरूपमाविर्भवतीत्युक्तम् । तदुभयरूपत्वं संभवति न
तीति संशयः ॥

एवं साति मतान्तरेण पूर्वपक्षः प्रवर्तते—‘स्वेन रूपेण’*
ति स्वरूपाविर्भावो ब्राह्मेणापहतपाप्मत्वादिकेन । ते हि ब्रह्म-
गुणाः प्रत्यगात्मनोऽपि स्वाभाविकाः ‘य आत्माऽपहतपाप्मा’†
इत्याद्युपन्यासात् ‘जक्षन् क्रीडन् रममाणः’‡ इत्यादिश्रवणाच्चा-
साम्यते । अतो ब्रह्मणा गुणसाम्यमिति जैमिनिः ॥

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलो-
मिः ॥ ६ ॥

‘स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्सो रसघन एव
त अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव’§ ‘विज्ञान-
घन एव’¶ इत्यवधारणात् विज्ञानस्वरूपमात्रेण साम्यमित्यौडुलो-
मिः । एवमुभयदर्शनात् सविशेषनिर्विशेषत्वे सिद्धे युगपदुभयासं-
वात् कालभेदादिना व्यवस्थेति ॥

अथ सिद्धान्त उच्यते—

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बाद-

रायणः ॥ ७ ॥

बादरायणस्तु परस्परविरोधाभावाद्बुभयश्रुत्यवगतोभयस्वरूपमस्य प्रतिपादयति । तथा हि 'विज्ञानघन एव'* इत्यादिना स्वप्रकाश इत्यवगतेऽपि 'य आत्माऽपहतपाप्मा'† इत्युपन्यासात् पूर्वेषामपहतपाप्मत्वादीनामपि सद्भावोऽवगम्यते । अत उभयप्रमाणासिद्धं रूपद्वयं परस्पराविरोधीत्युभयरूपसमुच्चयः समुचितः । विरोधे हि कालभेदाद्यपेक्षा । अतो ज्ञानरूपत्वेन स्वयंप्रकाशमपहतपाप्मत्वादियोगात् कल्याणगुणविशिष्टं च ब्रह्मसदृशं मुक्तस्वरूपमिति युक्तम् ॥

४. अधिकरणम्.

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

पूर्वत्र मुक्तस्य स्वयंप्रकाशस्य सत्यसंकल्पत्वाद्युक्तम् । तदुपपन्नं न वेति विचिकित्सा ॥

किं प्राप्तम्? मुक्तस्य भोग्यवस्तुविषये न संकल्पमात्रं हेतुः बाह्यहेतुनैरपेक्ष्येण, तावता तदसंभवादिति ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—संकल्पमात्रेण सकलभोग्यवस्तुसिद्धिरस्ति । तथाहि श्रूयते—'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति'‡ इत्यादि । अतःऽस्य संकल्पमात्रमेव सकलभोग्यवस्तुसंपादने हेतुः, न बाह्यहेत्वपेक्षा ॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

यत एव ब्रह्मस्वरूपपञ्चोऽयं अपहृतपाप्मत्वादिगुणकः अत
 एवानन्याधिपतिः स्वतन्त्रः कदाचिदपि न कर्माधीनः, कर्मणो
 विनष्टत्वात् । नास्य परमेश्वरो नियामकः, प्रवाहसिद्धतदा-
 न्नारूपविधिनिषेधशास्त्रपथातीतत्वात् । कुतः? पशुत्वव्यावृत्तेः ।
 मलापगमेन हि शिवत्वमेवास्य सिद्धम् । शिवत्वं नाम निखि-
 तमलसंपर्करहितनिरतिशयमङ्गलास्पदत्वरूपं शिवसदृशस्वभाव-
 त्वम् । सर्वज्ञत्वादिरिह शिवस्य स्वभावः । अतोऽस्य मुक्तस्य
 शिवसदृशस्य सर्वज्ञत्वमनादिवोधत्वं नित्यवृत्तत्वं स्वतन्त्रत्वं स-
 र्वशक्तिमत्त्वमलुप्तशक्तिकत्वमनन्तशक्तित्वं चेति । आत्मज्ञानसं-
 कोचरूपो हि संसारः । संकोचकारणमलापगमेऽस्य सर्वज्ञ-
 त्वम् । अत एवाज्ञानस्य संसारनिदानस्य समूलनिवृत्तेः परि-
 छिन्नापरिच्छिन्नदेहाद्याभिमानरूपभ्रमनिवृत्तिः । यतो ह्यस्य
 ज्ञामरणशोकराहित्यं, अत एव कर्मवश्यत्वाभावात् स्वतन्त्रत्वं,
 निरतिशयस्वरूपानन्दानुभवैकरसिकतया स्वात्मारामत्वेन नित्य-
 त्वत्वं, अत एवास्य जिवत्सापिपासादिराहित्यम्, अलुप्तसर्वश-
 कित्वादस्य सत्यकामसत्यसंकल्पत्वम् । तस्मादसौ परमे-
 श्वरश्च अपहृतपाप्मत्वादिगुणाष्टकयुक्तः श्रूयते । अतो मुक्तस्य
 शिवसदृशस्य स्वातन्त्र्यं युक्तमेव ॥

५. अधिकरणम्.

अभावं वादिरिहा ह्येवम् ॥ १० ॥

पूर्वं मुक्तस्य स्वयंप्रकाशत्वं सत्यसंकल्पत्वादिवैशिष्ट्यं
 चोपपादितम् । इह तस्य सशरीरत्वमशरीरत्वमुभयं चेति

विचारः प्रवर्तते । वादरिस्तावत् मुक्तस्य देहेन्द्रियाद्युपकरणा-
भावं मेने । 'निष्कलं निष्क्रियम्'* इत्यादिकं ब्रह्मणस्तदभाव-
माह हि, तत्स्वरूपस्य मुक्तस्यापि तथैवमिति ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

जैमिनिस्तु 'स एकधा भवति त्रिधा भवति'† इत्यादौ
देहेन्द्रियादिभिः विविधत्वश्रुतेस्तद्भावमेव मेने । तदेवं सदेहत्व-
श्रुतेर्विदेहत्वश्रुतेश्च किमस्य तात्त्विकमिति संशये विदेहत्वमेव
तात्त्विकम्, 'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्म-
लोके'‡ इति बाह्येन्द्रियाद्यभावो हि मुक्तस्य श्रूयते । ब्रह्म च
बाह्येन्द्रियादिरहितं श्रूयते 'सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम्'§
इति । आत्मन्येवारांमो न बाह्ये, मनस्येवानन्दो न बाह्ये
करण इति हि तत्र निरुक्तिः । अतो मुक्तस्य विदेहत्वमेव ।
सदेहत्वस्य तु पुरुषभेदाद्वयवस्थेति ॥

एवं प्राप्ते सिद्धान्त उच्यते—

द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणेऽतः ॥१२॥

उभयश्रुतेः सशरीरत्वमशरीरत्वं च स्वेच्छया मुक्तस्येति
भगवान् वादरायणो मन्यते । यथा द्वादशाहः उभयश्रुतेः सत्र-
महीनं च तद्वदिति । अत्र पौराणिकी फणितिः—

सर्वज्ञाः सर्वगाः शुद्धाः परिपूर्णाः स्वभावतः ।

शिवतुल्यबलोपेताः परमैश्वर्यसंगुताः ॥

*श्वे. ६-१९.

†छा. ६-११-५.

‡छा. ७-२६-२.

§तै. १-६.

सदेहाश्च विदेहाश्च भवन्त्यात्मेच्छया पुनः ॥

इत्यादिका शिवपदारूढाविषया । अत उभयविधत्वं युज्यते ॥

एकस्यैव कालभेदादुभयव्यवस्थामाह—

तन्वभावे संन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

मुक्तः स्वेच्छया कदाचित् बहूनि शरीराणि सृष्ट्वा तद-
नुप्रवेशेन विहरति । कदाचिदुपसंहृतशरीरश्च वर्तते । शरी-
रवभावावस्थायां मुक्तः स्वप्ने परमेश्वरसृष्टं रसादिकं मनसा
बद्धपुरुष इव परमेश्वरसृष्टमेव रसं भुङ्क्ते । किमुक्तं भवति—
स्वप्ने पुरुषो यथा शरीरेन्द्रियादिनैरपेक्ष्येण केवलेन मनसैवे-
श्वरसंपादितान् विषयान् भुङ्क्ते, तथा मुक्तोऽपि स्वभूतेन
मनसैव ब्रह्मस्वरूपरसमनुभुङ्क्त इति ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

स्वेच्छासृष्टशरीराद्युपकरणभावे जाग्रत्पुरुष इव सर्वकामं
भुङ्क्ते । ननु यदि मुक्तस्य प्राकृतवस्तुदर्शित्वरूपं भोक्तृत्वं, तर्हि
अपुरुषार्थप्रपञ्चदर्शिनो मुक्तस्य न संसारदुःखानुषङ्गाभावसिद्धिः
इति चेत्—न, मुक्तस्यापुरुषार्थरूपेण प्रपञ्चदर्शनाभावात् । मुक्तेन
ब्रह्माकारं हि दृश्यते विश्वमेतत् । तथा हि श्रूयते—‘एतत्
ततो भवति । आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मन-
आनन्दम् । शान्तिलसृद्धममृतम्’* इति । पूर्वत्र ‘आप्नोति स्वा-
राज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम्’* इति स्वाराज्यसुखैकरसं शि-
वस्य परब्रह्मणः पदं मनसस्पतिं ज्ञानशक्त्यधिष्ठातृभूतमाप्नोति

योगीत्युक्तम् । तदा स किञ्चिद्विशिष्ट इत्याकाङ्क्षायां 'वाक्पति-
 श्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः' * इति वागादीनां स्वेच्छाधी-
 नत्वेन तदाधिपत्यमुक्तम् । तदेवंविधस्य मुक्तस्य परमाकाशरूप-
 शिवपदाधिरूढस्य स्वेच्छाधीनविशुद्धवागादिकरणस्य ततः तत्प-
 दप्राप्त्यनन्तरं एतत् विश्वजालं भवति । किं भवति? आका-
 शशरीरं ब्रह्मैव परमानन्दलक्षणपरमाकाशशरीरं ब्रह्मैव भवति ।
 परप्रकृतिरूपा परमसत्ताप्रकाशानन्दसमरसा परशक्तिर्हि ब्रह्मणः
 स्वरूपतया परमाकाश उच्यते, या मुक्तानां परमेश्वरस्य च
 साक्षादर्थक्रियाहेतुः, परम्परयाऽन्येषाम् । तथा हि 'को ह्येवा-
 न्यात् कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष
 ह्येवानन्दयाति'† 'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'‡
 इति सर्वानुभवविषयत्वमस्याः श्रूयते । तथा च 'स एको
 मानुष आनन्दः'§ इत्यारभ्य 'स एको ब्रह्मण आनन्दः'¶ इति
 ब्रह्मपर्यन्तमुपस्थितिरोग्रानादानन्दाविर्भावस्तारतम्येन श्रूयते । नि-
 र्वाणविकृतया ब्रह्मणि मुक्ते च परिपूर्णो वर्तते स आनन्दः,
 'स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य'‡ इति
 श्रवणात् । ब्रह्मार्पणबुद्ध्या निष्कामाहुष्टिताग्निहोत्रादिकर्मा पर-
 विद्वानकामहतः श्रोत्रियः । तस्य जीवत एव मुक्तस्य ब्रह्म-
 णश्च तुल्य एवानन्दः । तस्य योगातिशयेन तत्तद्भूमिमधिरू-
 ढस्य पूर्वत्रपूर्वत्र भूमावभ्यासः स्वल्प इति तदनुसारेण तत्त-
 द्भूमौ तदीयानन्दाविर्भावस्य मानुषाद्यानन्दसाम्यकृतिरिति न
 विरोधः । अतोऽयमेव परमानन्दः परप्रकृतिः परमाकाशः परा-
 भेदात् 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'§ इति ब्रह्मत्वेन जगत्क र-

* तै. १-६.

† तै. २-७.

‡ तै. २-८.

§ तै. ३-६.

पत्नेन श्रूयते । तस्याभिव्यक्तिः 'सैषा भार्गवी चारुणी विद्या ।
पत्ने व्योमन् प्रतिष्ठिता'* इति । अतो मुक्तानां परमानन्दरू-
परमाकाशशरीरकं ब्रह्म जगद्भवतीति परमानन्दानुप्रविष्टानामेषां
ग्रहण इव दुःखानुषङ्गाभावः ॥

६. अधिकरणम्.

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥

सूचितं हि पूर्वत्र मुक्तात्मनोऽपि स्वेच्छयाऽनन्तशरीरपरि-
ग्रहणसामर्थ्येन विभुत्वम् । तदिह युज्यते न चेति विचार्यते ।
'सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'† 'इमांल्लोकान् कामाक्षीका-
मरूप्यनुसंचरन्'‡ इत्यादिषु मुक्तस्य परिच्छिन्नतया संचाराव-
गमाच्च व्यापकत्वमुचित्वम् । अतो बहुशरीरपरिग्रहणं क्रमेणैव,
व युगपदिति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु—घटादिपरिच्छिन्नस्य प्रदीपस्य परिच्छेदापाये
स्वप्रभया यथा गृहादिव्याप्तिः, तथा मुक्तस्य स्वशक्तितरोधाय-
कमलापाये स्वशक्त्या विश्वव्याप्तिः आवेशः भवति । तथा हि
दर्शयति श्रुतिः—

स नो वन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा असृत्तमानशानास्तृतीये धामान्यभ्यैरयन्त ॥§

*तै. ३-६.

†छा. ८-४-३.

‡तै. ३-१०-५

§महाना. १-१५.

परिधावापृथिवी यन्ति सद्यः परि लोकान् परि दिशः परि सुवः।

ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्प्रजासु ॥*

इति । तत्र हि प्रकरणं 'एष हि देवः'† इति जगत्कर्तुः विश्वरूपस्य महादेवस्य । स महादेवो नः अस्माकं वन्धुर्जनिता पिता, स विधाता सकलश्रेयसां कर्ता, धामानि तेजोरूपाण्यप्राकृतानि भुवनानि विश्वान्यपि जानाति । अत्र वन्धुत्वादियोग्यस्य धामवेत्तृत्वस्य च प्रयोजनमुच्यते—यत्र यस्मिन् महादेवे अमृतं कैवल्यलक्ष्मीं आनशानाः प्राप्यानुभवन्तो देवाः तद्भावाद्देवनशिलाः तृतीये द्युसंज्ञके तत्पदे मायातीते धामानि तेजःप्रधानानि स्वाभिमतानि स्थानानि अभ्यैरयन्त स्वीकृतवन्तः । किमुक्तं भवति—वन्धुवज्जनकवत् सकलहितकारिणा परब्रह्मणा महादेवेन प्रसन्नेन दलितपाशवन्धा अमृतभावं गताः मुक्ताः तृतीये परमव्योमलक्षणे स्वपदे कल्पितानि धामानि प्रकाशमयानि पदानि प्राप्ता वर्तन्त इति ॥

अतः परमेषां व्याप्तिरुच्यते—परि धावापृथिवी यन्तीति । मुक्तात्मानः स्वशक्तिमरीचिभिः धावापृथिवी परियन्ति व्याप्नुवन्ति । परि लोकान् हिरण्यगर्भादिलोकानपि व्याप्नुवन्ति । दिशश्चतस्रश्च परियन्ति व्याप्नुवन्ति । एवं सकलजगद्व्यापिनो वर्तन्ते । तथा हि ते सर्वज्ञा ऋतस्य कर्मणो विस्तीर्णं भोगतन्तुं विचृत्य छित्वा पुण्यपापविनिर्मुक्ताः सन्तः सर्वप्राणिषु तदेव महादेवाख्यं वस्तु अपश्यत् अपश्यन् सर्वात्मतया तदभवत् तत्स्वभावाश्चाभवन् । यत्रेति संबन्धः । अतो मुक्तानां शिवैकरसानां व्यापकत्वमस्त्येव । एतेन महादेवसधर्माणो मुक्तस्वभावा जीवाः

शब्दवाच्याः द्युप्रभृतिव्यापिनो देवव्रताख्ये सामानि श्रूयन्ते
देवा दिविपदः** इत्यादिना । पुराणे च—

ते हि साक्षाद्विषदस्त्वन्तरिक्षसदस्तथा ।

पृथिवीषद इत्येते देवा देवव्रते स्थिताः ॥

इह पृथिवीति ब्रह्माण्डरूपं, अन्तरिक्षमिति द्वितीयं मा-
तृपदं, द्यौरिति तृतीयं परमाकाशपर्यायं शुद्धशक्तिरूपं शिव-
मुच्यते । अतो मुक्तानां विभुत्वमिति ॥

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि॥

ननु ब्रह्मप्राप्तस्यान्तरवाह्यज्ञानलोपमाह श्रुतिः 'प्राज्ञेना-
जना संपरिष्यक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्'† इति । कथं
स्य शक्तिरूपज्ञानव्याप्तिरुच्यत इति नाशङ्कनीयम् । इदं जी-
वस्य वेदनाभाववचनं सुषुप्तिमरणयोरन्यतरापेक्ष 'नाह खल्व-
मेवं संग्रत्यात्मानं जानातीत्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूता-
नि'‡ इति सुषुप्तौ, 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविन-
शति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति'§ इति मरणे च श्रुत्या तथैवाविष्कृतं
हि । तद्विलक्षणतया मुक्तेस्तत्र नाज्ञत्वादि, किं तु मलतिरो-
जनापायात् सर्वज्ञत्वं च सर्वशक्तिकत्वं चेति न मुक्तौ ज्ञानादि-
निषेधसंभवः ॥

७. अधिकरणम्.

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥

उक्तमोश्वरेण साम्यं मुक्तानां स्वप्रकाशत्वव्यापकत्वसर्वज्ञ-
त्वादिभिः । तथा जगत्सृष्ट्यादावपि साम्यं दुर्वारं, 'परमं
साम्यमुपैतीति' * निर्विशेषश्रवणात् । जगत्सृष्ट्यादिसाम्याभ्युप-
गमे च बह्वीश्वरत्वादोश्वरस्याद्वितीयत्वभङ्गप्रसङ्गः । अतः की-
दृशं साम्यमोश्वरेण मुक्तानां विवक्षितम्, जगत्सृष्ट्यादियुक्तं
तद्वर्जं वेति संशयः ॥

किं प्राप्तम् ? 'स यदि पितृलोककामो भवति'† इत्यादिषु
संकल्पमात्रात् पितृलोकादिस्मृष्टिसामर्थ्यश्रवणात् 'इमांल्लोकान्
कामाक्षो कामरूप्यनुसंचरन्'‡ इति सर्वत्र व्यापारश्रवणात् पर-
मेश्वरसाम्ये संकोचायोगाच्च मुक्तस्य जगत्सृष्ट्यादिव्यापृति-
रप्यस्ति ॥

इति प्राप्ते ब्रूमः—मुक्तस्य परमेश्वरसाम्येऽपि जगत्सृष्ट्या-
दिव्यापारवर्जमेव स्वातन्त्र्यमस्य भोगवस्तुषु । 'यतो वा
इमानि भूतानि जायन्ते'§ 'द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः'¶
इत्यादिषु श्रुतं जगत्सृष्ट्यादिकं परमेश्वरस्य प्रकरणादवगम्यते ।
सृष्ट्यादिप्रकरणेष्वसन्निहित एव जीवः । अतो न मुक्तस्य
जगत्सृष्ट्यादिकमस्ति ॥

*मु. ३-१-३.

†तै. ३-१०-५.

‡छा. ८-२-१.

§तै. ३-१.

¶महाना. १-१२.

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डल- स्थोक्तेः ॥ १८ ॥

‘इमांल्लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्’^१ इत्यादिषु मुक्ते जगद्व्यापारस्य प्रत्यक्षोपदेशात् अस्य तत्संबन्धोऽस्तीति चेत्—
न, ‘कामान्नी’^१ इति कामभोगसंबन्धादधिकारिणां ब्रह्मादीनां
मण्डलेषु स्थितभोगानुषङ्ग एवोच्यते । अतोऽस्य न जग-
द्व्यापारः ॥

तथा सति तस्य भोगानुपङ्गाद्विकारित्वमित्यत आह—

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥१९॥

तस्यानुभाव्यं सुखं विकारभावासंस्पृष्टं विशुद्धं परिपूर्णब्र-
ह्मस्वरूपम् । तथा हि खल्वस्य स्थितिमाह श्रुतिः—‘रसो वै
सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति’^२ इति । ब्रह्मस्वरूपं हि
‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’^३ ‘आनन्दो ब्रह्म’^४ इत्यादिष्वविकृतमेव
भ्रूयते । अतो न विकारि पशुसुखवन्मोक्षसुखम् । किमुक्तं भवति-
सदाशिवादीनामधिकारिणां ब्रह्मान्तानां मण्डलेषु स्वेच्छया सं-
चरमाणः कामान्नी कामरूपी विगलितमनुष्यादिदेहाभिमानः
असंकुचितशक्तित्रयव्यापारः परमानन्दप्रकाशविभूतिमयशक्तिशि-
वसामरस्यपरब्रह्मस्वरूपैकरसप्रपञ्चावगाहिनं परिपूर्णमहंभावं प्रक-
ट्मनुभवति । तथा हि ‘अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽ-
हमन्नादोऽहमन्नादः’^५ इत्यादिना भोज्यभोक्त्रादिसकलप्रपञ्चात्मभा-
वपरिपूर्णाहंभावनाऽस्यावगम्यते । अत्राहंकारो न सांसारिकः,

^१ तै. ३-१०.

^२ तै. २-१.

^३ तै. २-७.

^४ तै. ३-६.

सकलप्रपञ्चावगाहित्वेन परिपूर्णत्वात्, किंतु मुक्तस्वभाव एव । कल्पितात् देवोऽहं मनुष्योऽहमिति देवादिदेहमात्रावगाहितया परिच्छिन्नात् सांसारिकाहंकारादयं विलक्षण एव । अतोऽत्र न प्राकृताहंकारसंबन्धः ॥

यद्वा—अहमिति शक्तिशिवाद्वयं ब्रह्मोच्यते । तदेवाज्ञादिकं प्रपञ्चजालमिति भावना । तथाऽऽप्तवचनम्—

अनुत्तरविसर्गान्ता शिवशक्त्यद्वयात्मनः ।

परामर्शो निर्गुणत्वादहमित्युच्यते विभोः ॥

हृद्यकारो द्वादशान्ते हकारस्तदिदं विदुः ।

अहमात्मकमद्वैतं यत्प्रकाशात्मविश्रमः ॥

इति । अत्रानुत्तरब्रह्मानन्दपदानुप्रविष्टस्य मुक्तस्य सकलप्रपञ्चाकारशिवाभिधायकप्रासादाक्षरानुसंधानपूर्वकं गानं कर्तव्यतया न विधीयते, किंत्वानन्दास्वादपरमोल्लासद्योतनाय स्तुतिरिति । अतो मुक्तानां ब्रह्मानन्दानुभवव्यापारमन्तरेण सृष्ट्यादिव्यापारः स्वेच्छया न संभवति ॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

एवमुक्तमर्थं प्रत्यक्षानुमाने श्रुतिस्मृती दर्शयतः—‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः’^१ इत्यादिका श्रुतिः । ‘अप एव ससर्जादौ’^२ इत्यादिका स्मृतिश्च । अतो ब्रह्मण एव जगत्कारणत्वादिकमिति ॥

तथा सति—

यदा पश्यः पश्यते स्वप्नवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥¹

‘मुक्तः शिवसमो भवेत्’ इत्यादिषु मुक्तस्य च ब्रह्मणा शिवेन परमसादृश्यप्रतिपादनात् तस्य जगत्सृष्ट्यादिकं यद्यदस्ति तत् सर्वमसंकुचितमस्यापि स्यात्, अन्यथा परमसादृश्यहानिरित्यत आह—

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

मुक्तस्य ब्रह्मणा साभ्यं सकलकामभोगमात्रादेव, न जगत्सृष्ट्यादिना । तथा सति ब्रह्मीश्वरत्वप्रसङ्गात् । तथा हि श्रूयते—‘सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह । ब्रह्मणा विपश्चिता’² इति । विविधं पश्यन्त्या चित्ता ज्ञानशक्त्या युक्तं हि ब्रह्म विपश्चिदित्युच्यते । यया स्वाभाविक्या हृदयभूतया परमसत्तास्फुरद्रूपया देशकालविशेषशून्यस्य ब्रह्मणः शिवस्य सर्वज्ञत्वं सर्वकारणत्वं सर्वात्मत्वं सर्वशक्तिमत्त्वमलुप्तशक्तित्वं स्वतन्त्रत्वं नित्यतृप्तत्वं निरतिशयैश्वर्यत्वं सर्वानुग्राहकत्वं सर्वमुक्तयोग्यरसरूपत्वं च संभवति, तादृश्या युक्तं परं ब्रह्मापि विपश्चित् । तेन सह समरसात्मा मुक्तोऽपि सर्वान् कामान् अन्तःकरणेन स्वाभाविकेन मनसा ज्ञानविशेषेण समश्नुते पश्यन् रमते । तथा हि ‘मनसैवैतान् कामान् पश्यन् रमते’³ ‘मनोऽस्य दैवं

चक्षुः' इति श्रूयते । 'सत्यात्म प्राणारामं मनश्चानन्दम्'^२ इति ब्रह्मणोऽपि मनस्यानन्दभोगः, न बाह्यकरणापेक्षा । ब्रह्मणो मुक्तस्य च शरीरेन्द्रियादिग्रहणमैच्छिकं विहारार्थमित्यदोषः । अतो यथा ब्रह्म सकलान् कामान् भुङ्क्ते, तथा मुक्तोऽपीति भोगमात्रसाम्यं मुक्तस्य ब्रह्मणेति समीचीनम् । लोके कतिपयधर्मसंबन्धादपि सिंहो देवदत्त इत्यादिषु सादृश्यव्यवहारदर्शनाच्च तत्सादृश्यवचनहानिः ॥

७. अधिकरणम्.

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥२२॥

उक्तं ब्रह्मणा सादृश्यं सायुज्यं मुक्तानाम्, भोगादिसाधर्म्यात् । इह तेषां पुनरपि कदाचित् संसारापत्तिरस्ति न वेति संशयः । कर्मविशेषेणेन्द्रादिपदारूढानामावृत्तिदर्शनं संशयकारणम् ॥

किं तावत् प्राप्तम् ? 'कामाक्षी कामरूप्यनुसंचरन्'^३ इत्यादिषु बहुशरीरसंबन्धोऽवगम्यते मुक्तानाम् । तत्संबन्धे सति पुनरपि पुण्यपापकर्तृत्वं संभाव्यते । पूर्वकृतस्योपासनातिशयस्य बहुधा भोगेन क्षये तात्कालिककर्मवशात् पुनरपि हीनसुखसंसारप्राप्तिः । तथा हि इन्द्रपदाद्यारूढानां पुण्यातिशयक्षये पुनरावृत्तिः, ब्राह्मणादिशरीरप्राप्तिश्च । अतश्च ब्रह्मपदं प्राप्तानां भोग्यद्रष्टृत्वादिसंबन्धेन भोगस्य पुण्यातिशयक्षयहेतुत्वेन पुनरावृत्तिः संसारः ॥

^१छा. ८-१२-५.

^२तै. १-६.

^३तै. ३-१०-५.

इति प्राप्ते ब्रूमः—साक्षात्कृतब्रह्मज्योतिषां तत्पदानुप्रविष्टानां मुक्तानां न पुनरावृत्तिः संसारे । कुतः ? 'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' इत्यादिशब्दान् । ब्रह्मविष्णवादिपदमुक्त्वा तद्विलक्षणात्वेन शिवस्य परब्रह्मणः पदं पुराणं चाभिव्यनक्ति—

दिनकृत्कोटिसंकाशं स्थानमाद्यमुमापतेः ।

सर्वकामसमायुक्तं विशुद्धं नित्यमक्षयम् ॥

संप्राप्य तत् पदं दिव्यं समस्तक्लेशवर्जिताः ।

सर्वज्ञाः सर्वगाः शुद्धाः परिपूर्णा भवन्ति च ॥

विशुद्धकार्यकरणाः परमैश्वर्यसंयुताः ।

सदेहाश्च विदेहाश्च भवन्त्यात्मेच्छया पुनः ॥

ये संप्राप्ताः परं स्थानं ज्ञानयोगरता नराः ।

न तेषां पुनरावृत्तिः घोरे संसारमण्डले ॥

इत्यादिभिः ॥

अस्य तात्पर्यमुच्यते—'परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति परं ज्योतिःस्वरूपं हि मुक्तप्राप्यमुमासहितं परं ब्रह्म श्रूयते, अभिभूतसूर्यतेजोवृन्दस्य यस्य महाप्रकाशस्य भासा सर्वमेतद्विभाति । तथा च श्रुतिः—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं

नेमा विद्यतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

इति । तथा निरूपितमथर्वशिरसि—‘परमेश्वरोऽहं पुष्करमहं पवि-
त्रमहमग्रं च मध्यं च वहिश्च पुरस्तात् ज्योतिरित्यहमेकः सर्वे
च मामेव च मां यो वेद स सर्वान् देवान् वेद’ इति । तथा
स्मरन्ति च—

सर्वतः पाणिपादाब्जं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वमावृत्य तिष्ठन्तं तेजोराशिं शिवं स्मरेत् ॥

इति । ततः परं ज्योतीरूपमुमासंहितं शिवाख्यं परं ब्रह्म, तद-
धिष्ठितं पदं दिनकृत्कोटिसंकाशमिति किमु वक्तव्यम् । निरति-
शयतेजोमात्रस्फुरत्तामयं, तदेव निरतिशयसुखास्पदतया स्वर्गा-
भिधम्, ‘स्वर्गो लोको ज्योतिषा वृतः’^१ ‘देवा ह वै स्वर्गं लोकज-
गमंस्ते देवा रुद्रमपृच्छन्’^२ इत्यादिश्रुतिष्ववगम्यते स्थानं यत्
तुरीयातीतम् । तथोत्तरगीता—‘तुरीयं च तुरीयातीतं च शिव-
स्थानमनामयम्’ इति । ‘आद्यं’ सर्वलोकातीतत्वात् कारणत्वाच्च ।
‘शिवलोकाद्वहिर्ज्ञेयान्यण्डस्यावरणानि च’ इत्यादिषु यस्य च-
हिरथस्तात् ब्रह्माण्डस्य सप्तावरणानि । ‘परात् परतरो ब्रह्मा
तत्परात् परतो हरिः । तत्परात् परतोरोशः’^३ इति, ब्रह्मादि-
विश्वाधिकस्य ब्रह्मणः तत् पदं विश्वोत्तीर्णमित्याद्यम् । ‘उमापतेः’
परब्रह्मणः शिवस्य, ‘उमासहायं परमेश्वरं प्रभुम्’^४ इत्यादौ तस्य
ह्युमासहितस्य नीलकण्ठस्य त्रिलोचनस्य शिवस्य ध्येयत्वं

^१कठ. ५-१५.

^२तै. आ. ०१-२७.

^३अथर्वशिरः.

^४शिवसंकल्पोपनिषत्.

^५कैवल्य.

तमसः प्रकृतेः परत्वेन प्राप्यत्वं चावगम्यते । किं च 'सर्वो वै रुद्रः'^१ इत्यारभ्य सर्वात्मत्वं शिवस्याभिधाय तदुपसंहारे 'हिरण्यवाहवे हिरण्यपतयेऽस्विकापतय उमापतये'^२ इति श्रुतम् । प्रजं च पर्यायेणोमाशब्देन परप्रकृतिरूपा पराशक्तिरुच्यते । कृष्णपिङ्गलं ब्रह्मेति च तत्सामरस्यं ब्रह्मणः समाम्नातम् । तस्मादुमापतेः परब्रह्मणः पदं तत् । पुनः कीदृशम् ? 'सर्वकामसमायुक्तम्'^३ सदा सकलकामसमन्वितम् । अतः खलु 'सोऽश्रुते सर्वान् कामान् सह । ब्रह्मणा विपश्चिता'^४ इति मुक्तस्य सकलकामावाप्तिः ब्रह्मणा सह निरूपिता । 'विशुद्धं' विकारासंस्पृष्टं, 'समस्तसाक्षि तमसः परस्तात्'^५ 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'^६ इत्यादिषु प्रकृतिविकारातीतत्वावगमात् । प्रकृतिविकारवद्रागद्वेषलोभादीनामनुत्पादकत्वात् विशुद्धं हि तत् पदं शिवमयमिति । अनेनास्य परतत्त्वप्रकाशमयमहानन्दमेदुरपरमाकाशरूपत्वमुक्तं भवति । प्राकृतानामेव विकाराणां सृष्ट्यादिश्रवणात्, तदतीतत्वादस्य नित्यत्वम् । भूताकाशादिप्रपञ्चस्यैव सृष्ट्यादिकं, परमाकाशरूपस्यास्य न तदस्ति ॥

'यदा तमस्तत्र दिवा न रात्रिर्न सन्न चासश्छिन्न एव केवलः'^७ इति श्रवणाच्छिवव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य प्रलयोऽवगम्यते । कथमस्य नित्यत्वं मुक्तानामपीति चेत्—न, मुक्तानामस्य पदस्य च शिवतत्त्वेऽन्तर्भावात् । विशुद्धिभाजनतया शिवत्वमेषां समानमेव । सृष्ट्यादिचक्रपतितपशुपाशविलक्षणत्वं हि शिवत्वम् । अतः पशुपाशविलक्षणस्य शिवपदस्य नानित्यत्वप्रसङ्गः । 'अक्षयं' क्षयवृद्धिरहितं, क्षयातिशययुक्तकर्मफलस्वर्गादिविलक्षणं, तादृशं हि—'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः

^१महा. १६, १८.^२तै. २-१.^३कैवल्य.^४श्वे. ३-८.^५श्वे. ४-१८.

परमं पदम्^१ इति श्रूयते । विष्णोः परमं स्वरूपं हि परमा-
काशाख्यं शिवस्थानं षड्विधस्याध्वनः पारं तदतीतमुच्यते ।
'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'^२
इत्यत्रानावृत्तिलक्षणं ब्रह्मलोकशब्दवाच्यमिदमेव स्थानम् ॥

'संप्राप्य तत् पदं दिव्यं समस्तक्लेशवर्जिताः' इत्यादिना
तदारूढानां ब्रह्मसदृशानां लक्षणमुच्यते । महतो देवस्य स्व-
भूतं दिव्यमवाङ्मनसगोचरं स्वभावं पदं संप्राप्य तत्संवन्धिना
ज्ञानयोगेनाधिगम्य मुक्तात्मान एव भवन्ति 'समस्तक्लेशवर्जिताः'
अस्तं विनाशः, क्लेशा अविद्यादयः, सम्यक् तद्वर्जिता भवन्ति ।
अनेन मुक्तात्मनां हेयगुणराहित्यमुक्तम् । अतः कल्याणगुणसा-
हित्यमुच्यते—शिवत्वं हि ते संपन्नाः 'सर्वज्ञाः' ज्ञानावरणस्य
मलस्य विनाशात् सर्वज्ञा भवन्ति । सर्वगतज्ञानशक्तयश्च 'सर्वगाः'
भवन्ति । उक्तं हि 'प्रदीपवदावेशः'^३ इति । शुद्धाश्च ते मला-
पायेन प्रादुर्भूतशिवभावाः शुद्धाकाशरूपाः प्रज्ञानधना इति ।
उक्तं हि 'पूर्वभावादविरोधं वादरायणः'^४ इति स्वयंप्रकाशत्वं
सत्यसंकल्पत्वादिवैशिष्ट्यं च । 'परिपूर्णा भवन्ति' नित्यतृप्ताश्च
ते भवन्ति, निरतिशयानन्दस्वरूपत्वात्, अवाप्तसकलकाम-
त्वाच्च । निर्विकारनिरतिशयानन्दानुभवितृत्वं हि तेषां स्वभावः ।
उक्तं हि 'विकारावर्ति'^५ इति । अतस्ते परिपूर्णा 'विशुद्धकार्य-
करणाः' विकारास्पृष्टशरीरेन्द्रियाः । 'एकधा भवति'^६ इति मुक्त-
स्य स्वेच्छया बहुशरीरग्रहणमुक्तम् । अतो मुक्तानामैच्छिकं
शरीरादिकं विशुद्धमेव, महामायानिष्पन्नत्वात् । विशुद्धत्वं
नामाश्रयविकाराहेतुत्वम् । 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'^७

^१कठ. ३-९.^२छा. ८-१५-१.^३ब्र. सू. ४-४-१५.^४ब्र. सू. ४-४-७.^५ब्र. सू. ४-४-१९.^६छा. ७-२६-२.^७बृ. ४-५-१९.

इतीश्वरस्यापि महामायाशक्तिभिर्नीलकण्ठत्वादिलक्षणबुशरीरपरिग्रहणं श्रूयते । 'स्थिरोभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रः' इति परमेश्वरपरिगृहीतानां शरीराणामप्राकृतानां विशुद्धविद्यामयानां स्थिरत्वमाह मन्त्रभागः । यथा परमेश्वरो विशुद्धबहुशरीरपरिग्रहः तथा मुक्ता अपि । 'परमैश्वर्यसंयुताः' परमविभूतिसंयुक्ताः स्वाधीनप्रवृत्तयः परप्रेष्यताकार्पण्यरहिताः । उक्तं हि—'अत एव चानन्याधिपतिः'^१ इति मुक्तस्य कर्माद्यवश्यतया परमस्वातन्त्र्यम् । अतः स्वतन्त्राः परमैश्वर्यसंयुक्ताः । 'सदेहाश्च विदेहाश्च भवन्त्यात्मेच्छया पुनः' ते शिवपदाधिरूढा ईश्वरसंकल्पं विना कदाचित् परिगृहीतविशुद्धशरीरेन्द्रियोपभोगा भवन्ति, कदाचिद्विगतदेहेन्द्रियादयः केवलेन स्वाभाविकेन मनसाऽनुभूयमानसकलकामा भवन्ति । तथा हि निरूपितम्—'स एकधा भवति त्रिधा भवति'^२ 'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते'^३ इत्यादिश्रुत्यनुसारेण 'द्वादशाहबहुभयविधम्'^४ इति । अतस्ते सदेहा विदेहाश्च भवन्ति । श्रूयते च—'विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमो नमः'^५ इति शिवसाधर्म्यभाजां विनतरूपत्वं बहुरूपत्वं च । शरीरपरिग्रहे द्वादशानीश्वरस्य शरीराणि नीलकण्ठत्वादिलक्षणानि तादृशानि तत्सादृश्यभाजामिति । केचित् 'नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः'^६ इत्यादिश्रवणादिति । एवं ज्ञाने वेदान्तजन्ये योगे यमादिरूपे परमेश्वरविषये ये निरता निष्णातास्तादृशं पदं परमशिवस्य प्राप्तास्तेषां पूर्वोक्तगुणानां शिवसदृशानां 'घोरे' निरातिशयतापरूपत्वात् दुस्सहे 'संसारमण्डले न पुनरावृत्तिः' न पुनः संसारधर्मान्वय इति । तस्मात् 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते'^७ इति श्रुतेः सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः स

^१ ऋ. २-३३-९.^२ ब्र. सू. ४-४-९.^३ छा. ७-२६-२.^४ छा. ८-१२-५.^५ ब्र. सू. ४-४-१२.^६ ते. सं ४-५-४.^७ तै. सं ४-५-११.^८ छा. ८-१५-१.



